अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष **संयोजक**
कुलपति **निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा**
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
1.प्रो0 अरविंद के जोशी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)
2.प्रो0 बी.मोहन कुमार, जी.बी.पंत कृषि व प्रोद्योगिको विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन

1- डा0 धर्मवीर महाजन
2- डॉ0 अफरोज इकबाल**,** समाजशास्त्र विभाग **,** राजकीय महाविद्यालय**,**डोईवाला**,**उत्तराखंड
3- डा0 बबित कुमार बिहान **,** समाजशास्त्र विभाग**,** जखोली राजकीय महाविद्यालय
4- डॉ0 संजय कुमार**,** समाजशास्त्र विभाग, दिगंबर पी.जी .कॉलेज**,**बुलंदशहर (उत्तर प्रदेश)
5- डा0 संजीव महाजन**,** समाजशास्त्र विभा**,** NAS P.G. College, Meerut

संपादन

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष- 2020

प्रकाशन– उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

सर्वाधिक सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी

MASO-502

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त- I

Sociological Theories- I

Block I	**Sociological Theories and Sociological Concept**	
Unit 1.	Meaning and Nature of Sociological Theories समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का अर्थ एवं प्रकृति	पृष्ठ–1-14
Unit 2.	Development of Sociological Thought समाजशास्त्रीय चिन्तन का विकास	पृष्ठ–15-27
Unit 3.	Beginning of Historical Sociology समाजशास्त्र का ऐतिहासिक प्रारम्भ	पृष्ठ–28-41
Block II	**August Comte**	
Unit 4	Beginning of Sociology as a Scientific Discipline एक वैज्ञानिक विषय के रुप में समाजशास्त्र का प्रारम्भ	पृष्ठ–42-56
Unit 5	Hierarchy of Sciences & Law of three stages विज्ञानों का संस्तरण एवं त्रि–स्तरीय नियम	पृष्ठ–57-73
Unit 6	Positivism प्रत्यक्षवाद	पृष्ठ–74-94
Block III	**Karl Marx**	
Unit 7.	Dialectical Materialism द्वंद्वात्मक भौतिकवाद	पृष्ठ–95-115
Unit 8	Modes of production: From primitive communism to Socialism उत्पादन की विधियां : आदिम साम्यवादी युग से समाजवादी युग तक	पृष्ठ–116-132
Unit 9	Class Conflict & Alienation वर्ग संघर्ष एवं अलगाव	पृष्ठ–133-156
Unit 10	Neo-Marxism Concept: Dharendorf & Coser नवमार्क्सवाद की अवधारणा : डेहरेनडार्फ एवं क्रोजर	पृष्ठ–157-170
Block IV	**Emile Durkheim**	
Unit 11	Social fact: Rule of Sociological Methods	पृष्ठ–171-187

	सामाजिक तथ्य : समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम	
Unit 12	Suicide & Society आत्महत्या और समाज	पृष्ठ–188-204
Unit 13	Social solidarity & Anomie सामाजिक सुदृढ़ता और नियमहीनता	पृष्ठ–205-224
Unit 14	Sociology of Collective Consciousness & representation समाजशास्त्र में सामूहिक चेतना और प्रतिनिधित्व	पृष्ठ–225-231
Unit 15	Religion & Classification धर्म और वर्गीकरण	पृष्ठ–232-259

इकाई 1 :समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का अर्थ एवं प्रकृति
Meaning & Nature of Sociological Theories

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
1.3 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रकृति
1.4 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण
1.5 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार
1.6 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का महत्त्व
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 अभ्यास प्रश्न
1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी प्रकृति, निर्माण, प्रमुख प्रकारों तथा महत्त्व को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की प्रकृति अथवा इसकी विशेषताओं की व्याख्या कर पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण समझ पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकारों की व्याख्या कर पाएँगे; तथा
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के महत्त्व को स्पष्टतया समझ पाएँगे।

1.1 प्रस्तावना

सिद्धान्त वैज्ञानिक अन्वेषण का महत्त्वपूर्ण चरण है। **गुड** तथा **हैट** (Goode and Hatt) ने इसे विज्ञान का एक उपकरण माना है क्योंकि इससे हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पता चलता है, तथ्यों को सुव्यवस्थित करने, वर्गीकृत करने तथा परस्पर सम्बन्धित करने के लिए इससे अवधारणात्मक प्रारूप प्राप्त होता है, इससे तथ्यों का सामान्यीकरण के रूप में संक्षिप्तीकरण होता है तथा इससे तथ्यों के बारे में भविष्यवाणी करने एवं ज्ञान में पाई जाने वाली त्रुटियों का पता चलता है। प्रत्येक विषय वैज्ञानिक शोध द्वारा अपनी विषय–वस्तु से सम्बन्धित तथ्यों को यथार्थ रूप में समझने का प्रयास करता है तथा इन तथ्यों को परस्पर सम्बन्धित करके सार्वभौमिक नियमों अथवा सिद्धान्तों का निर्माण करने का प्रयास करता है।

समाजशास्त्र भी इसमें कोई अपवाद नहीं है, यद्यपि **टी० बी० बॉटोमोर** (T. B. Bottomore) के अनुसार वर्तमान समय तक ऐसा कोई भी सामान्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विकसित नहीं हो पाया है जो मान्य अथवा व्यापक रूप से स्वीकृत हो। प्रारम्भ के समाजशास्त्रियों का यह दावा कि उन्होंने अनेक मूलभूत एवं सार्वभौमिक नियमों की खोज करने में सफलता प्राप्त कर ली थी, आज के समाजशास्त्री स्वीकार नहीं करते तथा यह तर्क देते हैं कि प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों के प्रयास वास्तव में अवधारणाओं के निर्माण एवं वर्गीकरण से ही मुख्यतः सम्बन्धित रहे हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का निर्माण आनुभविक तथ्यों के आधार पर किया जाता है। शोध से हमारे सामने जो तथ्य आते हैं उनके सामान्यीकरण के आधार पर ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। समाजशास्त्र में अभी तक अधिक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो पाया है।

1.2 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

सिद्धान्त से अभिप्राय अनुभाविक शोध द्वारा प्रमाणित प्रस्तावनाओं के क्रमबद्ध रूप के लिए किया जाता है। यह दो या अधिक चरों (Variables) के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों से बनता है जिसकी प्रामाणिकता की जाँच की जा सकती है। इसे हम अन्तर्सम्बन्धित तथ्यों का एक ढाँचा भी कह सकते हैं। यह एक ऐसा सामान्यीकरण है जिसे तथ्यों के बृहत् समूह के प्रामाणीकरण के बाद प्राप्त किया जाता है। सामान्यतः यह भी माना जाता है कि सिद्धान्त किसी घटना के सम्बन्ध में 'क्यों' तथा 'कैसे' सरीखे प्रश्नों का उत्तर देने का एक तरीका है। यदि सिद्धान्त समाज, सामाजिक जीवन, सामाजिक घटनाओं अथवा समाज के किसी अन्य पहलू के विषय में होते हैं, तो इन्हें समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कहा जाता है।

'सिद्धान्त' शब्द के अर्थ के बारे में सामान्यतः एक भ्रम पाया जाता है। इस भ्रम का कारण सिद्धान्त का शब्दकोशीय अर्थ है। इस अर्थ में सिद्धान्त से अभिप्राय 'व्यवहार के विपरीत' अथवा 'अव्यावहारिक' है। इसलिए बहुधा यह कहा जाता है कि जो सिद्धान्त में उपयुक्त होता है वह अनिवार्य रूप से व्यवहार में नहीं। समाजशास्त्र में सिद्धान्त शब्द का अर्थ व्यवहार के विपरीत कदापि नहीं है।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त समाज, सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक व्यवहार से सम्बन्धित तथ्यों की अन्तर्सम्बन्धित व्यवस्था है। समाजशास्त्रीय शोधों में तथ्यों को आनुभविक रूप से एकत्रित किया जाता है तथा फिर एक ही पहलू (या विषय) से सम्बन्धित अनेक तथ्यों को मिलाकर (अर्थात् परस्पर सम्बन्धित कर) सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। समाजशास्त्र का एक भाग श्रेणियों में क्रमबद्ध ढाँचे के इसी वर्णन से मिलकर बना है, जिसमें केवल साधारण सिद्धान्त–निरूपण ही महत्त्वपूर्ण होता है। सिद्धान्त वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित एक ऐसा मान्य सामान्यीकरण होता है जो सामाजिक यथार्थता की व्याख्या करने में सक्षम होता है। प्रमुख विद्वानों ने इसकी परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं–

फेयरचाइल्ड (Fairchild) ने 'डिक्शनरी ऑफ सोशियोलोजी' (Dictionary of Sociology) में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की परिभाषा इन शब्दों में दी है–''सामाजिक घटना के बारे में ऐसा सामान्यीकरण जो पर्याप्त रूप में वैज्ञानिकतापूर्वक स्थापित हो चुका है तथा समाजशास्त्रीय व्यवस्था के लिए आधार बन सकता है।'' **मर्टन** (Merton) के अनुसार–''आज जिसे समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कहा जाता है, उसके अन्तर्गत आँकड़ों के प्रति सामान्य उन्मेष सम्मिलित है जिन पर किसी–न–किसी प्रकार से सोच–विचार करने की आवश्यकता पड़ती है। इसके अन्तर्गत स्पष्ट तथा विशिष्ट चरों के बीच प्रमाण–योग्य प्रस्तावनाओं की गणना नहीं की जाती।'' उनका कहना है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रयोग व्यापक रूप से

व्यावसायिक समाजशास्त्रियों के समूह के सदस्यों की विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की व्याख्या के लिए भी किया जाता है।

एबल (Abel) के अनुसार–''.....सिद्धान्त नियमों की व्याख्या करने के लिए निर्मित अवधारणात्मक योजनाएँ हैं। सभी सिद्धान्तों का सामान्य कार्य अवलोकित नियमितताओं की व्याख्या करना है।'' **कैम्पबैल** (Campbell) के अनुसार–''एक उपयोगी सिद्धान्त में दो गुण होते हैं। यह ऐसा होना चाहिए कि इससे नियमों का पूर्वानुमान लगाया जा सके तथा यह इन नियमों की व्याख्या कुछ ऐसी उपमाओं द्वारा कर सके जो ऐसे नियमों पर आधारित हैं जो व्याख्या किए जा रहे नियमों से अधिक सामान्य हैं।'' उन्होंने समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में व्याख्यात्मक अवधारणाओं, नियमों तथा समाज के सभी पक्षों में सामान्य रूप से उपयोगी सिद्धान्तों से सम्बन्धित समाजशास्त्रीय ज्ञान को सम्मिलित किया है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सामाजिक तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरण ही है। यह समाज, सामाजिक जीवन व व्यवहार और सामाजिक घटनाओं से सम्बन्धित तथ्यों की वह बौद्धिक व्यवस्था है जिनसे इनकी यथार्थता का ज्ञान होता है।

1.3 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रकृति

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी प्रकृति का भी स्पष्ट रूप से पता चल जाता है। इसकी प्रकृति को स्पष्ट करने वाली कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) वैज्ञानिक आधार–अन्य सिद्धान्तों की तरह समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माणक तत्त्व भी सामाजिक तथ्य होते हैं। इसीलिए इनका वैज्ञानिक आधार होता है। ये वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राप्त तथ्यों पर ही आधारित होते हैं। वैज्ञानिक आधार के कारण ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा आनुभविक समानताओं को ज्ञात किया जा सकता है।

(2) तार्किक–समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आनुभविक तथ्यों की एक तार्किक या बौद्धिक व्यवस्था है। जब एक ही विषय से सम्बन्धित विभिन्न तथ्य संकलित कर लिए जाते हैं तो उनको तार्किक रूप में परस्पर सम्बन्धित करके सिद्धान्त का निर्माण किया जाता है।

(3) अमूर्त–अन्य सिद्धान्तों की तरह समाजशास्त्रीय सिद्धान्त भी अमूर्त होते हैं। इनमें प्रयुक्त अवधारणाएँ सुस्पष्ट होती हैं तथा प्रस्तावनाएँ परस्पर सम्बन्धित होती हैं।

(4) अनुभवसिद्ध–समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सामाजिक शोध का आधार हैं जिससे उपकल्पनाओं का परीक्षण एवं निरीक्षण किया जाता है।

(5) यथार्थता की व्याख्या के साधन–समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का उद्देश्य समाज, सामाजिक जीवन एवं सामाजिक घटनाओं को समझकर इनकी व्याख्या करना है। अतः ये साधन हैं, साध्य नहीं।

(6) सामान्य प्रकृति–समाजशास्त्रीय सिद्धान्त समाज, सामाजिक जीवन व व्यवहार तथा सामाजिक घटनाओं के बारे में सामान्यीकरण होते हैं जो सामाजिक तथ्यों द्वारा निर्मित होते हैं। इसीलिए ये सामान्य प्रकृति के होते हैं।

(7) सार्वभौमिक–समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सार्वभौमिक प्रकृति के होते हैं अर्थात् उन पर स्थान एवं काल का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। उदाहरणार्थ–**कार्ल मार्क्स** का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त एक सार्वभौमिक सिद्धान्त कहा जाता है।

(8) मूल्यों की दृष्टि से तटस्थ–समाजशास्त्रीय सिद्धान्त मूल्यों से मुक्त होते हैं क्योंकि ये अच्छे या बुरे का वर्णन नहीं करते। इनका उद्देश्य तो मात्र सामाजिक यथार्थता को समझना एवं इसकी व्याख्या करना है।

टी० बी० बॉटोमोर तथा **रोबर्ट के० मर्टन** के विचारानुसार समाजशास्त्र में सिद्धान्तों का काफी अभाव है तथा यह विषय अधिकांशतः आनुभविक सामान्यीकरण से आगे नहीं बढ़ पाया है। इन्हीं सामान्यीकरणों का अधिक व्यापक रूप से परीक्षण करके सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सकता है। **मोरिस जिन्सबर्ग** (Morris Ginsberg) के अनुसार समाजशास्त्र में छह प्रकार के सामान्यीकरण मुख्यतः पाए जाते हैं। ये हैं–

(1) मूर्त सामाजिक घटनाओं के मध्य आनुभविक सहसम्बन्ध (उदाहरणार्थ नगरीय जीवन एवं तलाक की दर),

(2) जिन दशाओं में सामाजिक संस्थाओं का विकास होता है, उनका निरूपण करने वाले सामान्यीकरण (यथा पूँजीवाद की उत्पत्ति के विभिन्न कारण),

(3) वे सामान्यीकरण, जिसका यह दृढ़ कथन है कि निर्दिष्ट संस्थाओं में परिवर्तनों का दूसरी संस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों से नियमित सम्बन्ध हैं (यथा मार्क्स के सिद्धान्तों में वर्ग संरचना में परिवर्तन तथा अन्य सामाजिक परिवर्तनों के मध्य सम्बन्ध),

(4) विभिन्न प्रकार के तालबद्ध पुनः आवर्तनों अथवा अवस्था क्रमों को महत्त्व देने वाले सामान्यीकरण (यथा आर्थिक विकास की अवस्थाओं को भिन्न करने के प्रयास),

(5) सम्पूर्ण मानवता के विकास में मुख्य प्रवृत्तियों का वर्णन करने वाले सामान्यीकरण (यथा विभिन्न विद्वानों के सामाजिक विकास के सिद्धान्त) तथा

(6) मानव व्यवहार सम्बन्धी मान्यताओं में निहितार्थों का कथन करने वाले नियम (यथा आर्थिक सिद्धान्त में कुछ नियम)।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में हैं तथा इनमें सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है। **जिन्सबर्ग** द्वारा बताए गए दूसरे चौथे तथा पाँचवें प्रकार के सामान्यीकरण वास्तव में सैद्धान्तिक सामान्यीकरण नहीं हैं। अतः **टी० बी० बॉटोमोर** ने उचित ही कहा है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को स्थापित आनुभविक सहसम्बन्धों से विस्तृत सामान्यीकरणों के निर्माण की ओर उन्मुख होना चाहिए। इस प्रकार के प्रयासों द्वारा समाजशास्त्र संचयी सैद्धान्तिक निर्माण के अधिक नजदीक आ जाएगा जो अन्य विज्ञानों की विशेषता है।

1.4 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण

समाजशास्त्र में सिद्धान्तों के निर्माण के प्रयास कब प्रारम्भ हुए यह एक वाद–विवाद का विषय है। समाजशास्त्रीय चिन्तन (सामाजिक पहलुओं के बारे में सोच–विचार) के रूप में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं उसकी सभ्यता का। इस सन्दर्भ में **कोजर** एवं **रोजनबर्ग** (Coser and Rosenberg) का कहना है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त उतने ही प्राचीन हैं जितनी कि स्वयं मानव सभ्यता, क्योंकि अत्यन्त प्राचीनकाल में भी दार्शनिकों ने सभ्यता एवं साहित्य का विकास करने के लिए विधिवत् रूप से विचारों को प्रस्तुत किया। प्लेटो, अरस्तू, रूसो, लॉक इत्यादि विद्वानों के विचारों का उल्लेख सिद्धान्तों के सन्दर्भ में ही किया जाता है।

परन्तु यदि हम समाजशास्त्र विषय के एक संस्थागत विषय के रूप में इतिहास पर दृष्टि डालें तो उपर्युक्त विचारधारा उचित प्रतीत नहीं होती है। इस सन्दर्भ में **बॉटोमोर** के विचार ही उचित प्रतीत होते हैं कि जब आज तक सार्वभौमिक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो पाया है, तो प्रारम्भिक दार्शनिकों के विचार सिद्धान्त हैं, यह कहना उचित नहीं होगा। इन विचारों में सिद्धान्तों का कोई गुण नहीं पाया जाता। परन्तु इन विचारों से बाद में सिद्धान्त निर्माण के प्रयासों की एक सुदृढ़ आधारशिला जरूर विकसित हुई।

थियोडोर एबल (Theodore Abel) के अनुसार समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की आधारशिला 1895 ई० से l920 ई० की अवधि में रखी गई जबकि **दुर्खीम** (Durkheim), **सिमेल** (Simmel), **कूले** (Cooley) तथा **वेबर** (Weber) जैसे विद्वानों ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए एक नवीन दृष्टिकोण विकसित किया। प्रारम्भ से ही समाजशास्त्रियों द्वारा अध्ययन निम्न दो प्रमुख बिन्दुओं पर केन्द्रित रहे हैं–

(1) समग्र के रूप में समाजों के अध्ययन में रुचि (समन्वयात्मक दृष्टिकोण) तथा

(2) अस्तित्व के लिए संघर्षरत समाज के अध्ययन में रुचि (निदानात्मक दृष्टिकोण)।

प्रथम दृष्टिकोण द्वारा समाज को समग्र के रूप में, जिसमें वहाँ रहने वाले व्यक्तियों का सम्पूर्ण जीवन सम्मिलित है, समझने के प्रयास शुरू हुए, तथा संगठन एवं संस्थाओं के परस्पर सम्बन्धों के सामान्य लक्षणों की खोज शुरू हुई। इससे समाजों में तुलनात्मक एवं उद्विकासवादी अध्ययन भी शुरू हुए। इसी रुचि के कारण **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) द्वारा समाजशास्त्र की परिभाषा 'सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक प्रगति' (Social order and Progress) के रूप में तथा **फ्रेंज ओपनहीमर** (Franz Oppenheimer) द्वारा ''सामाजिक क्रियाओं'' के अध्ययन के रूप में दी गई। अतः समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण का प्रथम प्रयास सामाजिक जीवन को समझना व बौद्धिक व्यवस्था (Rational order) की खोज करना रहा है तथा समाज की उत्पत्ति, इसकी निरन्तरता तथा मानवीय समाज की मंजिल से सम्बन्धित सामान्य नियमों का निर्माण करना रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी में, द्वितीय दृष्टिकोण द्वारा अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे समाज को समझने का प्रयास किया गया तथा इसके लिए सामूहिक व्यवहार को प्रभावित करने वाली समस्याओं को निदानात्मक (Clinical) दृष्टिकोण द्वारा समझने का प्रयास किया गया। इसमें अन्वेषणों के केन्द्रबिन्दु सामाजिक कल्याण को प्रभावित करने वाले पर्यावरण के पक्षों तक ही सीमित थे तथा व्यक्तियों के कल्याण में वृद्धि के लिए उपाय खोजना इन अन्वेषणों एवं अध्ययनों का मुख्य उद्देश्य था। इसी दृष्टिकोण के विकास के कारण समाजशास्त्र के अनेक उपक्षेत्रों (यथा परिवार, अपराध, बाल अपराध, नगरीय जीवन आदि) के विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ हुए।

समाजशास्त्र के जन्मदाताओं ने समाजशास्त्र को एक शास्त्रीय विषय (Academic subject) के रूप में विकसित किया तथा **कॉम्ट** (Comte), **वार्ड** (Ward), **स्पेन्सर** (Spencer) एवं **स्माल** (Small) जैसे प्रारम्भिक विद्वानों का यह मत था कि उनके समाजशास्त्रीय अध्ययन समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रति योगदान ही हैं। परन्तु आने वाली पीढ़ियों ने इन अध्ययनों को चुनौती देनी शुरू कर दी तथा इनके सामान्यीकरण एवं वैज्ञानिक प्रमाणीकरण को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। बाद में, इन विद्वानों का यह मत था कि नवीन विषय का निर्माण करने के लिए केवल समन्वयात्मक एवं निदानात्मक अध्ययन ही पर्याप्त नहीं हैं यद्यपि इनसे नवीन अन्तर्दृष्टि एवं ज्ञान प्राप्त होता है, फिर भी यह अध्ययन सिद्धान्त के व्यवस्थित ढाँचे का निर्माण करने में सहायक नहीं हैं। अतः एक नवीन उपागम को विकसित किया गया जिसे 'विश्लेषणात्मक उपागम' कहा जाता है तथा जो सिद्धान्त के निर्माण के अन्य दोनों दृष्टिकोणों से कहीं अधिक उपयोगी है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण में तीन उपागमों का विकास एक प्रमुख घटना मानी जा सकती है। ये उपागम निम्न प्रकार हैं–

(1) समन्वयात्मक उपागम (Synthetic),

(2) निदानात्मक उपागम (Clinical) तथा

(3) विश्लेषणात्मक उपागम (Analytical approach)।

दुर्खीम (Durkheim), **रैडक्लिफ–ब्राउन** (Radcliffe-Brown) तथा अनेक अन्य समाजशास्त्रियों का यह कथन है कि सहज रूप से ही यह स्वीकार कर लिया गया है कि सामाजिक विज्ञान सामान्यीकरण करने वाले विज्ञान हैं, जिनका उद्देश्य प्राकृतिक विज्ञानों की तरह सैद्धान्तिक व्यवस्था की स्थापना करना है; यद्यपि वे अभी भी विकास की निम्न अवस्था में हैं। परन्तु **डिल्थे** (Dilthey) तथा अनेक अन्य विद्वान् प्रथम विचारधारा के विपरीत, यह तर्क देते हैं कि सामाजिक विज्ञानों की प्रकृति ही ऐसी है कि इनमें प्राकृतिक विज्ञानों की तरह नियम नहीं बनाए जा सकते। सामाजिक विज्ञानों के वैज्ञानिक स्वभाव के प्रति एक सबल तर्क यह दिया जाता है कि उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानों से मिलती जुलती कोई चीज पैदा नहीं की है।

सामाजिक विज्ञानों की प्रकृति के कारण ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आज भी अपने उच्चतर स्तर तक नहीं पहुँच पाए हैं तथा अभी तक अपने आनुभविक सामान्यीकरण के स्तर पर ही हैं। इनके निर्माण में अनेक प्रकार की बाधाएँ हैं जिनमें सामाजिक घटनाओं की प्रकृति सबसे प्रमुख बाधा है। इसके निर्माण में आने वाली प्रमुख बाधाएँ निम्नवर्णित हैं–

(1) वर्णनात्मक प्रकृति–अभी तक अनेक समाजशास्त्रीय अन्वेषणों एवं अध्ययनों की प्रकृति वर्णनात्मक है अर्थात् इनका उद्देश्य किसी नियम की खोज न करके केवल घटना का वर्णन मात्र करना है। इन वर्णनात्मक अध्ययनों के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया जा सकता है।

(2) उत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी अध्ययनों में अप्रमाणित तथ्यों का प्रयोग–समाजशास्त्र एक ऐतिहासिक विषय है क्योंकि इसमें सामाजिक घटनाओं एवं संस्थाओं की उत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन किया जाता है। इन उत्पत्ति व विकास सम्बन्धी अध्ययनों के लिए समाजशास्त्रियों को भूतकालीन तथ्यों पर आधारित होना पड़ता है। भूतकालीन या ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिकता की जाँच करना कठिन है तथा यदि उपयुक्त प्रमाण व सूत्र नहीं मिल पाते हैं तो 'ऐतिहासिक पुर्निनर्माण' (Historical reconstruction) अर्थात् काल्पनिक तथ्यों का सहारा लिया जाता है। इस प्रकार के तथ्यों पर आधारित अध्ययन कभी भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण में सहायक नहीं हो सकते हैं।

(3) सार्वभौमिक सिद्धान्तों का अभाव–समाजशास्त्रीय वर्गीकरण के क्षेत्र में भी अभी तक कोई सर्वमान्य एवं व्यापक सिद्धान्त नहीं बनाए जा सके हैं क्योंकि अवधारणाओं का प्रयोग स्पष्ट शब्दों में नहीं किया गया है और न ही अवधारणा के वर्णन व व्याख्याएँ एक–दूसरे से सुदृढ़ता से सम्बद्ध की गई हैं।

(4) व्याख्यात्मक सिद्धान्तों का निर्माण कठिन–समाजशास्त्रीय घटनाओं, व्यवहार व धारणाओं की जटिलता के कारण, इनके बारे में कार्य–कारण सम्बन्धों की खोज करना तथा व्याख्यात्मक सिद्धान्त बनाना एक कठिन कार्य है।

1.5 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कितने प्रकार के हैं, इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि यदि हम यह मान लें कि समाजशास्त्र में अभी तक परिपक्व सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हुआ है,

तो इनके वर्गीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता है। फिर भी, जिन्हें हम आज समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कहते हैं, उनका वर्गीकरण विविध प्रकार से किया गया है। कुछ प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं–

(अ) वाल्टर वैलेस (Walter Wallace) ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को ग्यारह श्रेणियों में विभाजित किया है–

(1) सामाजिक क्रियावाद–इनमें सामाजिक अन्तर्क्रियाओं से सम्बन्धित सिद्धान्तों (यथा वेबर व पारसन्स के सिद्धान्त) को सम्मिलित किया जाता है। **कूले** एवं **मीड** ने भी सामाजिक अन्तर्क्रियाओं के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण करने का प्रयास किया है।

(2) प्रकार्यात्मक अनिवार्यवाद–ये सिद्धान्त समग्रता की इकाइयों की प्रकार्यात्मक सम्बन्धों एवं अनिवार्यताओं को व्यक्त करते हैं (यथा **मर्टन** व **पारसन्स** के सिद्धान्त)।

(3) पारिस्थितिवाद–इसमें मानवीय पारिस्थितिकी से सम्बन्धित सिद्धान्तों (यथा **लीप्ले** व **मूर** आदि के सिद्धान्त) को सम्मिलित किया जाता है। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे सिद्धान्तों में मानव तथा उसके गैर–मानवीय पर्यावरणों के बीच आन्तरिक सम्बन्धों की व्याख्या करने का प्रयास किया जाता है।

(4) भौतिकवाद–इनमें भौतिक आधार पर सामाजिक जीवन की व्याख्या (यथा **मार्क्स** का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त) देने का प्रयास किया जाता है।

(5) जनांकिकीवाद–इनमें जनसंख्या व मानव पर्यावरण के बीच सम्बन्धों की स्थापना (यथा **माल्थस** तथा **सैडलर** का सिद्धान्त) की जाती है।

(6) प्रौद्योगिकवाद–इनमें प्रौद्योगिकी का मानवीय जीवन पर प्रभाव की व्याख्या (यथा **मार्क्स, वेब्लन** व **ऑगबर्न** का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त) करने का प्रयास किया जाता है।

(7) मनोवैज्ञानिकवाद–इनमें मानवीय व्यवहार की मनोवैज्ञानिक आधार पर व्याख्या (यथा **कूले** का समाजीकरण का सिद्धान्त) देने का प्रयास किया जाता है। **टार्ड** के 'अनुकरण के सिद्धान्त' को भी इसी श्रेणी में रखा जाता है।

(8) संघर्ष संरचनात्मकवाद–इनमें सामाजिक संरचना के तत्त्वों में संघर्ष की व्याख्या (**मार्क्स** का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त) देने का प्रयास किया जाता है। ऐसे सिद्धान्तों की यह मान्यता है कि सामाजिक जीवन में पाया जाने वाला संघर्ष सामाजिक संरचना का मूल तत्त्व होता है।

(9) प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावाद–इनमें सामाजिक अन्तर्क्रियाओं को वस्तुनिष्ठ आधार पर समझने का प्रयास (यथा **कूले, मीड** व **थॉमस** के सिद्धान्त) किया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसे सिद्धान्त व्यक्तिनिष्ठ व्यवहार की विवेचना से सम्बन्धित होते हैं।

(10) विनिमय संरचनात्मक–इनमें सामाजिक जीवन में भाग लेने वाली इकाइयों के विनिमय के कारण सरंचना के निर्माण पर बल दिया जाता है (यथा **वेबर** का संगठन का सिद्धान्त) तथा

(11) प्रकार्यात्मक–संरचनात्मकवाद–इनमें संरचना व प्रकार्यों के अध्ययनों पर बल (यथा **मर्टन** का सिद्धान्त) दिया जाता है।

(ब) डॉन मार्टिण्डेल (Don Martindale) ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को मुख्यतः निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में विभाजित किया है–

(1) समाजशास्त्रीय प्रकार्यवाद–यह समाज के निर्माणक तत्त्वों (अंगों या इकाइयों) के प्रकार्यों की विवेचना से सम्बन्धित हैं (यथा **स्पेन्सर, दुर्खीम, मैलिनोव्स्की, रैडक्लिफ–ब्राउन, मर्टन** व **पारसन्स** के सिद्धान्त)।

(2) संघर्ष सिद्धान्त–यह मानव जीवन व समाज में पाए जाने वाले संघर्ष की व्याख्या से सम्बन्धित हैं (यथा **हॉब्स, ह्यूम, मार्क्स, ओपनहीमर, स्माल** आदि के सिद्धान्त)।

(3) प्रत्यक्षात्मक सावयववाद–यह समाज की व्याख्या एक सावयव के रूप में करता है (यथा कॉम्ट, स्पेन्सर, वार्ड, टॉनीज, पेरेटो के सिद्धान्त)।

(4) सामाजिक व्यवहारवाद–यह सामाजिक व्यवहार की व्याख्या से सम्बन्धित है (यथा **गिडिंग्स, रॉस, मीड, कूले, पारसन्स** इत्यादि के सिद्धान्त) तथा

(5) स्वरूपात्मक सिद्धान्त–यह सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों से सम्बन्धित हैं (यथा वीरकान्त, लीप्ले, मैक्स वेबर इत्यादि के सिद्धान्त)

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को उनके कार्य–क्षेत्र के आधार पर, आजकल अधिकांश विद्वान् निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं–

(1) प्रतिष्ठित या बृहत् सिद्धान्त (Grand or macro theories),

(2) मध्य–सीमा सिद्धान्त (Middle range theories) तथा

(3) सूक्ष्म सिद्धान्त (Micro theories)।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के सिद्धान्तों को उनके अध्ययन–क्षेत्र एवं कार्य–क्षेत्र के आधार पर विभाजित किया जाता है। बृहत् सिद्धान्त बृहत् अध्ययनों पर आधारित होते हैं, सूक्ष्य सिद्धान्त सूक्ष्म अध्ययनों पर आधारित होते हैं, जबकि मध्य–सीमा सिद्धान्त इन दोनों प्रकार के अध्ययनों के बीच की श्रेणी पर आधारित होते हैं। साथ ही, बृहत् अध्ययनों का दृष्टिकोण विस्तृत, सूक्ष्म अध्ययनों का सूक्ष्म तथा मध्य–श्रेणी के अध्ययनों का समन्वित दृष्टिकोण होता है।

प्रतिष्ठित या बृहत् सिद्धान्त बृहत् समस्याओं का विस्तृत अध्ययन कर बनाए जाते हैं तथा इनमें अधिक सार्वभौमिकता पाई जाती है। इसके विपरीत, सूक्ष्म सिद्धान्त लघु स्तर पर किए गए आनुभविक अध्ययनों पर आधारित होते हैं तथा इनमें सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है। इन दोनों में अन्तर को स्पष्ट करते हुए **डॉन मार्टिण्डेल** ने लिखा है, ''इन दोनों में भेद पूर्णतया इस आधार पर किया जाता है कि एक शोधकर्ता अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए अध्ययन विषय के रूप में जिस इकाई को चुनता है, उसका आकार क्या है।''

यदि बृहत् एवं सूक्ष्म दृष्टिकोणों में से किसी को भी न अपना कर दोनों के समन्वित दृष्टिकोण द्वारा अध्ययन किया जाता है, तो इस प्रकार के अध्ययन के आधार पर निर्मित सिद्धान्त मध्य–सीमा सिद्धान्त कहे जाते हैं। इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन का श्रेय अमेरिकी समाजशास्त्री **रोबर्ट के० मर्टन** (Robert K. Merton) को दिया जाता है। मर्टन के शब्दों में, ''मध्य–सीमा सिद्धान्त वे सिद्धान्त हैं जो कि एक ओर दिन प्रतिदिन के शोध में प्रचुर–मात्रा में प्रकट होने वाली लघु परन्तु कार्यवाहक उपकल्पनाओं एवं दूसरी ओर सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संगठन व सामाजिक परिवर्तन में समस्त अवलोकित समानताओं की व्याख्या करने वाले एक समन्वित सिद्धान्त को विकसित करने हेतु व्यवस्थित प्रयासों के बीच में स्थित होते हैं।'' मर्टन के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्य–सीमा के सिद्धान्त बृहत् सिद्धान्तों एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों के बीच की श्रेणी हैं।

होमन्स (Homans) ने सामान्य सिद्धान्तों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है–

(1) आदर्शात्मक (Normative) तथा

(2) गैर–आदर्शात्मक (Non-normative)।

आदर्शात्मक सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करते हैं कि व्यक्तियों को लक्ष्य प्राप्ति हेतु किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। गैर–आदर्शात्मक सिद्धान्त व्यक्तियों के वास्तविक व्यवहार की व्याख्या पर बल देते हैं।

वागनर (Wagner) ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है–

(1) प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Positive sociological theories),

(2) व्याख्यात्मक समाजशास्त्र (Interpretative sociology) तथा

(3) अवैज्ञानिक या मूल्यांकन सामाजिक सिद्धान्त (Non-scientific or evaluative theories)।

प्रत्यक्षवादी सिद्धान्तों के समर्थक समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान के समान मानते हैं। नव–प्रत्यक्षवादी, संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक व सामाजिक व्यवहारवाद जैसे सिद्धान्त इस श्रेणी के उदाहरण हैं। व्याख्यात्मक सिद्धान्तों के समर्थक समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान के विपरीत एक सामाजिक विज्ञान मानते हैं। सांस्कृतिक व्याख्या, क्रिया व अन्तर्क्रिया का व्याख्यात्मक समाजशास्त्र, सामाजिक प्रघटनाशास्त्र आदि इस श्रेणी के उदाहरण हैं। अवैज्ञानिक या मूल्यांकन सामाजिक सिद्धान्तों के समर्थक समाजशास्त्र को न तो प्रत्यक्ष विज्ञान मानते हैं और न ही व्याख्यात्मक विज्ञान। सामाजिक–दार्शनिक सिद्धान्त, वैचारिक–सामाजिक सिद्धान्त तथा मानवीय सुधार सिद्धान्त इस श्रेणी के उदाहरण हैं।

1.6 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का महत्त्व

समाजशास्त्र में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। **अब्राहम** (Abraham) ने हमारा ध्यान समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के निम्नलिखित आठ प्रकार्यों की ओर दिलवाने का प्रयास किया है–

(1) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सम्भावित समस्याओं एवं अर्थपूर्ण उपकल्पनाओं की ओर संकेत करते हैं जो नवीन अन्वेषणों अथवा अध्ययनों का आधार बनती हैं।

(2) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त तथ्यों के बारे में पूर्वानुमान लगाने में सहायता देते हैं। एक अर्थपूर्ण सिद्धान्त अन्तर्दर्शी ज्ञान, ऐतिहासिक विश्लेषण तथा सामाजिक समरूपताओं के अवलोकन पर आधारित होने के कारण पूर्वानुमान हेतु एक ठोस आधारशिला प्रस्तुत करता है।

(3) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विषय–वस्तु एवं तथ्यों के सम्बन्धों को क्रमबद्ध बनाते हैं तथा सरल अवधारणात्मक योजना प्रदान करते हैं।

(4) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विशिष्ट आनुभविक निष्कर्षों तथा समाजशास्त्रीय उन्मुखीकरणों अथवा दिग्विन्यासों (Sociological orientations) के बीच कड़ी प्रदान करते हैं तथा इससे शोध की सार्थकता बढ़ जाती है।

(5) अर्थ प्रदान करके समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सत्यता को अनुप्रमाणित भी करते हैं।

(6) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त शोध को निर्देशित करते हैं तथा अध्ययन किए जाने वाले तथ्यों की श्रेणी को परिसीमित भी करते हैं।

(7) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अन्वेषण के उपकरण भी हैं। वे शोध प्ररचना के निर्माण में सहायता प्रदान करते हैं।

(8) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त हमारे ज्ञान में त्रुटियाँ बताते हैं तथा इन्हें पूरा करने में सहायता प्रदान करते हैं।

1.7 सारांश

प्रत्येक विषय की भाँति समाजशास्त्र में भी सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है तथा सामाजिक यथार्थता से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त विद्यमान हैं। सिद्धान्त को नियमों की व्याख्या करने हेतु निर्मित अवधारणात्मक ढाँचा माना जाता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सामाजिक तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरण होते हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रकृति वैज्ञानिक होती है। प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों ने अनेक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। यद्यपि अनेक विद्वान् समाजशास्त्र में सार्वभौम सिद्धान्तों का निर्माण करना एक कठिन कार्य मानते हैं, तथापि इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज समाजशास्त्र में अनेक सिद्धान्त विद्यमान हैं जिनके आधार पर सामाजिक घटनाओं, सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक सम्बन्धों की सटीक व्याख्या की जा सकती है। विद्वानों ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है। अधिकांशतः इन्हें बृहत् सिद्धान्त (बड़े पैमाने पर किए गए अध्ययनों पर आधारित), सूक्ष्म सिद्धान्त (लघु पैमाने पर किए गए अध्ययनों पर आधारित) तथा मध्य–सीमा सिद्धान्त (बृहत् एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों का मिश्रित रूप) में विभाजित करते हैं। मध्य–सीमा सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का श्रेय सुप्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री रोबर्ट के० मर्टन को दिया जाता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आनुभविक शोध को निर्देशित करने में तथा सामाजिक यथार्थता के बारे में विद्यमान ज्ञान में पाई जाने वाली त्रुटियों का पता लगाने में सहायता प्रदान करते हैं।

1.8 शब्दावली

सिद्धान्त – प्रामाणिक तथ्यों के क्रमबद्ध ढाँचे को सिद्धान्त कहा जाता है। यह एक ऐसा सामान्यीकरण है जो तथ्यों एवं चरों में पाए जाने वाले सम्बन्धों को दर्शाता है।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त – समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सामाजिक तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरण ही है। यह समाज, सामाजिक जीवन व व्यवहार और सामाजिक घटनाओं से सम्बन्धित तथ्यों की वह बौद्धिक व्यवस्था है जिनसे इनकी यथार्थता का ज्ञान होता है।

बृहत् सिद्धान्त – बड़े पैमाने पर किए गए आनुभविक अध्ययनों के आधार पर निर्मित सिद्धान्त बृहत् सिद्धान्त कहे जाते हैं। ऐसे सिद्धान्त सामान्यीकरण में अधिक सहायक होते हैं।

सूक्ष्म सिद्धान्त – सूक्ष्म अध्ययन पर आधारित सिद्धान्त सूक्ष्म सिद्धान्त कहलाते हैं। इन सिद्धान्तों की सामान्यीकरण की क्षमता सीमित होती है।

मध्य–सीमा सिद्धान्त – बृहत् एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों के समन्वित दृष्टिकोण को मध्य–सीमा सिद्धान्त कहा जाता है।

1.9 अभ्यास प्रश्न

1. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त किसे कहते हैं? इनकी प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
2. सिद्धान्त एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए।

3. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त को परिभाषित कीजिए। इनका निर्माण कैसे किया जाता है? संक्षेप में समझाइए।
4. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का अर्थ बताइए। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के किसी एक वर्गीकरण की विवेचना कीजिए।
5. समाजशास्त्र में सार्वभौम सिद्धान्तों का निर्माण करना क्यों कठिन है? तर्क दीजिए।
6. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? इनका महत्त्व बताइए।

1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Don Martindale (1961), **The Nature and Types of Sociological Theory**, Routledge and Kegan Paul, London.

Emile Durkheim (1982), **The Rules of Sociological Method**, The Free Press, New York.

George C. Homans (1964), ''Contemporary Theory in Sociology'' in R. E. L. Faris (ed.), **Handbook of Modern Sociology**, Rand McNally, Chicago, pp. 951-77.

H. P. Fairchild Fairchild (1944), **Dictionary of Sociology** (ed.), Philosophical Library, New York.

Hans L. Zetterberg (1965), **On Theory and Verification in Sociology**. The Bedminster Press, New Jersey.

Helmut R. Wagner (1963), ''Types of Sociological Theory : Toward a System of Classification'' in **American Sociological Review**, Vol. 28, pp. 735-42.

Jonathan H. Turner (1971), **The Structure of Sociological Theory**, McGraw-Hill Book Company, New York.

L. A. Coser and B. Rosenberg (1969), **Sociological Theory** (eds.), The Macmillan Company, New York.

M. Francis Abraham (1990), **Modern Sociological Theory—An Introduction**, Oxford University Press, Delhi.

Morris Ginsberg (1950), **Sociology**, Oxford University Press, New York.

Robert K. Merton (1966), ''The Sociologist as Empiricist'' in Alex Inkeles (ed.), **Readings on Modern Sociology**, Prentice Hall, New York.

Robert K. Merton (1968), **Social Theory and Social Structure**, The Free Press, New York.

T. B. Bottomore (1971), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.

Theodore Fred Abel (1970), **The Foundation of Sociological Theory**, Random House, New York.

W. J. Goode and P. K. Hatt (1952), **Methods in Social Research**, McGraw-Hill Book Company, New York.

Walter L. Wallace (1969), **Sociological Theory**, Aldine Publishing Company, Chicago.

इकाई 2 समाजशास्त्रीय चिन्तन का विकास
Development of Sociological Thought

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 समाजशास्त्रीय चिन्तन की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
2.3 समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रकृति एवं विशेषताएँ
2.4 समाजशास्त्रीय चिन्तन की श्रेणियों की व्याख्या
2.5 समाजशास्त्रीय चिन्तन का ऐतिहासिक विकास
2.5.1 आदिम सामाजिक चिन्तन
2.5.2 प्राचीन सामाजिक चिन्तन
2.5.3 मध्यकालीन सामाजिक चिन्तन
2.5.4 पूर्व–आधुनिक सामाजिक चिन्तन
2.5.4 आधुनिक सामाजिक चिन्तन
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 अभ्यास प्रश्न
2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक चिन्तन (जिसे समाजशास्त्रीय चिन्तन भी कहा जाता है) की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी प्रकृति, प्रमुख श्रेणियों तथा ऐतिहासिक विकास को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समाजशास्त्रीय चिन्तन की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रकृति अथवा इसकी विशेषताओं की व्याख्या कर पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रमुख श्रेणियों को स्पष्टतया समझ पाएँगे; तथा
- समाजशास्त्रीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास की चर्चा कर पाएँगे।

2.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्रीय चिन्तन का इतिहास अथवा समाजशास्त्रीय विचारधारा प्रमुख रूप से सामाजिक जीवन एवं इससे सम्बन्धित मुख्य सामाजिक समस्याओं से आबद्ध विचार है। अतः सामाजिक चिन्तन का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं मनुष्य का तथा समाज का। प्रारम्भ से ही प्रत्येक समाज में

अनेक तरह की समस्याएँ रही हैं। इन समस्याओं के प्रति चिन्तक अनदेखे नहीं रहे अपितु उन्होंने इन समस्याओं को सुलझाने के लिए और सामाजिक जीवन को स्थायी एवं सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किए एवं सुझाव दिए। इन्हीं विचारों के लिए, जो कि समाज, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना अथवा सामाजिक जीवन एवं समस्याओं से सम्बन्धित है; 'सामाजिक चिन्तन' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

सामाजिक चिन्तन, समाज के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित विचार हैं। इन्हीं विचारों को आज हम 'समाजशास्त्रीय चिन्तन' कहते हैं। क्योंकि 'समाजशास्त्र' का एक संस्थागत विषय के रूप में विकास उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ, इसलिए इससे पहले 'सामाजिक चिन्तन' शब्द ही प्रचलित रहा है। सामाजिक चिन्तन का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं समाज का। चूँकि मानव समाज के विकास के विभिन्न युगों में एक समान समस्याएँ नहीं रही हैं, इसलिए विभिन्न युगों के सामाजिक चिन्तन में भेद पाया जाता है।

2.2 समाजशास्त्रीय चिन्तन की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामाजिक अर्थात् समाजशास्त्रीय चिन्तन का शाब्दिक अर्थ है 'समाज के बारे में विचार' या 'समाज के बारे में चिन्तन'। ये सामाजिक चिन्तन सामाजिक व्यक्तियों अथवा सहयोगी व्यक्तियों के सहचिन्तन का परिणाम है। इस प्रकार का सहचिन्तन दैनिक जीवन की किसी भी प्रकार की समस्या से सम्बन्धित हो सकता है। क्योंकि समस्याएँ सदैव समाज में रही हैं इसलिए सहचिन्तन भी सदैव होता रहा है अर्थात् सामाजिक चिन्तन का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं समाज का इतिहास। अन्य शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक चिन्तन वैयक्तिक या सहचिन्तन के परिणामस्वरूप विकसित वे विचार हैं जो मुख्यतः सामाजिक जीवन एवं समस्याओं से सम्बन्धित हैं।

सामाजिक चिन्तन एवं सोच–विचार की उस पद्धति को हम समाजशास्त्रीय चिन्तन कह सकते हैं जो मानव समाज अथवा व्यक्तियों के जीवन एवं समस्याओं से सम्बन्धित है। प्राचीनकाल के भारत, चीन, जापान, ग्रीक, मिस्र, बेबीलोनिया आदि के समाज विचारकों का समाज के बारे में चिन्तन इसी श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है। प्रारम्भिक चिन्तन लोक चिन्तन की उपज थी जिसकी अभिव्यक्ति कहावतों, लोकवार्ताओं, मिथकों, लोकगाथाओं, किंवदन्तियों आदि में देखने को मिलती है। क्योंकि प्राचीनकाल में समाजशास्त्र विषय नहीं था, इसलिए इस चिन्तन को सामाजिक चिन्तन कहते हैं। प्राचीनकाल के विचारक समाजशास्त्री न होते हुए भी प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों की भाँति सामाजिक जीवन से सम्बन्धित समस्याओं को समझने तथा उनके निराकरण के उपाय खोजने हेतु प्रयासरत थे।

प्रमुख विद्वानों ने समाजशास्त्रीय चिन्तन की परिभाषाएँ निम्नलिखित प्रकार से दी हैं–

बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार–"जहाँ तक भूतकाल एवं वर्तमान का सम्बन्ध है, नियमानुसार सामाजिक प्रश्नों के बारे में व्यक्तियों के विचार ही सामाजिक चिन्तन है। इस अर्थ में सामाजिक चिन्तन मानव इतिहास अथवा वर्तमान में यहाँ–वहाँ एक या कुछ व्यक्तियों द्वारा सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में सोचना या विचारना है।" **चैम्बलिस** (Chambliss) के अनुसार–"सामाजिक विचार मानव प्राणियों एवं उनके साथियों के बीच सम्बन्धों से सम्बन्धित है।" **फूरफे** (Furfey) के अनुसार–"सामाजिक चिन्तन मानवीय जीवन से सम्बन्धित है।....सामाजिक विचार एक शब्द है क्योंकि इसमें मानव समूह की सभी प्रकार की गतिविधियाँ सम्मिलित हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय चिन्तन का सम्बन्ध व्यक्तियों के सामान्य जीवन तथा सामाजिक समस्याओं के बारे में चिन्तन से है। इस प्रकार, सामाजिक जीवन तथा समस्याओं के बारे में एक अथवा कुछ व्यक्तियों के चिन्तन व विचारों को ही सामाजिक चिन्तन

कहा जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक काल में सामाजिक जीवन का स्तर तथा समस्याएँ भिन्न–भिन्न रही हैं, इसलिए प्रत्येक काल का सामाजिक चिन्तन एक जैसा नहीं होता, अपितु प्रत्येक युग की अपनी एक पृथक् तथा विशिष्ट विचारधारा होती है। सामाजिक चिन्तन का विकास सामाजिक अनुभवों के आधार पर निरन्तर होता रहता है। क्योंकि आज की सामाजिक समस्याएँ प्राचीनकाल के चिन्तन से भिन्न हैं, इसलिए आधुनिक सामाजिक चिन्तन भी प्राचीनकाल के चिन्तन से भिन्न है। सामाजिक चिन्तन में जीवन के सामाजिक एवं अन्य पहलुओं की क्रियाओं तथा आर्थिक एवं राजनीतिक क्रियाओं के बारे में भी चिन्तन सम्मिलित है। इन सभी पहलुओं को जिन्हें पहले 'सामाजिक' के अन्तर्गत रखा जाता था, आज इन्हें 'समाजशास्त्रीय' के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

2.3 समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रकृति एवं विशेषताएँ

समाज के द्वारा वैज्ञानिक आधार पर सहचिन्तन का विकास ही सामाजिक विचार की प्रकृति को स्पष्ट कर देता है। **बोगार्डस** के अनुसार समाजशास्त्रीय चिन्तन मानवीय चिन्तन की वह शाखा है जो कि अपनी सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर मानवीय अन्तर्सम्बन्धों तथा अन्तर्क्रियाओं से विशेष रूप से सम्बन्धित है। उनके अनुसार सामाजिक चिन्तन अमूर्त है। व्यावहारिक विचार अथवा प्रचलित विचार सामाजिक विचारों की श्रेणी में नहीं आते क्योंकि इनमें कोई गहराई नहीं होती। इनमें केवल कुछ मूल प्रश्न उठाए जाते हैं, सन्देह प्रकट किए जाते हैं तथा दूरगामी सह–सम्बन्धों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। दूसरी ओर, अमूर्त विचारों में कारणवादी व्याख्याओं, वास्तविकता का वर्गीकरण, सम्बन्धों में दूरदर्शिता तथा सन्तुलित विधियों की तरफ काफी ध्यान दिया जाता है। व्यावहारिक चिन्तन प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव है, जबकि अमूर्त चिन्तन पूर्णतः असामान्य है।

समाजशास्त्रीय चिन्तन का सम्बन्ध केवल सामाजिक समस्याओं के बारे में ही सहचिन्तन नहीं है, अपितु यह समाज के अन्य सभी पहलुओं, जिनमें आर्थिक तथा राजनीतिक क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं, से भी सम्बन्धित है। यह एक अलग बात है कि इसकी उत्पत्ति प्रमुख रूप से सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए होती है।

क्योंकि प्रत्येक युग का सामाजिक जीवन भिन्न होता है, इसलिए प्रत्येक समाज तथा एक ही समाज के विभिन्न युगों में समाजशास्त्रीय विचारधारा भिन्न–भिन्न होती है। समाजशास्त्रीय चिन्तन का निरन्तर विकास मानव की विकासवादी प्रकृति का सूचक है। साथ ही, समाजशास्त्रीय चिन्तन किसी युग में विचारकों के सामाजिक अनुभवों से सम्बन्धित होती है और इसकी प्रकृति विकासवादी होती है क्योंकि इसके आधार पर सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने का प्रयास किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से समाजशास्त्रीय चिन्तन की निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं–

(1) समाजशास्त्रीय चिन्तन अमूर्त होता है क्योंकि यह विचारों से सम्बन्धित है।

(2) समाजशास्त्रीय चिन्तन का उद्भव सामाजिक समस्याओं के निराकरण की आवश्यकता के परिणामस्वरूप होता है। जब कभी आवश्यकताओं की पूर्ति की समस्या उठ खड़ी होती है, तभी विभिन्न सामाजिक चिन्तन जन्म लेता है।

(3) समाजशास्त्रीय चिन्तन केवल सामाजिक समस्याओं से ही सम्बन्धित न होकर आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं तथा सामाजिक नियोजन से भी सम्बन्धित है।

(4) प्रत्येक समाज का भिन्न–भिन्न समाजशास्त्रीय चिन्तन होता है तथा साथ ही एक ही समाज के विभिन्न युगों के चिन्तन में भी भेद होता है क्योंकि उनकी संस्कृति तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अलग–अलग होती है।

(5) समाजशास्त्रीय चिन्तन सामाजिक अनुभवों द्वारा विकसित एवं प्रभावित होता है। समाज के प्रति होने वाले अनुभव ही चिन्तन को विकसित करते हैं।

(6) सामाजिक चिन्तन की प्रकृति विकासवादी होती है। यह निरन्तर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में सुधार पर बल देती है।

2.4 समाजशास्त्रीय चिन्तन की श्रेणियों की व्याख्या

बोगार्डस ने समाजशास्त्रीय चिन्तन की तीन श्रेणियाँ बताई हैं। अन्य शब्दों में सामाजिक जीवन के बारे में व्यक्तियों के चिन्तन तीन प्रकार के हैं–

(1) सामाजिक नियोजन–इस प्रकार के चिन्तन का प्रमुख उद्देश्य मानव समूहों में उन्नति (Advancement of human groups) करना होता है। बोगार्डस का कहना है कि कुछ व्यक्ति 'नियोजन' शब्द से अभिप्राय सामान्य शब्दों में समाजवाद अथवा साम्यवाद अथवा फासिस्टवाद (फासिज्म) के निर्माण से लगा लेते हैं जो कि पूर्णतः गलत है। सामाजिक नियोजन का सार मानव समुदायों का विकास करना है। यह विकास विशेषज्ञों द्वारा सावधानीपूर्वक, सुनिश्चित एवं निर्धारित विधियों द्वारा किया जाता है। अन्य शब्दों में, समुदायों के विकास व उन्नति के लिए नियोजित प्रयास ही सामाजिक नियोजन है।

(2) समाज–विरोधी चिन्तन–इस प्रकार के चिन्तन का उद्देश्य व्यक्तियों के हितों का किसी विशेष गुट या समूह उद्देश्यों के लिए शोषण करना है। यह अक्सर व्यक्तिवादी विचारों से शुरू होता है तथा ऐसी योजना में समाप्त होता है जिसमें कुछ व्यक्तियों को लाभ हो, जबकि अनेक अन्य व्यक्तियों को किसी–न–किसी प्रकार की हानि उठानी पड़ती है। जब इसके हानिकारक प्रभावों का जनसाधारण को पता चल जाता है तो जनसाधारण द्वारा इसका खण्डन (Repudiation) शुरू हो जाता है।

(3) वैज्ञानिक सामाजिक चिन्तन–इस प्रकार के चिन्तन का उद्देश्य प्रक्रियाओं का विश्लेषण करना है तथा ऐसी योजनाएँ बनाना है जिससे मौलिक सामाजिक सुधार हो सके। इसमें समाज–विरोधी अथवा समाज उपयोगी हितों पर बल न देकर इसके अन्तर्गत कार्य करने वाली प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने के पश्चात् सामाजिक प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, चाहे यह ज्ञान कैसा भी क्यों न हो।

2.5 समाजशास्त्रीय चिन्तन का ऐतिहासिक विकास

सामाजिक चिन्तन का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं समाज का, परन्तु इसे श्रेणीबद्ध करना एक कठिन कार्य है। यदि हमें केवल 'समाजशास्त्रीय चिन्तन' के ऐतिहासिक विकास की बात करनी है तो हमें निश्चित रूप से अपना अध्ययन **ऑगस्त कॉम्ट** के विचारों से प्रारम्भ करना होगा। इस दृष्टि से यह केवल आधुनिक सामाजिक चिन्तन ही कही जाएगी। यहाँ पर हम **बोगार्डस** का अनुकरण करते हुए 'सामाजिक चिन्तन' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में कर रहे हैं। सामाजिक चिन्तन के इतिहास को सुविधानुसार निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

2.5.1 आदिम सामाजिक चिन्तन

आदिम व्यक्ति सरल जीवन व्यतीत करते थे परन्तु वे भी जीवन के नाटकीय पहलुओं के बारे में सोचते थे तथा उनकी व्याख्या देने का प्रयास करते थे। परन्तु उनकी व्याख्याएँ धार्मिक तथा अलौकिक शक्तियों से सम्बन्धित होती थीं। सबसे आदिम सामाजिक चिन्तन कहावतों, लोकगीतों इत्यादि के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। बोगार्डस ने इस तरह के चिन्तन को लोक चिन्तन (Folk thinking) कहा है। इन

कहावतों, लोकगीतों तथा लोकगाथाओं को आदिम व्यक्तियों ने न केवल अपने नीरस जीवन को सरल बनाने अपितु अपनी आशाओं, आकांक्षाओं, आदर्शों एवं इच्छाओं को अभिव्यक्त करने का साधन भी बनाया।

आदिम सामाजिक चिन्तन के युग का व्यक्ति प्रकृति पर ही निर्भर था तथा उसे अपने जीवन की रक्षा के लिए कठोर संघर्ष करना पड़ता था जिसके कारण उसका जीवन काफी बर्बरता से पूर्ण था तथा सामाजिक चिन्तन में समाजिकता की कमी थी। उन लोगों के लोकगीतों तथा लोककथाओं से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे लोग सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के बारे में क्या सोचते थे। अनेक ऐसी कहावतें हैं जिनका गहन अर्थ था। उदाहरण के लिए–अफ्रीका में प्रचलित कहावत है ''इका के बेवकूफ और लूका के उजड्ड दोनों ने दोस्ती कर ली'' तथा ''एक समान पंख वाले पक्षी एक साथ दिखाई देते हैं।' इन कहावतों का यह अर्थ है कि दोस्त एक ही प्रकार के व्यक्ति होने चाहिए जिनके सोचने का ढंग एक–सा हो। इसी प्रकार की अनेक अन्य कहावतें हम सबने सुन रखी हैं। उदाहरणार्थ, ''आग लगने पर कुआँ खोदना उचित नहीं'' अथवा ''का वरखा जब कृषि सुखानी'' अथवा ''घोड़ा चोरी चले जाने के बाद अस्तबल में ताला लगाना निरर्थक है।'' इन कहावतों का अर्थ मानव व्यवहार की लापरवाही के प्रति सचेत करना तथा सोच–समझ कर व्यवहार करना रहा है। इसी प्रकार, ''कोयलों की दलाली में हाथ काले'' तथा ''घर का भेदी लंका ढाए'' कुछ ऐसी कहावतें हैं जो बुरे कामों को करने से रोकने तथा पारिवारिक एकता को बनाए रखने से सम्बन्धित रही हैं।

बोगार्डस ने आदिम सामाजिक चिन्तन की आठ विशेषताएँ बताई हैं। ये विशेषताएँ निम्नांकित हैं–

(1) आदिम सामाजिक विचार पूर्ण रूप से सरल, अस्पष्ट तथा अविकसित था।

(2) यह असम्बद्ध, अव्यवस्थित तथा अस्थिर था।

(3) लोककथाओं तथा गाथाओं के वर्गीकरण से पता चलता है कि बहुत कम कथाएँ अथवा गाथाएँ सामाजिक थीं। अधिकतर सामाजिक विचार व्यक्तिगत थे।

(4) सामाजिक विचार व्यावहारिक थे क्योंकि वे वास्तविक मूर्त सामाजिक जीवन से सम्बन्धित थे, न कि अमूर्त जीवन से।

(5) सामाजिक विचार अधिकांशतः सलाह के रूप में थे।

(6) सामाजिक विचार प्रकृति तथा शारीरिक उपमाओं द्वारा व्यक्तियों को कठिन जीवन का सामना करने के लिए प्रेरित करते थे।

(7) सामाजिक विचार परिवार अथवा छोटे समूह के सम्बन्धों के बारे में थे। उत्तरदायित्व की भावना प्राथमिक समूहों तक ही सीमित थी।

(8) आदिम लोक चिन्तन के तुलनात्मक अध्ययन से मानवीय आवश्यकताओं तथा अनुभवों में अनेक समानताओं का पता चलता है। इन समान विचारों से नातेदारी, अधिकार, पारस्परिक निर्भरता तथा जनजातीय वफादारी की अवधारणाओं की उत्पत्ति हुई।

2.5.2 प्राचीन सामाजिक चिन्तन

चिन्तन के इस युग में आदिम युग की तरह विचारों में अधिक विशेषीकरण नहीं था। परन्तु निःसन्देह लिपि एवं भाषा के विकास के कारण सामाजिक विचारों की इस श्रेणी का स्पष्ट रूप हमें दिखाई देता है। मिस्र तथा बेबीलोन (Egyptian and Babylonian) के सामाजिक विचार इस श्रेणी के प्रमुख उदाहरण कहे जा सकते हैं। मिस्र की सामाजिक विचारधारा का पता उस समय के समाज तथा उसकी संरचना से चलता है जिसका वर्णन हमें वहाँ की प्राचीन पुस्तकों में मिलता है। सामाजिक व्यवस्था पर राजा का अधिकार था जो कि दैवी प्राणी माना जाता था तथा बाकी जनता गुलामी की अवस्था में थी। सामान्य

नागरिक राजा के प्रति श्रद्धायुक्त होते थे और अत्यधिक भयभीत भी होते थे। मध्य वर्ग बहुत छोटा था। जनता की सामाजिक दशाएँ अच्छी नहीं थीं तथा सताए हुए वर्ग के सामाजिक विचार विद्रोह के रूप में उभरते थे। मिस्र में जीवन ग्रामीण था। उच्च सामाजिक स्थिति के लोगों की स्त्रियों को अधिक स्वतन्त्रता थी क्योंकि वे अपने पति के साथ जन–जीवन में देखी जा सकती थीं। बेबीलोन की सामाजिक विचारधारा भी प्रारम्भिक अवस्थाओं में मिस्र की विचारधारा की तरह ही थी। राजा को भगवान का अवतार समझा जाता था तथा न्याय "जैसे को तैसा" के सिद्धान्त पर निर्भर था। राष्ट्रीय जीवन में धर्म की प्रधानता थी परन्तु दास को निम्न सामाजिक दृष्टि से देखा जाता था। स्त्रियों के अधिकार मिस्र की तरह ही थे तथा शासक वर्ग की स्त्रियों को निश्चित सम्पत्ति के अधिकार थे। कठोर दण्ड (यथा मृत्युदण्ड) की व्यवस्था थी तथा परिवार अधिक संगठित था। विवाह में कन्या को दहेज मिलता था जो कि उसकी अपनी निजी सम्पत्ति मानी जाती थी।

प्राचीन भारतीय सामाजिक विचार, यूनानी सामाजिक विचार (जिसमें प्लेटो तथा अरस्तू के नाम प्रमुख हैं) तथा प्रारम्भिक ईसाई विचार भी प्राचीन सामाजिक विचारों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारधारा का परिचय हमें हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों; जैसे वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र, रामायण, महाभारत, गीता इत्यादि से मिलता है। इन धर्मग्रन्थों में जिस जीवन की व्याख्या मिलती है वह धर्म–प्रधान जीवन था, आत्मा–परमात्मा, धर्म–कर्म के विचार प्रमुख थे तथा सम्पूर्ण सामाजिक संगठन वर्ण व्यवस्था पर आधारित था जिसका आधार कार्य था। साथ ही, इन ग्रन्थों में आदर्श परिवार तथा संयुक्त परिवारों की प्रधानता तथा विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याओं का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

सामाजिक चिन्तन के इतिहास में यूनान का चिन्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा इसमें प्लेटो और अरस्तू का नाम उल्लेखनीय है, यद्यपि अनेक अन्य विचारकों; जैसे हेरोडोट्स, हिप्पोक्रेट्स तथा सुकरात इत्यादि का योगदान भी किसी तरह से कम नहीं है। प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' (Republic) में सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का विस्तृत उल्लेख मिलता है। प्लेटो को एक आदर्शवादी दार्शनिक माना गया है क्योंकि वे एक आदर्श राज्य की स्थापना करना चाहते थे। प्लेटो राज्य के कठोर नियन्त्रण के समर्थक थे तथा व्यवस्था भंग करने वालों को कठोर दण्ड देने के पक्ष में थे। वे स्त्रियों को समान अधिकार देने के भी पक्षपाती थे। एक आदर्श समाज की स्थापना हेतु प्लेटो शिक्षा के महत्त्व को तो स्वीकार करते थे परन्तु लिंग के आधार पर असमानता को स्वीकार नहीं करते थे।

अरस्तू के विचारों का उल्लेख उनकी दो कृतियों 'एथिक्स' (Ethics) तथा 'पोलिटिक्स' (Politics) में मिलता है। उनका भी कहना था कि समाज के बिना मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता। राज्यों के कुछ नैतिक उद्देश्य होने चाहिए ताकि मानवीय सुख तथा भलाई के लिए आवश्यक कदम उठाए जा सकें। वह एकतन्त्रीय सरकार को श्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने परिवार का स्थान राज्य से पहले रखा है तथा परिवार को सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई माना है। मानव के अस्तित्व को बनाए रखने हेतु पारिवारिक जीवन प्रकृति की एक व्यवस्था है और इसका विकास मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है।

दोनों विद्वान् राज्य को एक अनिवार्य, आत्म–निर्भर तथा सर्वोच्च नैतिक संस्था मानते थे, राज्य तथा समाज में किसी प्रकार का भेद नहीं करते थे उनकी यह मान्यता थी कि राज्य से पृथक् मनुष्य आदर्श जीवन व्यतीत नहीं कर सकते।

2.5.3 मध्यकालीन सामाजिक चिन्तन

मध्यकालीन सामाजिक चिन्तन उस समय की अस्थायी सामाजिक दशाओं का सूचक है तथा मुख्य रूप से इस काल में यह स्वीकार किया जाता था कि सरकार तथा अन्य संगठन सामाजिक बुराइयों को

समाप्त करने के लिए अनिवार्य है। इसमें यह भी कहा गया है कि सरकार का निर्माण भगवान द्वारा किया गया है। सरकार एक प्राकृतिक संस्था है जो कि समाज कल्याण के लिए अनिवार्य है। इसलिए सभी नागरिकों को इसके प्रति वफादार होना चाहिए। सेण्ट आगस्टाईन की इस युग में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। पुस्तक 'सिटी ऑफ गॉड' (City of God) में आगस्टाईन ने व्यक्तिगत क्रिया की चार कारणों से व्याख्या की है–(1) शरीर की प्रसन्नता के लिए, (2) मस्तिष्क की प्रसन्नता के लिए, (3) शरीर तथा मस्तिष्क की संयुक्त रूप से प्रसन्नता के लिए तथा (4) भगवान की प्रसन्नता के लिए। उन्होंने पवित्र ह्रदय की महत्ता पर भी जोर दिया है। सामाजिक अव्यवस्था के इस युग में शिक्षा के लिए आन्दोलन भी हुए तथा सामन्तवादी व्यवस्था का भी प्रचलन हुआ।

2.5.4 पूर्व–आधुनिक सामाजिक चिन्तन

पूर्व–आधुनिक काल मध्यकाल तथा आधुनिक युग के बीच का युग है तथा सामाजिक चिन्तन का विधिवत् इतिहास इसी युग में शुरू होता है। मैकियावली, सर फ्रांसिस बेकन, हॉब्स, स्पाइनोजा, लॉक, रूसो, मॉण्टेस्क्यू, डेविड ह्यूम, एडम स्मिथ, कान्त इत्यादि इस युग के प्रमुख विचारक माने जाते हैं। मैकियावली ने मानव स्वभाव की व्याख्या क्रूरता, स्वार्थीपन तथा दुर्बल चरित्र के रूप में की है। वे इस पक्ष में थे कि व्यक्ति का कठोरता से दमन किया जाना चाहिए ताकि वह अच्छे–से–अच्छा नागरिक बन सके। वे कठोर शासकों के पक्ष में थे। फ्रांसिस बेकन ने इस बात पर बल दिया कि व्यक्गित स्वतन्त्रता सरकार तथा सामाजिक व्यवस्था को समाप्त कर देती है तथा विकास रुक जाता है। हॉब्स ने राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक अवस्था की बर्बरता, संघर्ष, मारपीट, अपहरण, अन्याय, असुरक्षा आदि में बताई है तथा वे निरंकुश शासन में विश्वास रखते थे। लॉक भी हॉब्स की तरह राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं में मानते हैं। इसके विपरीत, रूसो ने प्राकृतिक अवस्था को अत्यधिक सुखी, स्वतन्त्र तथा प्रेम और सहानुभूति से भरपूर बताया है। रूसो के लिए राज्य एक सावयव है तथा राज्य में रहकर ही मानव का बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव है। मॉण्टेस्क्यू ने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य स्वभाव से ही सहयोग और संगठन की प्रकृति रखता है। एडम स्मिथ ने आर्थिक संस्थाओं का उद्देश्य मानव समाज का हित बताया है, जबकि कान्त ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को सामाजिक तथा असामाजिक दोनों तरह का बताया है।

2.5.5 आधुनिक सामाजिक चिन्तन

आधुनिक सामाजिक चिन्तन उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों के विचारकों के माने जाते हैं तथा सामाजिक विचारों, जिन्हें हम वस्तुतः समाजशास्त्रीय विचार कह सकते हैं, का वैज्ञानिक इतिहास इसी युग से शुरू होता है। ऑगस्त कॉम्ट प्रथम विचारक थे जिन्होंने समाजशास्त्र की एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी (1838 ई0) में स्थापना की। हरबर्ट स्पेन्सर, कार्ल मार्क्स, इमाइल दुर्खीम, विलफ्रेडो पेरेटो, थरस्टीन वेब्लन, एफ0 एच0 गिडिंग्स, चार्ल्स कूले, मैक्स वेबर, मोहनदास करमचन्द गांधी, रोबर्ट के0 मर्टन, टालकट पारसन्स इत्यादि तथा समकालीन समाजशास्त्री आधुनिक युग के प्रमुख विचारक कहे जा सकते हैं।

बोगार्डस ने 'सामाजिक चिन्तन' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया है और इसीलिए आधुनिक युग में भी उन्होंने अपने आपको केवल समाजशास्त्रियों के चिन्तन तक ही सीमित नहीं रखा है। उन्होंने जिन प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचारों की विस्तृत विवेचना की है उनमें कॉम्ट की प्रत्यक्षवादी विचारधारा, मार्क्स की समाजवादी विचारधारा, स्पेन्सर की सावयविक सामाजिक विचारधारा, वार्ड की प्रयोजनपरक (Telic) विचारधारा तथा समनर की सांस्कृतिक–सामाजिक विचारधारा प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने

टार्ड के सामाजिक अन्तर्क्रिया के बारे में विचार, दुर्खीम के सामूहिक प्रतिनिधान के बारे में विचार, स्माल के सामाजिक प्रक्रिया के बारे में विचार, गिडिंग्स के समानता की चेतना सम्बन्धी विचार, सिमेल के समाजीकरण के बारे में विचार, वेबर के सामाजिक बोध से सम्बन्धी विचार, कूले के सामूहिक व्यवहार सम्बन्धी विचार, पेरेटो के फासिस्टवादी विचार, रॉस के सामाजिक परिवर्तन के बारे में विचार, थॉमस के सामाजिक मनोवृत्तियों के बारे में विचार, पार्क के सामाजिक प्रक्रियाओं के बारे में विचार, एलवुड के सामाजिक पुनर्निर्माण के बारे में विचार, मैनहिम के ज्ञान के समाजशास्त्र के बारे में विचार, ओडम के जन समाज सम्बन्धी विचार तथा मुकर्जी के सामाजिक मूल्यों के बारे में विचार को भी आधुनिक सामाजिक विचारधारा में प्रमुख स्थान दिया है।

ज्ञानोदय, फ्रांसीसी क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति तीन ऐसी प्रक्रियाएँ मानी जाती हैं जिनके परिणामस्वरूप यूरोपीय समाजों में आमूल–चूल परिवर्तन हुए तथा इन परिवर्तनों को तथा इनके अनुरूप विकसित होने वाली सामाजिक संरचना को समझने के लिए न केवल समाजशास्त्र जैसे विषय का विकास हुआ, अपितु सामाजिक चिन्तन को एक नई दिशा भी मिली। ज्ञानोदय के परिणामस्वरूप पश्चिमी यूरोप में एक नवीन दर्शन विकसित हुआ जिसने एक ओर मनुष्य को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के केन्द्र–बिन्दु के रूप में स्थापित कर दिया तो दूसरी ओर विवेक को मनुष्य की प्रमुख विशेषता के रूप में प्रतिपादित किया। विवेकपूर्ण एवं आलोचनात्मक ढंग से सोचने की क्षमता ने मनुष्य को अपनी ही नजर में हमेशा के लिए ही बदल दिया। इसी के परिणामस्वरूप 'धर्मनिरपेक्षता', 'वैज्ञानिक सोच' तथा 'मानवतावादी सोच' जैसी वैचारिक प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। इसी भाँति, फ्रांसीसी क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति ने सामाजिक संरचना के सभी पक्षों को परिवर्तित कर दिया। उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था विकसित हुई जिससे इन समाजों में वर्ग पर आधारित विषमताएँ और गहरी हो गईं। सामाजिक समस्याओं को समझाने के लिए सामाजिक सर्वेक्षण किए जाने लगे ताकि इन समस्याओं का समाधान निकाला जा सके। जीवन में अत्यधिक गतिशीलता एवं प्रतियोगिता आ गई तथा भैतिकवादी प्रवृत्ति विकसित होने लगी। अतिरिक्त उत्पादन में उपनिवेशवाद को जन्म दिया, नगरीकरण में वृद्धि होने लगी तथा नगरों एवं औद्योगिक केन्द्रों में जनसंख्या बढ़ने लगी। गन्दी बस्तियाँ और सफाई के नितान्त अभाव से अनेक नई समस्याएँ विकसित हो गईं जिनके समाधान की आशा राजतन्त्र से की जाने लगी। राज्य से समाज कल्याण के कार्यों की अधिक आशा होने लगी। बाजारों का तेजी से विकास हुआ तथा अनौपचारिक सम्बन्धों के स्थान पर औपचारिक सम्बन्ध प्रमुख होने लगे। ये सब परिवर्तन इतने दूरगामी थे कि इन्हें समझने के लिए समाजशास्त्र जैसे विषय का विकास हुआ।

विवेकपूर्ण एवं आलोचनात्मक ढंग से सोचने की क्षमता ने धर्म, सम्प्रदाय व देवी–देवताओं के महत्त्व को कम कर दिया तथा 'धर्मनिरपेक्षता', 'वैज्ञानिक सोच' तथा 'मानवतावादी सोच' जैसी वैचारिक प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। प्रोटेस्टैण्ट विद्रोह तथा वैज्ञानिक क्रान्ति ने 18वीं शताब्दी में जिस ज्ञानोदय के युग का प्रारम्भ किया उसमें सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं के प्रति नवीन दृष्टि से विचार किया जाने लगा। इसी नवीन दृष्टि ने समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

ज्ञानोदय द्वारा व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला तथा यह दृढ़ विश्वास विकसित हुआ कि प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति द्वारा मानवीय पहलुओं का अध्ययन किया जा सकता है और करना भी चाहिए। उदाहरणार्थ–गरीबी, जो अभी तक 'प्राकृतिक प्रक्रिया' के रूप में मानी जाती थी, उसे सामाजिक समस्या के रूप में देखना प्रारम्भ हुआ जो कि मानवीय उपेक्षा अथवा शोषण का परिणाम है। यह दृष्टिकोण विकसित हुआ कि गरीबी को समझा जा सकता है और इसका निराकरण सम्भव है। यह धारणा भी विकसित हुई कि ज्ञान में वृद्धि से सभी बुराइयों का समाधान सम्भव है। इन्हीं विचारों से समाजशास्त्र का विकास हुआ।

समाजशास्त्र के जनक ऑगस्त कॉम्ट का विश्वास था कि वह जिस विषय का विकास कर रहे हैं वह मानव कल्याण में योगदान देगा।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। न केवल ऊँच–नीच में वृद्धि हुई, अपितु लोग गाँव छोड़कर नगरों में रोजगार की तलाश में आने लगे। स्त्रियों और बच्चों तक को खतरनाक परिस्थितियों में काम करना पड़ा। मजदूर वर्ग के गरीब लोग झुग्गी–झोपड़ियों वाली गन्दी बस्तियों में रहने के लिए विवश हो गए। इन परिस्थितियों ने राज्यतन्त्र को सार्वजनिक सामूहिक विषयों की जिम्मेदारी उठाने के लिए विवश कर दिया। इन नई जिम्मेदारियों को निभाने के लिए शासनतन्त्र को एक नवीन प्रकार की जानकारी व ज्ञान की आवश्यकता महसूस हुई। नए ज्ञान के लिए उभरती माँग ने समाजशास्त्र जैसे विषय के अभ्युदय एवं विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसीलिए प्रारम्भ से ही समाजशास्त्रीय चिन्तन मुख्य रूप से औद्योगिक समाज के विकास के वैज्ञानिक अन्वेषण से जुड़े हुए हैं।

प्रारम्भ से ही समाजशास्त्रीय चिन्तन मुख्य रूप से औद्योगिक समाज के विकास के अन्वेषण से जुड़ा हुआ है। कुछ विद्वानों ने तो इसीलिए समाजशास्त्र को 'नए औद्योगिक समाज का विज्ञान' भी कह डाला। किसी भी समाज को समझने का आधार, वहाँ के राज्य द्वारा तैयार की गई वैज्ञानिक सूचना बनी जो इसके सामाजिक संकायों की देखरेख करती है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त इसी चिन्तन–मनन का परिणाम है।

आधुनिक सामाजिक चिन्तन को विकसित करने का श्रेय ऑगस्त कॉम्ट, इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर तथा कार्ल मार्क्स को दिया जाता है। कॉम्ट समाजशास्त्र के जनक माने जाते हैं तथा उनके प्रत्यक्षवाद के विचारों ने सामाजिक चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान की। दुर्खीम को फ्रांस में सामाजिक चिन्तन को आगे बढ़ाने का श्रेय दिया जाता है। वस्तुतः समाजशास्त्र के जनक कॉम्ट के उत्तराधिकारी माने जाने वाले फ्रांसीसी विद्वान् दुर्खीम (1858-1917 ई0) ने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक धरातल पर दृढ़ करने में विशेष भूमिका निभाई है। उनका विचार था कि समाजशास्त्र की विषय–वस्तु सामाजिक तथ्य हैं जिनका अध्ययन आनुभविक रूप में किया जा सकता है। प्रत्येक समाज में घटनाओं का एक विशिष्ट समूह होता है जो कि उन तथ्यों से भिन्न होता है जिनका अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान करते हैं। सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में कार्य करने, सोचने तथा अनुभव करने के वे तरीके आते हैं जिनमें व्यक्तिगत चेतना से बाहर भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने की उल्लेखनीय विशेषता होती है।

वेबर (1864-1920 ई0) ने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक धरातल प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनका तर्क था कि सामाजिक विज्ञानों का पूर्ण उद्देश्य 'सामाजिक क्रिया की व्याख्यात्मक सोच' का विकास करना है। इसी अर्थ में सामाजिक विज्ञान भौतिक विज्ञानों, जिनका उद्देश्य 'प्रकृति के नियमों की खोज करना' है से भिन्न होते हैं। सामाजिक क्रियाओं में अभी अर्थपूर्ण मानवीय व्यवहार सम्मिलित होते हैं। मानवीय क्रियाओं के विषयगत (व्यक्तिनिष्ठ) अर्थों से सम्बन्धित होने के कारण ही सामाजिक विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न हैं। सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करते समय समाजशास्त्री का कार्य उन अर्थों को ढूँढना होता है जो कर्ता द्वारा समझे जाते हैं। इसके लिए 'सहानुभूति' की भावना उसकी सहायता करती है।

वेबर ने सामाजिक विज्ञानों में पाई जाने वाली वस्तुनिष्ठता पर भी विचार व्यक्त किए हैं। सामाजिक यथार्थता की खोज मनुष्य के अर्थों, मूल्यों, समझ, पूर्वाग्रहों, आदर्शों इत्यादि पर आधारित होती है। इसलिए सामाजिक विज्ञानों को सदैव 'समानुभूति समझ' अर्थात् 'व्याख्यात्मक बोध' (Verstehen) को अपनाना पड़ता है। अपने अध्ययन को वस्तुनिष्ठ बनाने हेतु समाजशास्त्री को बिना स्वयं की निजी मान्यताओं से प्रभावित हुए पूर्ण रूप से विषयगत अर्थों एवं सामाजिक कर्ताओं की अभिप्रेरणा को समझना पड़ता है। वेबर ने सामाजिक विज्ञानों में पाई जाने वाली इस प्रकार की वस्तुनिष्ठता को 'मूल्य तटस्थता' कहा है अर्थात् अपने

मूल्यों से तटस्थ होकर ही समाज–वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ अध्ययन कर सकता है। वस्तुनिष्ठ अध्ययन करने हेतु वेबर ने अपने पद्धतिशास्त्र में 'आदर्श प्रारूप' का भी उल्लेख किया है जो सामाजिक घटना का तार्किक मॉडल है जिसमें उस घटना की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित किया जाता है।

जर्मनी में जन्मे विद्वान् मार्क्स (1818-1883 ई0) वैज्ञानिक समाजवाद द्वारा मजदूरों पर होने वाले अत्याचार एवं शोषण को समाप्त करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने पूँजीवादी समाज का आलोचनात्मक विश्लेषण कर उसकी कमियों को उजागर किया ताकि इस व्यवस्था का पतन हो सके। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के बारे में मार्क्स की धारणा थी कि यह उत्पादन के तरीकों पर आधारित होती है। यह उत्पादन की विस्तृत प्रणाली है जिसका सम्बन्ध ऐतिहासिक काल से होता है। आदिम साम्यवाद, दास प्रथा, सामन्तवाद, पूँजीवाद–ये सब उत्पादन की व्यवस्थाएँ हैं। सामान्य स्तर पर उत्पादन की व्यवस्थाएँ एक काल विशेष में जीवन की विशेषताओं को दर्शाती हैं। अर्थव्यवस्था का आधार प्राथमिक तौर पर आर्थिक होता है और इसमें उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं। उत्पादन शक्तियों से तात्पर्य उत्पादन के सभी साधनों (जैसे भूमि, मजदूर, तकनीक, ऊर्जा के विभिन्न स्रोत आदि) से है। उत्पादन सम्बन्धों के अन्तर्गत वे सभी आर्थिक सम्बन्ध आते हैं जो मजदूर संगठन के रूप में उत्पादन में भाग लेते हैं। उत्पादन सम्बन्ध, सम्पत्ति सम्बन्ध भी होते हैं क्योंकि ये स्वामित्व अथवा उत्पादन के साधनों के नियन्त्रण से सम्बन्धित होते हैं।

मार्क्स के लिए व्यक्ति को सामाजिक समूहों में विभाजित करने वाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार उत्पादन प्रक्रिया है। उत्पादन प्रक्रिया में जो व्यक्ति एक जैसे पदों पर आसीन होते हैं, वे स्वतः ही एक वर्ग निर्मित करते हैं। उत्पादन प्रक्रिया में अपनी स्थिति के अनुसार तथा सम्पत्ति के सम्बन्धों में उनके एक जैसे हित तथा उद्देश्य होते हैं। यही सामान्य हित वर्ग के सदस्यों में वर्ग के प्रति जागरूकता विकसित करते हैं।

मार्क्स ने पूँजीवादी समाज में दो प्रमुख वर्गों का उल्लेख किया है–एक पूँजीपतियों का वर्ग (बुर्जुआ वर्ग) जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है तथा दूसरा सम्पत्तिविहीन सर्वहारा वर्ग जिसके सदस्यों को अपनी आजीविका के लिए मजबूरी में श्रमिकों के रूप में काम करना पड़ता है। इन वर्गों के उद्देश्य परस्पर विरोधी होते हैं। वर्ग चेतना विकसित होने के उपरान्त राजनीतिक गोलबन्दी के तहत इन दोनों में वर्ग संघर्ष विकसित होने लगते हैं।

मार्क्स का मत था कि "प्रत्येक विद्यमान समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" आदिम युग से लेकर आधुनिक युग तक समाज में दो वर्ग ही प्रमुख रहे हैं–एक शोषक वर्ग तथा दूसरा शोषित वर्ग। इन दोनों वर्गों के नाम विभिन्न युगों में भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। शोषक और शोषित वर्ग एक–दूसरे का कभी दबे रूप में और कभी खुले रूप में निरन्तर विरोध करते रहे हैं। यही विरोध वर्ग संघर्ष के रूप में प्रतिफलित होता रहा है। मार्क्स ने कल्पना की थी कि एक दिन सर्वहारा वर्ग पूँजीपतियों को खदेड़कर उत्पादन के साधनों पर अपना अधिकार जमा लेगा तथा एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसे उन्होंने 'वर्गविहीन समाज' की संज्ञा दी।

किसी भी विषय को समझने के लिए उन चिन्तकों का अध्ययन करना अनिवार्य है जिन्होंने सम्बन्धित विषय को विकसित करने में अथवा उसे आगे बढ़ाने में विशेष योगदान दिया है। ऐसे विद्वान् 'शास्त्रीय चिन्तक' कहलाते हैं जिनके विचारों को समझे बिना विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। स्वाभाविक है कि सभी विषय पुराने हैं और उनके प्रतिपादकों की मृत्यु हो गई है। यदि हम समाजशास्त्र का ही उदाहरण लें तो इसके जनक ऑगस्त कॉम्ट के अतिरिक्त इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स, विलफ्रेडो पेरेटो आदि विद्वानों के विचारों को समझना जरूरी है। यही वे विद्वान् हैं जिन्होंने न केवल इस विषय के निर्माण हेतु अपितु इसे वैज्ञानिक स्वरूप देने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने ही इस

विषय में अध्ययन–अनुसन्धान हेतु पद्धतिशास्त्र का भी निर्माण किया है। उनके द्वारा जो कार्य किए गए हैं वे उनकी शास्त्रीय कृतियों में उपलब्ध हैं तथा उन्हें पढ़े बिना समाजशास्त्र को समझना सम्भव नहीं है। यदि हम उनके कार्यों का अध्ययन नहीं करेंगे तो विषय पर हमारी पकड़ नहीं हो पाएगी। हम रटकर प्रश्न का उत्तर तो दे देंगे परन्तु सामाजिक यथार्थता को समझ नहीं पाएँगे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक सामाजिक चिन्तन, जो कि मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर आज तक के युग से सम्बन्धित है, में उन विद्वानों के विचारों को सम्मिलित किया गया है जो कि या तो समाजशास्त्री हैं या राजनीतिक दर्शनशास्त्री। इस युग की विचारधारा में समाजशास्त्र में जो प्रवृत्तियाँ उभरती हुई दिखाई देती हैं उनमें प्रत्यक्षवादी विचारधारा, समाजवादी चिन्तन, सांस्कृतिक–सामाजिक चिन्तन, अन्तर्क्रियावादी चिन्तन तथा फासिस्टवादी चिन्तन प्रमुख हैं। वास्तव में, ये प्रवृत्तियाँ एवं विचारधाराएँ विधिवत् वैज्ञानिक चिन्तन का परिणाम हैं जो कि आधुनिक युग का ही लक्षण है। सामाजिक चिन्तन में आज भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है।

सामाजिक विचारों के संक्षिप्त इतिहास से यह सिद्ध होता है कि समाज के निर्माण के साथ–ही–साथ यद्यपि सामाजिक चिन्तन भी शुरू हो गया था, तथापि वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय विचार आधुनिक युग में ही शुरू हुए। सामाजिक चिन्तन के इतिहास से इस बात का भी पता चल जाता है कि इसमें सामूहिक जीवन से सम्बन्धित सभी पहलुओं; जैसे–आर्थिक, राजनीतिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक पहलुओं से सम्बन्धित विचार सम्मिलित हैं।

जहाँ तक आधुनिक भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन का प्रश्न है, यह भी भारत में समाजशास्त्र के संस्थागत उद्भव एवं विकास से प्रारम्भ होता है। वैसे यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि भारत में प्राचीनकाल से लेकर अब तक सामाजिक चिन्तन की एक लम्बी परम्परा रही है। भारतीय समाजशास्त्र का संस्थागत विकास बम्बई विश्वविद्यालय में 1919 ई० में एक प्रमुख अंग्रेज समाजशास्त्री पैट्रिक गैडिस ने सामाजिक जीवन को पर्यावरण से सम्बन्धित करके सर्वप्रथम समाजशास्त्रीय अध्ययनों की शुरुआत की। इस विश्वविद्यालय में गैडिस की अध्यक्षता में ही इस वर्ष समाजशास्त्र विभाग का गठन किया गया। इसके पश्चात् जी० एस० घुरिये, जिन्हें भारत में समाजशास्त्र का जनक माना जाता है, ने जाति, वर्ग एवं व्यवसाय; के० एम० कपाडिया ने विवाह एवं परिवार तथा इरावती कर्वे ने हिन्दू नातेदारी व्यवस्था के अध्ययन करके समाजशास्त्र को आगे बढ़ाया। भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन में बम्बई (मुम्बई) सम्प्रदाय के अतिरिक्त लखनऊ सम्प्रदाय तथा दिल्ली सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान रहा है। लखनऊ विश्वविद्यालय में राधाकमल मुकर्जी की अध्यक्षता में 1921 ई० में अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग गठित किया गया। दिल्ली विश्वविद्यालय में 1959 ई० में एम० एन० श्रीनिवास की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की गई। इन तीनों सम्प्रदायों का भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

2.6 सारांश

सामाजिक चिन्तन से अभिप्राय समाज के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित सोच–विचार अथवा विचारधारा से है। इसका लम्बा इतिहास रहा है। चूँकि समाजशास्त्र विषय का औपचारिक उद्भव एवं विकास 1838 ई० में हुआ था, इसलिए इससे पहले के चिन्तन को हम सामाजिक चिन्तन कहते हैं। सामाजिक चिन्तन एवं समाजशास्त्रीय चिन्तन को समानार्थक रूप में प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रीय चिन्तन अमूर्त होता है। यह सामाजिक जीवन, सामाजिक समस्याओं एवं समाज के अन्य पहलुओं से सम्बन्धित होता है। इसकी प्रकृति विकासवादी होती है। समाजशास्त्रीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास को

पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जाता है–आदिम सामाजिक चिन्तन, प्राचीन सामाजिक चिन्तन, मध्यकालीन सामाजिक चिन्तन, पूर्व–आधुनिक सामाजिक चिन्तन तथा आधुनिक सामाजिक चिन्तन। आधुनिक सामाजिक चिन्तन को विकसित करने में ज्ञानोदय, फ्रांसीसी क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोपीय समाज में हुए आमूल–चूल परिवर्तनों की प्रमुख भूमिका रही है। यद्यपि भारत में भी सामाजिक चिन्तन की एक लम्बी परम्परा रही है, तथापि समाजशास्त्रीय चिन्तन का विधिवत् प्रारम्भ 1919 ई० से माना जाता है। भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन को आगे बढ़ाने में बम्बई, लखनऊ तथा दिल्ली सम्प्रदाय का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

2.7 शब्दावली

सामाजिक चिन्तन – समाज के विभिन्न पहलुओं के बारे में सोच–विचार की प्रणाली अथवा विचारधारा को सामाजिक चिन्तन कहते हैं।

समाजशास्त्रीय चिन्तन – यह भी सामाजिक चिन्तन की भाँति मानव समाज, इसके विभिन्न पहलुओं अथवा सामाजिक जीवन तथा इससे सम्बन्धित समस्याओं के बारे में सोच–विचार की प्रणाली अथवा विचारधारा है। सामाजिक चिन्तन में सामाजिक समस्याओं का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया जाता है जिनमें आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याएँ तथा सामाजिक नियोजन भी सम्मिलित होता है।

सामाजिक नियोजन – समाज के विकास एवं प्रगति हेतु योजनाबद्ध रूप से किए जाने वाले सचेत प्रयासों को सामाजिक नियोजन कहते हैं।

समाज–विरोधी चिन्तन – इस प्रकार का चिन्तन कुछ विशेष समूहों के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सामान्य जनता के शोषण से सम्बन्धित होता है।

वैज्ञानिक सामाजिक चिन्तन – इस प्रकार का चिन्तन का आधार तर्क अर्थात् वैज्ञानिक सोच होती है।

2.8 अभ्यास प्रश्न

7. सामाजिक चिन्तन किसे कहते हैं? सामाजिक चिन्तन की प्रमुख श्रेणियाँ बताइए।
8. समाजशास्त्रीय चिन्तन से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
9. समाजशास्त्रीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
10. समाजशास्त्रीय चिन्तन का अर्थ बताइए तथा आदिम सामाजिक चिन्तन की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
11. आधुनिक समाजशास्त्रीय चिन्तन के बारे में आप क्या जानते हैं? संक्षेप में समझाइए।

2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

E. S. Bogardus (1981), **A History of Social Thought**, ***University*** of Southern California Press, Los Angeles.

Margaret Wilson Vine (1914), **An Introduction to Sociological Theory**, Longmans, Green, New York.

Paul Hanly Furfey (1952), **History of Social Thought**, The Macmillan company, New York.

Raymond Aron (1998), **Main Currents in Sociological Thought**, Vol. 1, Transaction Publishers, California.

Rollin Chambliss (1979), **Social Thought : From Hammurabi to Comte**, *Rollin Chambliss*. *Irvington Publishers*, New York.

इकाई 3:समाजशास्त्र का ऐतिहासिक प्रारम्भ

Beginning of Historical Sociology

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 समाजशास्त्र की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषा
3.3 समाजशास्त्र का ऐतिहासिक प्रारम्भ (उद्भव एवं विकास)
3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्न
3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में समाजशास्त्र की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसके ऐतिहासिक उद्भव एवं विकास को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समाजशास्त्र की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- समाजशास्त्र के ऐतिहासिक प्रारम्भ की व्याख्या कर पाएँगे;
- समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास में सहायक कारकों को समझ पाएँगे; तथा
- प्रारम्भिक समाजशास्त्र की प्रकृति की व्याख्या कर पाएँगे।

3.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। यह एक ऐसा विषय है जिसमें समाज एवं इसके विभिन्न पहलुओं का वस्तुनिष्ठ एवं क्रमबद्ध रूप से अध्ययन किया जाता है। यह राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान एवं मानवशास्त्र की तरह एक सामाजिक विज्ञान है। यह अन्य विषयों की भाँति सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से परिपक्व व स्वतन्त्र विषय है। समाज का विज्ञान होने के नाते इस विषय की उत्पत्ति तभी से मानी जानी चाहिए जब से कि स्वयं समाज का निर्माण हुआ है और मनुष्य ने समाज के विभिन्न पहलुओं के बारे में चिन्तन प्रारम्भ किया है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह एक नवीन विषय है तथा एक संस्थागत विषय के रूप में इसका इतिहास लगभग 179–80 वर्षों का है। इस विषय के विकास में फ्रांसीसी एवं औद्योगिक क्रान्तियों के परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के यूरोप में हुए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों तथा इनके परिणामस्वरूप जन–साधारण में चेतना व बौद्धिक जिज्ञासा में वृद्धि की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐसा माना जाता है कि इन दशाओं के परिणामस्वरूप जो सामाजिक चिन्तन विकसित हुआ उसी के परिणामस्वरूप यह नवीन विषय अस्तित्व में आया है। अमेरिका में यह एक पृथक् विज्ञान के रूप में 1876

ई० में, फ्रांस में 1889 ई० में तथा इंग्लैण्ड में 1907 ई० में प्रारम्भ हुआ। बाकी सभी देशों में यह विषय प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् आरम्भ हुआ।

3.2 समाजशास्त्र की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्र आधुनिक विज्ञान की एक शाखा है। इसके अन्तर्गत मानव समाज के विभिन्न स्वरूपों, उसकी विविध संरचनाओं, प्रक्रियाओं इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। **टी० बी० बॉटोमोर** (T. B. Bottomore) ने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र' का प्रारम्भ इन पंक्तियों से किया है, ''हजारों वर्षों से लोगों ने उन समाजों एवं समूहों का अवलोकन एवं चिन्तन किया है जिसमें कि वे रहते हैं। फिर भी, समाजशास्त्र एक आधुनिक विज्ञान है तथा एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है।'' उनके इस कथन से इस तर्क की पुष्टि हो जाती है कि समाजशास्त्र एक नवीन विषय है। साथ ही इससे यह भी पता चल जाता है कि समाज में रहना एवं इसके बारे में चिन्तन करना तथा समाज का अध्ययन करना दो भिन्न बातें हैं। समाज में रहना ही यदि समाज का अध्ययन करना होता, तो समाजशास्त्र विषय एक अति प्राचीन विषय होता जो कि वास्तव में नहीं है।

समाजशास्त्र समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान है। **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) इसके जन्मदाता माने जाते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग 1838 ई० में किया था। यद्यपि पहले उन्होंने इसे 'सोशल फिजिक्स' (Social Physics) कहा परन्तु यह विषय 'समाजशास्त्र' के नाम से ही स्वीकार किया गया है। 'समाजशास्त्र' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'सोशियोलोजी' (Sociology) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जिसे दो भागों 'सोशियो' ('Socio') तथा 'लोजी' ('Logy') में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम शब्द अर्थात् 'Socio' लैटिन भाषा के शब्द 'Socius' से तथा दूसरा शब्द अर्थात् 'Logy' ग्रीक भाषा के 'Logos' शब्द से बना है जिनका अर्थ क्रमश: 'समाज' तथा 'विज्ञान' या 'अध्ययन' है। अत: 'समाजशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ 'समाज का विज्ञान' या 'समाज का अध्ययन' है।

समाजशास्त्र की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना एक कठिन कार्य है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषा भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से दी है। इसकी सार्वभौम परिभाषा न होने का प्रमुख कारण विद्वानों में समाज के अर्थ के बारे में मतैक्य का अभाव है। इसीलिए उन्होंने समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र की परिभाषा उस अर्थ को सामने रखकर देने का प्रयास किया है जिसके द्वारा वे समाज को समझाने का प्रयास करते हैं। अधिकतर समाजशास्त्र को समाज के विज्ञान, सामाजिक सम्बन्धों के क्रमबद्ध अध्ययन, सामाजिक जीवन एवं सामाजिक घटनाओं के अध्ययन, सामाजिक समूह के अध्ययन तथा सामाजिक अन्तर्क्रियाओं की व्याख्या के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है।

अधिकांश विद्वान् (यथा ओडम, वार्ड, जिसबर्ट, गिडिंग्स आदि) समाजशास्त्र को समाज के अध्ययन या समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं। यही दृष्टिकोण अधिकांश प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों का भी रहा है जिन्होंने समाज का समग्र के रूप में (अर्थात् इसे एक सम्पूर्ण इकाई मानकर) अध्ययन करने पर बल दिया है। ऐसी कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–**ओडम** (Odum) के अनुसार–''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।'' **वार्ड** (Ward) के अनुसार–''समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।'' **जिसबर्ट** (Gisbert) के अनुसार–''समाजशास्त्र सामान्यत: समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है।'' **गिडिंग्स** (Giddings) के अनुसार–''समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन तथा व्याख्या है।''

समाज के अध्ययन के रूप में दी गई समाजशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि केवल 'समाजशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ ही 'समाज का अध्ययन' या 'समाज का विज्ञान' नहीं है अपितु ओडम, वार्ड, जिसबर्ट तथा गिडिंग्स आदि विद्वानों ने इसकी परिभाषा देते समय भी समाज को इस विषय

का मुख्य अध्ययन–बिन्दु बताया है। समाज का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था, जाल अथवा ताने–बाने से है। इससे किसी समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों की जटिलता का बोध होता है। अन्य शब्दों में, जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था पनपती है तभी हम उसे समाज कहते हैं।

विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान या किसी तथ्य अथवा घटना से सम्बन्धित वस्तुनिष्ठ रूप से जानकारी प्राप्त करने का एक तरीका है। इसमें अवलोकन, परीक्षा, प्रयोग, वर्गीकरण तथा विश्लेषण द्वारा वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है। यह प्रघटना के पीछे छिपे तथ्य अथवा वास्तविकता को प्राप्त करने का एक मार्ग है। इस प्रकार, जब हम समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान कहते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसे विषय से है जो समाज तथा इसके विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

गिडिंग्स समाजशास्त्र को समाज के समग्र स्वरूप का क्रमबद्ध अध्ययन एवं व्याख्या करने वाला विज्ञान मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि समाजशास्त्र समाज में होने वाली प्रत्येक घटना और उसके विकास एवं विषय–क्षेत्र के प्रत्येक पहलू का समूल रूप से अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसमें विभिन्न घटनाओं में पाए जाने वाले कार्य–कारण सम्बन्धों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। साथ ही, उनके परिणामों की व्याख्या करने का भी प्रयास किया जाता है। अत: गिडिंग्स की परिभाषा इसका यथार्थ अर्थ व्यक्त करने में सफल रही है।

कुछ विद्वानों (यथा मैकाइवर एवं पेज, क्यूबर, रोज, सिमेल, ग्रीन आदि) ने समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के क्रमबद्ध अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। सामाजिक सम्बन्धों से हमारा अभिप्राय दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्धों से है जिन्हें एक–दूसरे का आभास है तथा जो एक–दूसरे के लिए कुछ–न–कुछ कार्य कर रहे हैं। यह जरूरी नहीं है कि सम्बन्ध मधुर तथा सहयोगात्मक ही हों, ये संघर्षात्मक या तनावपूर्ण भी हो सकते हैं। समाजशास्त्री इन दोनों तरह के सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं। सामाजिक सम्बन्ध उस परिस्थिति में पाए जाते हैं जिसमें कि दो या अधिक व्यक्ति, अथवा दो या अधिक समूह परस्पर अन्तर्क्रिया में भाग लें। इस दृष्टि से दी गई प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–**मैकाइवर** एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार–''समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है। सम्बन्धों के इस जाल को हम 'समाज' कहते हैं।'' **क्यूबर** (Cuber) के अनुसार–''समाजशास्त्र को मानव सम्बन्धों के वैज्ञानिक ज्ञान के ढाँचे के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।'' **रोज** (Rose) के अनुसार–''समाजशास्त्र मानव सम्बन्धों का विज्ञान है।'' **सिमेल** (Simmel) के अनुसार–''समाजशास्त्र मानवीय अन्तर्सम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान है।'' **ग्रीन** (Green) के अनुसार–''इस प्रकार, समाजशास्त्र मनुष्य का उसके समस्त सामाजिक सम्बन्धों के रूप में समन्वय करने वाला और सामान्य अनुमान निकालने वाला विज्ञान है।''

सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र को परिभाषित करने वाली उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट पता चल जाता है कि समाजशास्त्र की मुख्य विषय–वस्तु व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध हैं। इनके आधार पर ही समाज का निर्माण होता है। **मैकाइवर** एवं **पेज** का इस सन्दर्भ में यह कथन उचित ही लगता है कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की शृंखला का अध्ययन करने वाला विषय है। ये सामाजिक सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। इनमें जटिलताएँ भी हो सकती हैं और नवीन सामाजिक परिवेश के अनुसार इनके विभिन्न रूप भी हो सकते हैं। सामाजिक सम्बन्ध छिछले, अल्पजीवी अन्तर्क्रियाओं वाले (जैसे विदेश में दो भारतीयों का एक–दूसरे को अभिवादन करना) भी होते हैं और स्थायी अन्तर्क्रिया की प्रणालियों वाले (जैसे परिवार या घनिष्ठ मैत्री) भी। सामाजिक सम्बन्ध में भाग ले रहे लोग मित्रवत् भी हो सकते हैं और द्वेषपूर्ण भी। वे एक–दूसरे के साथ सहकार भी कर सकते हैं अथवा एक–दूसरे का संहार करने की कामना भी। विरोधी सेनाओं के बीच के सम्बन्ध (शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध) भी सामाजिक

सम्बन्ध ही हैं। अत: हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था का क्रमबद्ध और व्यवस्थित तरीके से अध्ययन करने वाला सामाजिक विज्ञान है।

कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन, व्यक्तियों के व्यवहार एवं उनके कार्यों तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। इनकी परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–**ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार–''समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन है।'' **बेनेट** एवं **ट्यूमिन** (Bennett and Tumin) के अनुसार–''समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के ढाँचे और कार्यों का विज्ञान है।'' **यंग** (Young) के अनुसार–''समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन करता है।'' **सोरोकिन** (Sorokin) के अनुसार–''समाजशास्त्र सामाजिक–सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्ररूपों और विभिन्न प्रकार के अन्त:सम्बन्धों का सामान्य विज्ञान है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से हमें पता चलता है कि समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र, समाज के अन्य विज्ञानों (यथा राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि) से भिन्न है। इसमें हम सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करते हैं। इसके साथ–ही–साथ सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक कार्यों का अध्ययन भी इस विषय को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक् करता है। सामाजिक व्यवहार का अर्थ ऐसा व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार या उनकी प्रत्याशित अनुक्रिया को ध्यान में रखकर किया जाता है।

व्यक्ति समाज में अकेला नहीं रहता अपितु अन्य व्यक्तियों के साथ रहता है। वास्तव में, व्यक्ति का जीवन विभिन्न सामाजिक समूहों का सदस्य होने के कारण ही संगठित जीवन है। इसी बात को आधार मानकर कुछ विद्वानों (यथा जॉनसन) ने समाजशास्त्र की परिभाषा ही सामाजिक समूहों के अध्ययन के रूप में दी है।

हेरी एम० जॉनसन (Harry M. Johnson) के अनुसार–''समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, उनके आन्तरिक स्वरूपों या संगठन के स्वरूपों, उन प्रक्रियाओं जो उस संगठन को बनाए रखती हैं या परिर्वितत करती हैं और समूहों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।'' जॉनसन की इस परिभाषा से हमें पता चलता है कि समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, इनमें पाए जाने वाले संगठनों तथा इनसे सम्बन्धित प्रक्रियाओं (जैसे–समूह का निर्माण, समूह का विघटन अथवा समूह में परिवर्तन) का अध्ययन है। **जैटलिन** (Zeitlin) ने भी समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी लक्ष्य या उद्देश्य को पाने के लिए एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं या अन्तर्क्रिया करते हैं और इसके परिणामस्वरूप उनके मध्य सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। तभी उन व्यक्तियों के संग्रह को समूह कहा जा सकता है। सभी समूह सामाजिक सम्बन्धों के संकाय होते हैं। इस अर्थ में किसी भी समूह में उसके सदस्यों के बीच कुछ लक्ष्यों की प्राप्तियों के लिए आंशिक सहकार निहित रहता है। समूह के सहकारिता पक्ष का यह अर्थ नहीं कि इसके सदस्यों के बीच वैमनस्य हो ही नहीं सकता। एक समूह में प्रतिद्वन्द्विता और स्थायी घृणा का बाजार गर्म हो सकता है, जैसे कि कुछ परिवार होते हैं, लेकिन वह फिर भी समूह बना रहता है। उसके सदस्य भी यदा–कदा अपनी अन्तर्क्रियाओं में कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सहकार करते रहते हैं। समाजशास्त्र व्यक्ति–व्यक्ति के परस्पर सम्बन्धों की अपेक्षा समूह–समूह के परस्पर सम्बन्धों (यथा एक जाति के दूसरी जातियों से सम्बन्ध तथा एक वर्ग के दूसरे वर्गों से सम्बन्ध) को अधिक महत्त्व देता है।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर है अत: यह स्वाभाविक ही है कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के दौरान उनमें परस्पर सम्बन्ध, सहयोग तथा अन्तर्क्रियाएँ हों। व्यक्तियों की सामाजिक क्रियाओं एवं अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता

है। सभी क्रियाएँ सामाजिक नहीं होतीं, वही क्रियाएँ सामाजिक होती हैं जो अर्थपूर्ण होती हैं, इस नाते वे अन्य व्यक्तियों द्वारा समझी जा सकती हैं, सामाजिक नियमों द्वारा प्रभावित होती हैं और जिनका निर्धारण समाज अथवा समूह द्वारा किया जाता है। **वेबर** (Weber) के अनुसार–''समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का निर्वचनात्मक अर्थ व्यक्त करने का प्रयत्न करता है ताकि इसकी गतिविधि तथा परिणामों की कारण सहित विवेचना की जा सके।'' **गिलिन** एवं **गिलिन** (Gillin and Gillin) के अनुसार–''समाजशास्त्र को विस्तृत अर्थ में जीवित प्राणियों के एक–दूसरे के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।'' **जिन्सबर्ग** (Ginsberg) के अनुसार–''समाजशास्त्र मानवीय अन्तर्क्रियाओं, अन्तर्सम्बन्धों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।''

सामाजिक अन्तर्क्रियाएँ (Social interactions) ही समाज की मूलाधार हैं। **लूमले** (Lumley) ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है कि ''और सम्पर्क तथा अन्तर्क्रियाएँ हमारे जीवन की आधारशिला हैं। वास्तव में, यही वे चीजें हैं जिन्हें हम सामाजिक अर्थ में समझते हैं; ये समाज के लिए उसी प्रकार से हैं जिस प्रकार से इमारतों के लिए ईंट और चूना होते हैं।'' **बीसेन्ज** एवं **बीसेन्ज** (Biesanz and Biesanz) ने भी इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, ''समाज की जड़ें सामाजिक अन्तर्क्रियाओं में ही हैं।'' समाज का जन्म ही अन्तर्क्रियाओं के माध्यम से होता है।

प्रमुख विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर समाजशास्त्र की जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि समाजशास्त्र मुख्य रूप से समाज, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक जीवन, सामाजिक घटनाओं, व्यक्तियों के व्यवहार एवं कार्यों, सामाजिक समूहों एवं सामाजिक अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विषय है। यह एक आधुनिक विज्ञान है। इसमें मानव व्यवहार के प्रतिमानों और नियमितताओं पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसमें व्यक्तियों, उनके समूहों तथा श्रेणियों के बारे में सामान्य नियम निर्धारित किए जाते हैं। वास्तव में, समाजशास्त्रियों की रुचि उन सभी बातों के अध्ययन में है जोकि एक–दूसरे के साथ अन्तर्क्रिया के दौरान घटित होती हैं। उदाहरणार्थ, व्यक्ति किसी विशेष प्रकार का व्यवहार क्यों करते हैं? वे समूहों का निर्माण क्यों करते हैं? वे युद्ध अथवा संघर्ष क्यों करते हैं? वे पूजा क्यों करते हैं? वे विवाह क्यों करते हैं? वे वोट क्यों डालते हैं? ऐसे अनगिनत प्रश्नों का उत्तर इसी विषय में खोजने का प्रयास किया जाता है। **स्मेलसर** (Smelser) ने उचित ही लिखा है कि ''संक्षेप में, समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं तथा समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।'

3.3 समाजशास्त्र का ऐतिहासिक प्रारम्भ (उद्भव एवं विकास)

व्यक्ति अपने स्वभाव के कारण एक जिज्ञासु प्राणी है और इसी जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण उसने प्रारम्भ से ही अपने समय में प्रचलित विविध प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को समझने का प्रयास किया है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में समाज के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख विविध प्रकार से किया गया है। उदाहरणार्थ, वैदिक साहित्य एवं हिन्दू शास्त्रों (जैसे उपनिषदों, महाभारत एवं गीता आदि ग्रन्थों) में वर्ण एवं जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार प्रणाली, आश्रम व्यवस्था, विभिन्न संस्कारों तथा ऋण व्यवस्था जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक पहलुओं का विधिवत् विवरण मिलता है जो कि आज के समाजशास्त्रीय विश्लेषणों के किसी भी मापदण्ड से कम नहीं है। अरस्तू की पुस्तक 'पॉलिटिक्स', प्लेटो की 'रिपब्लिक' तथा कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें समाज के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की गई है।

यद्यपि सामाजिक पहलुओं के अध्ययन की एक लम्बी परम्परा रही है, फिर भी समाजशास्त्र विषय का एक संस्थागत विषय के रूप में उद्भव एवं विकास 19वीं शताब्दी में हुआ जबकि ऑगस्त कॉम्ट ने

सर्वप्रथम 1838 ई० में 'समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया। उनका विचार था कि कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो कि समाज के विभिन्न पहलुओं का समग्र रूप में अध्ययन कर सकता हो। इस कमी को दूर करने के लिए उन्होंने इस नवीन विषय का निर्माण किया। उन्नीसवीं शताब्दी के समाजशास्त्र को यद्यपि निश्चयात्मक (Positive) विज्ञान माना गया है जिसका प्रभाव प्राकृतिक विज्ञानों के समान था, फिर भी यह इतिहास के दर्शन एवं जैविक सिद्धान्तों के प्रभाव के कारण उद्विकासवादी था। साथ ही इसमें मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन एवं सम्पूर्ण इतिहास से सम्बन्धित अध्ययन किए जाते थे अर्थात् इसकी प्रकृति विश्वकोशीय थी।

समाजशास्त्र जैसे नवीन विज्ञान को समझने हेतु इसके उद्गम एवं विकास का अध्ययन करना अनिवार्य है। समाजशास्त्र का उद्गम एवं विकास पश्चिमी यूरोप की सामाजिक परिस्थितियों की देन है। औद्योगिक क्रान्ति, फ्रांस की क्रान्ति तथा ज्ञानोदय की इसके विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इनके परिणामस्वरूप न केवल पश्चिमी समाजों में एक नवीन आर्थिक क्रियाकलाप की पद्धति (जिसे पूँजीवाद कहा जाता है) विकसित हुई अपितु इनसे इन देशों की सामाजिक संरचना पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। गाँव से शहरों की ओर प्रवर्जन, सामाजिक गतिशीलता, शिक्षा एवं रोजगार में वृद्धि, लौकिक दृष्टिकोण के विकास के साथ–साथ अनेक सामाजिक समस्याएँ भी विकसित होने लगीं। औद्योगिक मजदूरों एवं खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई तथा उत्पादन कार्यों में इनका शोषण होने लगा। पूँजीवाद की सेवा हेतु सत्रहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में बड़ी संख्या में अफ्रीकियों को दास बनाया गया। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दास प्रथा कम होने लगी, तथापि अनेक उपनिवेशवादी देशों में यह बँधुआ मजदूरों के रूप में आज भी प्रचलित है। इन सभी परिवर्तनों एवं समस्याओं के बारे में विद्वानों द्वारा चिन्तन के परिणामस्वरूप समाजशास्त्र का विकास हुआ है।

19वीं शताब्दी में समाजशास्त्र के विकास में अनेक बौद्धिक एवं भौतिक परिस्थितियों ने सहायता प्रदान की, जिनमें से चार बौद्धिक परिस्थितियों को **टी० बी० बॉटोमोर** (T. B. Bottomore) ने महत्त्वपूर्ण माना है। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं–

(1) राजनीति का दर्शन (Political Philosophy),

(2) इतिहास का दर्शन (The philosophy of history),

(3) उद्विकास के जैविक सिद्धान्त (Biological theories of evolution) तथा

(4) सामाजिक एवं राजनीतिक सुधारात्मक आन्दोलन (The movement for social and political reform)।

इनमें से दो, इतिहास के दर्शन तथा सामाजिक सर्वेक्षण (जो कि आन्दोलनों के परिणामस्वरूप शुरू हुए), ने प्रारम्भ में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। एक विशिष्ट शाखा के रूप में इतिहास का दर्शन अठारहवीं शताब्दी की देन है जिसे **अबे डे सेण्ट–पियरे** (Abbe de Saint-Pieare) तथा **ग्यिम्बाटिसटा विको** (Giambattista Vico) ने शुरू किया। प्रगति के जिस सामान्य विचार को निर्मित करने का उन्होंने प्रयत्न किया उसने मानव की इतिहास सम्बन्धी धारणा को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। फ्रांस में **मॉण्टेस्क्यू** (Montesquieu) और **वॉल्टेयर** (Voltaire), जर्मनी में **हर्डर** (Herder) तथा स्कॉटिश इतिहासज्ञों एवं दार्शनिकों जैसे **फर्ग्यूसन** (Ferguson), **मिलर** (Millar), **रोबर्टसन** (Robertson) इत्यादि की रचनाओं में इतिहास के दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में **हीगल** (Hegel) तथा **सेण्ट साइमन** (Saint Simon) के लेखों के परिणामस्वरूप इतिहास का दर्शन एक प्रमुख बौद्धिक प्रभाव बन गया। इन्हीं दोनों विचारकों से **कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) तथा **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) की रचनाएँ विकसित हुईं। समाज की नवीन धारणा, जो कि राज्य की धारणा से भिन्न है, दार्शनिक इतिहासकारों की ही देन है।

आधुनिक समाजशास्त्र के विकास में सहायक दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामाजिक सर्वेक्षण कहा जा सकता है जिसके दो प्रमुख स्रोत थे–प्रथम, यह विश्वास कि प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों को सामाजिक घटनाओं एवं मानव क्रियाकलापों के अध्ययन में प्रयुक्त किया जा सकता है और दूसरा, यह विश्वास कि गरीबी प्रकृति या दैवी प्रकोप नहीं है अपितु मानव प्रयास द्वारा इसे दूर किया जा सकता है। इन दोनों विश्वासों के परिणामस्वरूप समाज–सुधार के लिए किए गए इन आन्दोलनों का 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के पश्चिमी यूरोप की सामाजिक परिस्थितियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। सामाजिक परिवर्तन में रुचि के कारण ऐतिहासिक तथा सामाजिक आन्दोलनों की ओर ध्यान दिया जाने लगा।

समाजशास्त्र के विकास से जुड़े सभी प्रारम्भिक विचारक 19वीं सदी में पश्चिमी यूरोप में विद्यमान सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं या शक्तियों से प्रभावित थे। यही वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जिससे समाजशास्त्र का उदय हुआ। अनेक विद्वानों; जैसे **बाल्डरिज** (Baldridge) ने उन तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दशाओं का वर्णन किया है जिन्होंने समाजशास्त्र के विकास को प्रेरित किया है। ये दशाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) तीव्र एवं क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन–बाल्डरिज ने उचित ही लिखा है, ''19वीं शताब्दी में जितनी अधिक तीव्रता से परिवर्तन घटित हो रहा था उतना इतिहास में अन्य किसी काल में घटित नहीं हुआ।'' इस शताब्दी में इन तीव्र सामाजिक परिवर्तनों के तीन प्रमुख कारण थे–

(i) औद्योगिक क्रान्ति–1750 ई० को इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ वर्ष माना जाता है। यह क्रान्ति लगभग सौ वर्ष अर्थात् 1850 ई० में पूर्ण हुई। इस क्रान्ति ने वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रिया में बृहत् मशीनों के प्रयोग का प्रचलन किया। ये मशीनें शक्ति के जड़ साधन; जैसे–भाप से चालित होती थीं। उत्पादन में मशीनों के प्रयोग पर आधारित तकनीकी ने आधुनिक उद्योगों का प्रारम्भ किया। भूमि के स्थान पर धन का प्रमुख स्रोत उद्योग बन गए। पुराने कुटीर उद्योग–धन्धे ढह गए। फैक्ट्रियों व कारखानों में काम करने के लिए दूर–दूर से मजदूर आकर एकत्रित होने लगे। हाथ के कारीगर बेरोजगार हो गए थे और वे कारखानों में काम करने के लिए मजबूर थे। बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिए बड़ी मात्रा में कच्चे माल की खपत होने लगी। निर्मित माल के विक्रय के लिए बाजार का भी विस्तार आवश्यक हो गया। पश्चिमी यूरोप के देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार तलाशना स्वाभाविक बन गया। औद्योगीकरण ने भूमि से आय पर आधारित सामन्तशाही को धराशाही कर दिया। उद्योगपतियों की आपसी होड़ और अधिक–से–अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप कारखानों में मजदूरों की दशा दयनीय हो गई। 12 से 14 घण्टे काम लिया जाना स्वाभाविक था, स्त्रियाँ और बच्चे भी खानों में काम पर लगाए जाने लगे क्योंकि वे पुरुषों की अपेक्षा सस्ते मजदूर थे। हवा व प्रकाश की व्यवस्था नहीं थी। व्यवसाय में मजदूर के रोगग्रस्त हो जाने या दुर्घटना में अंग–भंग हो जाने या मर जाने पर भी क्षतिपूर्ति के कोई नियम नहीं थे। औद्योगिक नगर समृद्धि के चारों ओर दर्दनाक गरीबी के साक्षी बन गए थे। पुराने सामाजिक मूल्य और परम्पराएँ आम जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक नहीं रह गए थे। नए मूल्यों और परम्पराओं का पूरी तरह विकास नहीं हो पाया था।

(ii) नगरीय क्रान्ति–स्पष्ट है कि उद्योगों की शुरुआत नगरों में हुई। इस प्रकार, तीव्र गति से नगरीकरण हुआ। गाँव से शहरों की ओर प्रवास ने नगरीय जीवन के आदर्शों और मूल्यों को कस्बों और ग्रामों की जनता में फैलने में सहायता प्रदान की। औपचारिकता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के विकास को बल मिला। इस नगरीकरण में उत्तरोत्तर जटिल होते हुए श्रम–विभाजन और विशिष्टीकरण ने भी योगदान प्रदान किया। भाप के रेल के इंजन के आविष्कार ने यातायात के क्षेत्र में नई क्रान्ति ला दी।

प्रत्येक राष्ट्र में रेलों का जाल बिछाया जाने लगा। इससे न केवल यातायात का वरन् संवाद वहन (संचार) का भी कल्पनातीत विस्तार हुआ। नगरीकरण ने छोटे–छोटे कृषि समुदायों का ह्रास कर दिया।

(iii) राजनीतिक उतार–चढ़ाव–यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी में ही इंग्लैण्ड में **क्रोमवैल** (Cromwell) के नेतृत्व में संसदीय शक्तियाँ अपने चरम पर पहुँच गई थीं जब वहाँ के राजा चार्ल्स प्रथम को 30 जनवरी 1649 को मृत्यु का दण्ड दिया गया, तथापि फ्रांस की राजनीतिक क्रान्ति (1789-1799) ने प्रजातन्त्र के विकास पर अन्तिम मोहर लगाई। इससे पूर्व अमेरिका में घटित क्रान्ति (1783-1789) प्रजातन्त्र, राजनीति में समानता, भ्रातृत्व व स्वतन्त्रता के आधार पर जन सहभागिता वाली व्यवस्था के विकास की एक आवश्यक कड़ी सिद्ध हुई। 19वीं शताब्दी शनैः शनैः गणतन्त्रीय प्रणाली के विकास की शताब्दी बन गई है। इन क्रान्तियों ने विश्व–स्तर पर मानव समाज को प्रभावित किया। **बाल्डरिज** ने उचित ही लिखा है कि ''राजनीतिक उतार–चढ़ावों–जिनका प्रारम्भ 18वीं सदी के अन्तिम वर्षों में फ्रांसीसी व अमेरिकी क्रान्तियों ने किया–ने समाज को हिला दिया।'' राजतन्त्र व सामन्तशाही के विनाश की प्रक्रिया का बिगुल इन्हीं क्रान्तियों ने बजाया था।

(2) विभिन्न संस्कृतियों से सामना–यूरोप के देशों–स्पेन, फ्रांस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल, डेनमार्क–का अमेरिका, अफ्रीका व एशिया में उपनिवेश स्थापित करने की प्रक्रिया 16वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गई थी। 19वीं शताब्दी में तो इन शक्तियों द्वारा विभिन्न देशों में स्थापित साम्राज्य अपने चरम पर थे। परिणामतः यूरोप के लोग ऐसे समाजों के सम्पर्क में आए जो उनसे सर्वथा भिन्न थे। उन्होंने देखा कि संसार में विवाह, परिवार, धर्म, आदर्श की बड़ी विभिन्नताएँ हैं। मानव समाजों में विभिन्न आदर्शों व मूल्यों के आधार पर सामाजिक जीवन को सफलतापूर्वक संगठित एवं संरचित किया गया है। इन सांस्कृतिक सम्पर्कों के दो स्वाभाविक परिणाम हुए–प्रथम, मानव समाजों के बारे में बृहत् तथ्य एकत्रित हो गए जिनके आधार पर मानव–समाज की संरचना एवं गत्यात्मकता के सम्बन्ध में सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचने में सुगमता हुई। द्वितीय, विभिन्न संस्कृतियों के साथ होने वाले अनुभवों ने यूरोप के निवासियों को अपने समाज पर भी आलोचनात्मक दृष्टि डालने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार, सामाजिक आलोचना को वैधता प्राप्त हुई।

(3) वैज्ञानिक क्रान्ति–19वीं शताब्दी में भौतिक विज्ञानों ने अभूतपूर्व उपलब्धियाँ हासिल कीं। यूँ तो इस वैज्ञानिक क्रान्ति का सूत्रपात 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हो गया था। इतिहासकार **एडविन डनबॉफ** (Adwin Dunbaugh) के शब्दों में, ''यह शब्द (वैज्ञानिक क्रान्ति) उस मनोवृत्ति में परिवर्तन को प्रकट करता है जो 1600 वर्षों में प्राकृतिक विश्व के अध्ययन करने के तरीकों से हुआ था। 1600 ई० में एक व्यक्ति को इसलिए जिन्दा जला दिया गया था कि उसने ब्रह्माण्ड को असीमित बताने की हिमाकत की थी। 1700 ई० आते–आते **सर आइजक न्यूटन** (Sir Isaac Newton), जो असीम ब्रह्माण्ड के संचालित होने के नियमों को खोजने का प्रयास कर रहे थे, को यूरोप का सबसे सम्मानित व्यक्ति माना गया।'' संसार के अध्ययन की पद्धतियों में प्रयोग व आनुभविक अनुसन्धानों के सम्मिलित हो जाने से विज्ञान के क्षेत्र में एक ऐसा दौर शुरू हुआ जिसने समाज के रूप को, सामाजिक जीवन को ऊपर से नीचे तक बदल कर रख दिया। यह स्वाभाविक था कि इन वैज्ञानिक पद्धतियों का सामाजिक अध्ययनों में प्रयोग किया जाता। 19वीं शताब्दी में इस पर जोर दिया गया कि सामाजिक संरचना और समस्याओं को समझने में वैज्ञानिक दृष्टिकोण व पद्धति का प्रयोग किया जाए।

(4) लौकिकवाद का चरमोत्कर्ष–19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही लौकिकीकरण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। इस प्रक्रिया का सूत्रपात तो इटली में हुए पुनर्जागरण में हो गया था जो 1350 से 1550 तक चलता रहा। इस प्रक्रिया को बल यूरोप में 1715 से 1789 ई० तक घटित होने वाली राजनीतिक साहित्यिक घटनाओं से भी मिला। वास्तव में, यूरोप में इन 75 वर्षों को 'तर्क का युग' (Age of reason)

कहा जाता है। सदियों तक यूरोप धर्म (संगठित चर्च) से प्रभावित या शासित होता चला आया था। मानव के जीवन का हर क्षेत्र धर्म से प्रभावित था। धार्मिक ग्रन्थों के या पुरोहितों के विरुद्ध कुछ भी कहना अन्धविश्वास का प्रचार माना जाता था जिसका दण्ड एक खम्भे से बाँधकर जिन्दा जला दिया जाना था। राजा भी देवपुत्र माना जाता था जिसको शासक के दैवी अधिकार प्राप्त थे। इन परिस्थितियों में इस लोक में जनसाधारण के लिए उत्पीड़न के सिवाय कुछ नहीं था; वे तो वहाँ अपने पापों का प्रायश्चित करने को जन्मे थे, इसलिए मरणोपरान्त दूसरी दुनिया में ही वे कुछ सुख पाने की कल्पना कर सकते थे। इटली में प्रारम्भ हुई पुनर्जागरण की प्रक्रिया, प्रोटेस्टैण्ट विद्रोह तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मानव को धर्म की बेड़ियों से मुक्त कराया। इन सभी शक्तियों ने जनसाधारण के मन में लौकिकवाद के प्रति आस्था पैदा की।

लौकिकवाद का अर्थ 'धर्म का विरोध' अथवा 'धर्म के प्रति तटस्थता' या 'धर्मनिरपेक्षता' नहीं है। इसका आशय तो यह है कि संसार सत्य है। मानव का जीवन बड़ा पुण्यमय है। वह अपने परिश्रम द्वारा अपनी भौतिक स्थिति में सुधार कर सकता है। धर्म पूजा–पाठ व ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की एक पद्धति है और उसे वहीं तक सीमित रहना चाहिए। मनुष्य अपने व्यवसाय में उन्नति करे यह उसका कर्त्तव्य है। उसके द्वारा धनोपार्जन द्वारा वह इसी संसार में ऐश्वर्य व सुख से रह सकता है। यह उसका अटल अधिकार है। वह विवेकपूर्वक अपनी सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था में परिवर्धन, संशोधन व परिवर्तन कर सकता है। इस लौकिक जीवन को उन्नत करने में न केवल वह सक्षम है वरन् ऐसा करना उसका नैतिक कर्त्तव्य है। धर्म को इन मामलों से परे ही रखा जाना चाहिए। सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्रियाएँ लौकिक क्रियाएँ हैं, धार्मिक क्रियाएँ नहीं। इस लौकिकवाद ने शासनतन्त्र के लिए समरूपता, कार्यक्षमता व व्यवस्था के आदर्शों पर बल दिया। सामाजिक संरचना के लिए मानववाद, समानता, व्यक्ति के मौलिक अधिकार व मुक्त सामाजिक गतिशीलता जैसे आदर्शों की स्थापना की। इस प्रकार, अनेक ऐसी धार्मिक निषेधाज्ञाएँ जो समाज के अध्ययन के विरुद्ध लगी हुई थीं 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तिरोहित हो गईं। इससे समाज के वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(5) सामाजिक समस्याएँ और उनका वैज्ञानिक अध्ययन–औद्योगीकरण ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया। हम पुन: **बाल्डरिज** को ही उद्धृत करना चाहेंगे क्योंकि उन्होंने 19वीं शताब्दी के यूरोपीय समाज की समस्याओं पर बड़ी सटीक टिप्पणी करते हुए लिखा है, ''19वीं शताब्दी में सामाजिक दशाएँ विशेषतया कठिन हो गई थीं क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति तथा तीव्र नगरीकरण ने बहुत दु:खदायी परिस्थितियों को जन्म दिया। बाल श्रम, कष्टकारी दुकानदारी, श्रम विवाद, भयावह आवास दशाएँ, सदियों से चलते आ रहे युद्ध के विनाशकारी परिणाम सभी सामाजिक परिदृश्य के अंग बन चुके थे।'' स्वाभाविक था कि विचारशील बुद्धिजीवियों का ध्यान इस ओर जाता। उन्होंने इन समस्याओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन प्रारम्भ किया। इनका वैज्ञानिक स्पष्टीकरण और निदान उनकी जिज्ञासा के केन्द्र विषय बन गए। इससे 'समाज की पुनर्रचना' के विचार को प्रोत्साहन मिला। उदाहरण के लिए–मार्क्स ने इन समस्याओं की जड़ में सम्पत्तिशाली वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग के शोषण को बताया और सर्वहारा क्रान्ति में ही इसके निदान का सुझाव दिया। दुर्खीम ने व्यावसायिक आचरण संहिताओं के विकास और व्यावसायिक संघों के गठन में इन समस्याओं से मुक्ति का मार्ग सुझाया। इन समस्याओं के अध्ययनों ने 'सामाजिक सर्वेक्षण' के महत्त्व को भी सिद्ध किया।

(6) अनेक समाज सुधार आन्दोलन–ऐसे समय में अनेक समाज सुधार आन्दोलन उभर कर सामने आए। 'सामाजिक सन्देश' तथा 'मुक्ति वाहिनी' ऐसे धार्मिक आन्दोलन थे जो समाज सुधार के लिए कार्य कर रहे थे। प्रमुख श्रम संघों का उदय हुआ जो श्रमिकों के हितों की रक्षा और कार्य की दशाओं में सुधार के लिए कटिबद्ध थे। नए राजनीतिक दलों का उदय हुआ जो नव–चेतना पर आधारित विचार–दर्शन

के आधार पर गठित हुए थे। फ्रांस के समाजवादी विचारक **सेण्ट साइमन** (Saint Simon) का सुझाव था कि उद्योग और सरकार का प्रशासन पर्यायवाची होना चाहिए जिसका उद्देश्य सभी के अधिकतम हितों की पूर्ति हो। **चार्ल्स फ्यूरियर** (Charles Fourier) ने आन्दोलन चलाया कि राज्य का उन्मूलन कर दिया जाए, उसकी जगह समाज को छोटी–छोटी आदर्श बस्तियों (Phalanges) में गठित किया जाए तथा प्रत्येक व्यक्ति को उस कार्य को करने का अधिकार मिले जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है। इंग्लैण्ड में **रोबर्ट ओवन** (Robert Owen : 1771-1858) ने एक आदर्श फैक्टरी की स्थापना की जिसका प्रशासन स्वयं श्रमिकों को करना था। ओवन का विश्वास था कि सुखी और स्वस्थ श्रमिक अधिक उत्पादन करेंगे। परन्तु अन्य उद्योगपतियों ने ओवन का अनुकरण नहीं किया। वैसे भी, उसका उपर्युक्त प्रयोग असफल हो गया। फिर भी, इन आन्दोलनों ने सामाजिक परिवर्तन की दिशाओं की ओर सशक्त इशारा किया।

(7) सामाजिक विधानों द्वारा सुधार–इंग्लैण्ड उपर्युक्त समस्याओं का सबसे अधिक शिकार था। अत: उसी को यह श्रेय है कि उसने सामाजिक विधानों द्वारा स्थिति को नियन्त्रित करने की दिशा में भी पहल की। संसद फैक्टरी–नियन्त्रण और सामाजिक सुधार का मंच बन गई। 1802 ई० में पहला फैक्टरी एक्ट पारित हुआ जिसके द्वारा कुछ सरकारी उद्योगों ने नौ वर्ष से कम की आयु के बालकों से 12 घण्टे प्रतिदिन से अधिक कार्य लेने को निषिद्ध कर दिया गया। बाद में 1832, 1842, 1847 एवं 1855 ई० में फैक्टरी एक्ट पारित कर श्रमिकों की कार्य दशाओं को उन्नत करने के प्रयास किए गए। ये विधान अन्य देशों के लिए भी आदर्श बन गए।

(8) भरपूर बौद्धिक सृजन–19वीं शताब्दी में बौद्धिक विकास भी भरपूर हुआ। समाज के सभी क्षेत्रों में नए विचार दर्शन उत्पन्न हुए। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो 19वीं शताब्दी में विभिन्न वैचारिकियों के शिविर अपने–अपने दावे प्रस्तुत कर रहे हों कि उन्हीं के अनुसार मानव और समाज का कल्याण हो सकता है। राजनीति के क्षेत्र में रूढ़िवाद, उदारवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद और मार्क्सवाद सुदृढ़ विचार दर्शनों के रूप में विकसित हुए। समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी अनेक विचार सम्प्रदायों का उदय हुआय जैसे–विकासवाद, प्रगतिवाद, यथार्थवाद, प्रौद्योगिकीय निर्णयवाद, आर्थिक निर्णयवाद, सावयवीवाद, समाजशास्त्रीयवाद आदि। कला और साहित्य के क्षेत्र में शास्त्रीयवाद के साथ–साथ रोमांसवाद, यथार्थवाद, प्रयोजनवाद, प्रभाववाद विकसित हुए। इस शताब्दी में इस प्रकार की बौद्धिक सृजनता का विकसित होना स्वाभाविक भी था क्योंकि विज्ञान, तकनीकी, यातायात व संवाद वहन के साधनों ने विश्व को एक इकाई में बाँध दिया था, मानो सारा विश्व ही पश्चिमी यूरोप के उद्योगों के लिए एक बृहत् बाजार बन गया हो। राष्ट्रवाद विकसित हो गया था और उसका राजनीति की अन्य धाराओं पर प्रभुत्व बढ़ गया था। 1848 ई० यूरोपीय समाज में एक नए मोड़ का वर्ष है। इस वर्ष अनेक यूरोप के देशों में राज्य क्रान्तियाँ हुईं जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि कोरा उदारवाद समस्याओं को हल नहीं कर सकता। एक मजबूत केन्द्रीय शासन और क्रान्तिकारी विचारधारा ही समस्याओं का समाधान कर सकती है।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उद्योग के क्षेत्र में अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए। औद्योगीकरण पर अब इंग्लैण्ड का एकाधिकार ही नहीं था वरन् वह अब पूरे यूरोप व अमेरिका में फैल चुका था। संयुक्त राज्य अमेरिका द्रुत गति से एक विश्व शक्ति के रूप में विकसित हो गया था। बड़े उद्योग और एकाधिकारी संगठनों के सामने छोटे उद्योगपति या व्यापारी लुप्त होने लगे थे। विज्ञान की निरन्तर उपलब्धियों ने ज्ञानोदय के इस स्वप्न को कि अन्ततोगत्वा मानव समाज पूर्णता प्राप्त कर लेगा, करीब–करीब सम्भव बना दिया था। **डनबॉफ** (Dunbaugh) ने उचित ही लिखा है, ''जैसे पुनर्जागरण में अतीत की पूजा थी, 18वीं सदी में तर्क की पूजा थी, इसी भाँति 19वीं शताब्दी के बाद के वर्षों में विज्ञान की पूजा थी।''

डनबॉफ के ही शब्दों में हम 19वीं शताब्दी की सामाजिक और आर्थिक दशाओं के विश्लेषण का समापन कर सकते हैं। उन्होंने लिखा है कि ''19वीं शताब्दी यूरोप का स्वर्णिम युग था। जैसे ग्रीस में 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व और इटली में पुनर्जागरण, इसी भाँति पूँजीपति समाज अपनी प्रौढ़ता पर पहुँच चुका था जो सांस्कृतिक फसल उत्पन्न भी कर रहा था और काट भी रहा था।''

समाजशास्त्र के विकास का बौद्धिक सन्दर्भ (ज्ञानोदय) तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों (प्रमुख रूप से फ्रांस की क्रान्ति एवं औद्योगिक क्रान्ति) के परिणामस्वरूप लौकिकवाद, मानववाद, व्यक्तिवाद, उदारवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद जैसी विचारधाराएँ विकसित हुईं जिन्होंने मानव के सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। इनसे एक नवीन सामाजिक दर्शन का भी विकास हुआ जिसका लक्ष्य मानव में अन्तर्निहित सभी शक्तियों के विकास को सम्भव बनाना और इस धरा पर उसके जीवन को आनन्दमय बनाना था। यही वह दर्शन है जिसने समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा इसीलिए इस सामाजिक दर्शन को समाजशास्त्र के विकास का आधारस्तम्भ कहा गया है।

उपर्युक्त समसामयिक दशाओं ने फ्रांस के **सेण्ट साइमन**, जर्मनी के **कार्ल मार्क्स** जैसे विचारकों को जन्म दिया, जिन्होंने एक नए सामाजिक विज्ञान की रूपरेखा प्रस्तुत की। **ऑगस्त कॉम्ट** ने इस नए विज्ञान का नामकरण किया, जबकि स्पेन्सर और दुर्खीम ने उसे प्रतिष्ठित किया। **बॉटोमोर** का कहना है कि इस प्रकार समाजशास्त्र का पूर्व इतिहास सौ वर्षों की उस अवधि से सम्बन्धित है जो लगभग 1740 ई० से 1850 ई० तक की है। उन्होंने 19वीं शताब्दी में विकसित समाजशास्त्र की निम्नलिखित तीन विशेषताओं का भी उल्लेख किया है–

(1) यह विश्वकोशीय (Encyclopaedic) था,

(2) यह उद्विकासवादी (Evolutionary) था तथा

(3) यह निश्चयात्मक (Positive) था।

समाजशास्त्र के विकास में प्रारम्भिक विद्वानों की समाज–सुधार में रुचि ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1880 ई० से 1920 ई० के काल में तीव्र औद्योगीकरण के कारण सामाजिक परिवर्तन के अध्ययनों में रुचि विकसित हुई तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इसे विज्ञान की स्थिति प्राप्त हो गई। समाज–सुधार तथा सामाजिक अनुसन्धान के घनिष्ठ सम्बन्ध के परिणामस्वरूप आनुभविक अनुसन्धान को प्रोत्साहन मिला तथा नीति–निर्माण करने वालों ने समस्याओं के समाधान के लिए समाजशास्त्रियों की ओर देखना शुरू कर दिया जिससे व्यावहारिक अनुसन्धान प्रारम्भ हुए।

हेरी एम० जॉनसन का मत है कि आज समाजशास्त्र निश्चित रूप से एक विज्ञान है, यद्यपि यह अन्य विज्ञानों से थोड़ा पिछड़ा हुआ है। इसमें विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं–

(1) समाजशास्त्र आनुभविक (Empirical) है, क्योंकि यह तार्किक चिन्तन पर आधारित है।

(2) यह सैद्धान्तिक (Theoretical) है, क्योंकि इसमें घटनाओं के कार्य–कारण सम्बन्धों के आधार पर नियम बनाए जाते हैं।

(3) यह संचयी (Cumulative) है अर्थात् समाजशास्त्रीय सिद्धान्त एक के आधार पर दूसरे बनते हैं।

(4) यह नैतिकता–मुक्त (Non-ethical) है अर्थात् समाजशास्त्री का कार्य तथ्यों की व्याख्या करना है, उन्हें अच्छा या बुरा बताना नहीं।

फ्रांस के पश्चात् अमेरिका में समाजशास्त्र का अध्ययन–कार्य सर्वप्रथम 1876 ई० में 'येल विश्वविद्यालय' से प्रारम्भ हुआ और इस विषय का सर्वाधिक विकास अमेरिका में ही हुआ है। अमेरिकी समाजशास्त्रियों में समनर, रॉस, सोरोकिन, ऑगबर्न एवं निमकॉफ, मैकाइवर एवं पेज, यंग, लुण्डबर्ग,

जिमरमैन, पारसन्स, मर्टन, किंग्सले डेविस आदि प्रमुख हैं। आज यद्यपि फ्रांस, अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा जर्मनी में समाजशास्त्र एक सर्वाधिक लोकप्रिय विषय है, फिर भी संसार में शायद ही कोई ऐसा देश हो जिसमें आज समाजशास्त्र का अध्ययन न हो रहा हो। भारत में समाजशास्त्र का एक अलग व संस्थागत विषय के रूप में विकास 1919 ई० में हुआ जबकि 'बम्बई विश्वविद्यालय' में पैट्रिक गैडिस की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग का गठन किया गया।

3.4 सारांश

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसमें सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक जीवन, सामाजिक घटनाओं, सामाजिक समूहों, सामाजिक क्रियाओं इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। इस विषय का उद्भव एवं विकास 1838 ई० में फ्रांस में हुआ तथा ऑगस्त कॉम्ट इसके जनक माने जाते हैं। उन्होंने इसे पहले 'सामाजिक भौतिकी' का नाम दिया था, परन्तु विरोध के कारण उन्होंने इसे समाजशास्त्र की संज्ञा दी। यह विषय समस्त सामाजिक विज्ञानों की रानी कहा जाता है। इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ गए होंगे कि इसके उद्भव एवं विकास में पश्चिमी यूरोप की अनेक परिस्थितियों को उत्तरदायी माना जाता है। इन कारकों में औद्योगिक क्रान्ति, फ्रांस की क्रान्ति तथा ज्ञानोदय का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यूरोप में होने वाले अमूलचूल परिवर्तनों एवं इनके परिणामस्वरूप उत्पन्न समस्याओं को समझने के प्रयास से इस विषय का विकास हुआ है। आज समाजशास्त्र सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण विषय माना जाता है। विश्व के सभी देशों में यह विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में अग्रणी स्थान प्राप्त करता जा रहा है।

3.5 शब्दावली

समाजशास्त्र – समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसे सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं तथा समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

सामाजिक सम्बन्ध – सामाजिक सम्बन्ध से अभिप्राय दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों में पाए जाने वाले सम्बन्ध से है जिन्हें एक–दूसरे का आभास है तथा जो एक–दूसरे के लिए कुछ–न–कुछ कार्य कर रहे हैं।

निश्यात्मक विज्ञान – इससे अभिप्राय प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति ऐसे विज्ञानों से है जिनमें वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है।

लौकिकवाद – वह विचारधारा जो तर्क पर आधारित होती है। अनेक बार इसका प्रयोग धर्म एवं राजनीति को एक–दूसरे से पृथक् करने के रूप में किया जाता है।

नैतिकता–मुक्त – इससे अभिप्राय नैतिक मूल्यों की दृष्टि से तटस्थ अध्ययन है। ऐसा अध्ययन जो अच्छा या बुरा न बताकर केवल तथ्यों की व्याख्या करता है, नैतिकता मुक्त अध्ययन कहलाता है।

आनुभविक विज्ञान – इससे अभिप्राय ऐसे विज्ञान से है जो क्षेत्राधारित अध्ययनों पर बल देता है।

सामाजिक क्रिया – वह क्रिया सामाजिक क्रिया कही जाती है जो अर्थपूर्ण होती है तथा अन्यों द्वारा प्रभावित होती है।

3.6 अभ्यास प्रश्न

1. समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा इसकी उपयुक्त परिभाषा दीजिए।
2. "समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है।" इस कथन के परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

3. ''समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. समाजशास्त्र का अर्थ बताइए। इसकी सर्वमान्य परिभाषा देना क्यों कठिन है? समझाइए।
5. समाजशास्त्र को परिभाषित कीजिए तथा इसके ऐतिहासिक प्रारम्भ की व्याख्या कीजिए।
6. समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
7. समाजशास्त्र क्या है? इसके विकास में सहायक कारकों का उल्लेख कीजिए।
8. समाजशास्त्र को परिभाषित कीजिए। यूरोप की उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जो इस विषय के विकास में सहायक रही हैं।

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

A. W. Green (1964), **Sociology : An Analysis of Life in Modern Society**, *McGraw-Hill* Book Company, New York.

Arnold M. Rose (1965), **Sociology : The Study of Man in Society**, C. E. Merrill *Books*, Columbus, Ohio.

E. S. Bogardus (1981), **A History of Social Thought**, ***University*** of Southern California Press, Los Angeles.

Edwin Dunbaugh (1969), **World History**, Collier Quick and Easy Series, Harcourt Brace & World, San Diego.

F. E. Lumley (1994), **Principles of Sociology**, Macgraw Hill Book Company, New York.

F. H. Giddings (1901), **Inductive Sociology**, The Macmillan Company, New York.

F. H. Giddings (2004), **Principles of Sociology**, The Macmillan Company, New York.

Georg Simmel (1896), "The Problem of Sociology" in **Annals of the American Academy of Political and Social Science**, Vol. VI, p. 54.

H. W. Odum (1947), **Understanding Society : The Principles of Dynamic Sociology**, The Macmillan Company, New York.

Harry M. Johnson (1960), ***Sociology*** **: A Systematic Introduction**, Routledge and Kegan Paul, London.

Irving M. Zeitlin (2001), **Ideology and the Development of Sociological Theory**, Prentice Hall, New Jersey.

J. Biesanz and M. Biesanz (1964), **Modern Society**, Prentice-Hall of India, New Delhi.

J. F. Cuber (1959), **Sociology : A Synopsis of Principles**, Appleton Century Crofts, Inc., New York.

J. L. Gillin and J. P. Gillin (1948), **Cultural Sociology**, The Macmillan Company, New York.

J. Victor Baldridge (1975), **Sociology : A Critical Approach to Power, Conflict and Change**, John Wiley, New York.

John W. Bennett and Melvin M. Tumin (2012), **Social Life, Structure and Function: An Introductory General Sociology**, Literary Licensing, LLC, United States.

Kimball Young (1934), **An Introductory Sociology**, American Book Company, New York.

Kimball Young (1946), **A Handbook of Social Psychology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

L. F. Ward (1902), **Popular Science Monthly**, June, 1902.

Margaret Wilson Vine (1969), **An Introduction to Sociological Theory**, D. McKay Company, New York.

Max Weber, Quoted in Alex Inkeles (1964), **What is Sociology ?**, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, N.J.

Morris Ginsberg (1950), **Sociology**, Oxford University Press, New York.

Neil J. Smelser (2013), **Sociology**, University of California Press, Berkeley.

P. A. Sorokin (1947), **Society, Culture and Personality : Their Structure and Dynamics, A System of General Sociology**, Harper & Brothers, New York.

P. Gisbert (1989), **Fundamentals of Sociology**, Orient Longman, Bombay.

T. B. Bottomore (1971), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.

W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff (1964), **A Handbook of Sociology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

इकाई 4 – एक वैज्ञानिक विषय के रुप में समाजशास्त्र का प्रारम्भ
(Beginning of Sociology as a Scientific Discipline)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देष्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 आगस्त कॉम्ट परिचय

4.3 जीवन एवं कृतियाँ

4.4 कॉम्ट की दृष्टि में समाजषास्त्र एवं इसका उद्भव

4.5 समाजशास्त्र एक विज्ञान हैं।

4.6 समाजशास्त्र की उपयोगिता

4.7 सारांष

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

4.9 अभ्यास/बोध प्रष्नों के उत्तर

4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.12 निबंधात्मक प्र"न

4.0 उद्देश्य–

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगें कि

1. समाज"ाास्त्र का उद्भव किन परिस्थितियों मे हुआ?
2. अगस्त काम्ट समाज"ाास्त्र के पिता क्यों है?
3. समाज"ाास्त्र एक विज्ञान के रुप में।

4.0 प्रस्तावना

किसी युग की सामाजिक परिस्थितियों एवं तत्कालिक विचारों के बीच सदैव सम्बंध हुआ करता है। जैसा कि हम जानते हैं कि समाज"ाास्त्र का उद्भव फ्रांस मैं हुआ। इस लिए हमें उस समय विधमान यूरोपीय सामाजिक परिस्थिती को जानना चाहिए। अतः एक वैज्ञानिक वि"ाय के रूप में समाज"ाास्त्र के **उद्भव कारक** यूरोप की सामाजिक परिस्थितियों में इतिहास के उस काल मे समझने होंगे। उस समय

यूरोप में दो बड़ी क्रांति **फ्रांसीसी क्रांति (1789)** एवं **औद्योगिक क्रांति (1760)** के कारण व्यापक सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए। इन्ही परिस्थितियों **को अगस्त काम्ट ने समाजशास्त्र (Sociology) शब्द का प्रयोग एवं वि"ाय के रूप में स्थापित किया। एक विषय के रूप में समाजशास्त्र (Sociology) की स्थापना सर्वप्रथम अगस्त कॉम्ट 1838 ई0 मे की थी** इस लिए उन्हें समाजषास्त्र का जनक (**Father of Sociology**) कहा जाता है। उन्होंने इस वि"ाय की कल्पना फ्रांस की औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं के अध्ययन करने के लिए की थी। समाजषास्त्र के प्रारम्भिक लेखकों में काम्ट के अलावा हरबर्ट **स्पेन्सर ,इमाइल दुर्खीम** तथा **मेक्स वेबर** का नाम विषे"ा रूप से लिया जाता है। समाजषास्त्र के विकास में इन लोगों का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

समाजषास्त्र के जनक अगस्त कॉम्ट ने समाजषास्त्र को न केवल जन्म दिया बल्कि विज्ञानों का संस्तरण प्रस्तुत करते हुए इसे सबसे नवीन, जटिल एव अग्रिम विज्ञान माना। उन्होने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए प्रत्यक्षवादी अध्ययन पद्धति की भी चर्चा की है।

4.2 आगस्त कॉम्ट (AUGUSTE COMTE) :1798.1857 परिचय :–

सामाजिक घटनाओं के व्यवस्थित अध्ययन की नींव डालने में जिन प्रमुख विद्वानों ने योगदान किया, उनमें फ्रांस के दार्षनिक आगस्त कॉम्ट का नाम सर्वोपरि है। कॉम्ट वह पहले विचारक थे जिन्होनें सामाजिक चिन्तन को एक व्यवस्थित क्रमबद्वता में संयोजित करके समाजषास्त्रीय चिन्तन की परम्परा आरम्भ की। यह सच है कि अपने इसी योगदान के कारण कॉम्ट को सामाजषास्त्र के जनक (**Father of Sociology**) के रूप में स्वीकार किया जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कॉम्ट से पूर्व सामाजिक चिन्तन की कोई परम्परा विद्यमान नहीं थी।

आगस्त कॉम्ट ने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बधित जो विचार प्रतिपादित किये उन पर कॉम्ट के विचारों का एक स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त, कॉम्ट के चिन्तन पर **सेन्ट साइमन** के प्रभाव की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके पष्चात् भी यह सच है कि कॉम्ट के समाजषास्त्रीय विचार एक बडी सीमा तक फ्रांस के मानवतावादी विचारों से प्रभावित हुए। फ्रांस की क्रांति ने जिन तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थियों को जन्म दिया, वे एक नयी मानवतावादी विचारधारा से प्रभावित थीं तथा यही दषाएं कॉम्ट के चिन्तन का एक आधाार सिद्व हुंयी।

4.3 जीवन एवं कृतियां (Life and works)

समाजषास्त्र के जनक अगस्त कॉम्ट का जन्म दक्षिण फ्रांस के मान्टपेलियर नाम स्थान में 19 जनवरी सन् 1798 में हुआ था। यह समय फ्रांस की उथल–पुथल की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का काल था। **फ्रांस की क्रांति** के अध्येताओं का कथन है कि उस समय निरंकुष सत्ता और बढ़ती हुई जनषक्ति के बीच हिंसात्मक संघ"ार्ा होने के कारण फ्रांस का सम्पूर्ण जन–जीवन अस्त–व्यस्त होने लगा था। **फ्रांस की क्रान्ति सन् 1789** में हुई और उसके पष्चात् उत्रीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही नैपोलियन की तानाषाही का उदय हुआ। इस प्रकार कॉम्ट के बौद्विक जीवन का प्रारम्भिक काल नैपोलियन की बढ़ती हुई सत्ता का काल था। स्प"ट है कि आगस्त कॉम्ट ने जिन सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियों में जन्म लिया

और जिस काल में उन्होंने अपना सामाजिक चिन्तन आरम्भ किया, वह काल मुख्यतः **अराजकता और सैन्य–शक्ति के विस्तार का काल** था।

आगस्त कॉम्ट का जन्म एक कैथोलिक परिवार में हुआ था। कॉम्ट का पूरा नाम **इसीडोर आगस्त मेरी फा–कोयस जेवियर कॉम्ट** था। यद्यपि कॉम्ट के पिता राजस्व कर–विभाग में एक छोटे से अधिकारी थे। लेकिन कॉम्ट में बचपन से ही एक बहुमुखी बौद्विक प्रतिभा परिलिक्षित होने लगी थी। एक ओर कॉम्ट के षिक्षक उन पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अनुषासनहीनता आचरण का आरोप लगाते थे जबकि कॉम्ट के सहपाठी उनकी बौद्विक क्षमताओं और स्थापित सत्ता के प्रति उनकें क्रान्तिकारी रूख के प्रषंसक थे। कॉम्ट के जीवन का यह प्रारम्भिक काल पूर्व मान्यताओं के विरोध का काल था जिसका स्प''ट रूप परिवार तथा स्कूल दोनों ही स्थानों पर रूढ़िवादी विचारों के रोमन कैथोलिक थे जबकि कॉम्ट कैथौलिक मत की आलोचना किया करते थे। एक 'ाासकीय अधिकारी होने के कारण कॉम्ट के पिता राजभक्ति के समर्थक थे जबकि कॉम्ट लोकतान्त्रिक प्रणाली एवं व्यक्गित स्वतन्त्रता को महत्वपूर्ण मानते थे। फ्रांस की क्रान्ति से लोकतन्त्र, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और मानवतावादी विचारों को जो प्रोत्साहन मिला था कॉम्ट उन्हीं विचारों पर अपने चिन्तन को 13 व''ार्ा की अल्पायु से ही विकसित करने लगे।

प्रारम्भिक षिक्षा के पष्चात् 19 व''ार्ा की आयु में कॉम्ट का सम्पर्क तत्कालीन प्रमुख विचारक **सेन्ट साइमन (1760–1825)** से हुआ जो उस काल के सर्वाधिक चर्चित विचारक थे। कॉम्ट ने जो कुछ भी लिखा वह केवल सेन्ट साइमन की ही देन थी तो इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता । सच तो यह है कि सेन्ट साइमन के विचारों में वह वैज्ञानिकता तथा क्रमबद्वता नहीं थी जो कॉम्ट ने समाजषास्त्र को प्रदान की । सेन्ट साइमन फ्रांसीसी कुलीनतन्त्र के सीमान्त सदस्य थे। और उनकी प्रति''ठा मुख्यतः एक कल्पनावादी समाजवादी के रूप तक ही सीमित रही। कॉम्ट और सेन्ट साइमन के घनि''ठ सम्बन्धों की समाप्ति सन् 1824 में तब हुई जब कॉम्ट ने सेन्ट साइमन के कुछ दूसरे अनुयायियों पर यह आरोप लगाया कि वे कॉम्ट ने **पाजिटिव फिजिक** नामक अपने लेख के द्वारा भी सेन्ट साइमन के उन विचारों की आलोचना करना आरम्भ कर दी जो अतिक्रान्तिकारिता अथवा तीव्र परिवर्तन के पक्ष में थे यहीं से इन दोनों विचारकों के रास्ते एक–दूसरे से अलग हो गए।

फरवरी सन् 1825 में कॉम्ट का विवाह **कारलोनी मेसिन** से हुआ। इस समय तक कॉम्ट अपने समाज में एक बौद्विक विचारक के रूप में प्रति''ठापित नहीं कर पाये थे। साथ ही अनेक भ्रमपूर्ण विवादों के कारण कॉम्ट का अपनी पत्नी से विवाह विच्छेद हो गया था। यह काल कॉम्ट के जीवन का एक दुःखद काल था। इसके पष्चात् भी कॉम्ट ने अपने आपको एक बौद्विक विचारक के रूप में स्थापित करने हेतु एक 'ोध पत्रिका **प्रोडक्टर** में विचारोत्तेजक लेख लिखने प्रारम्भ किये। इसी कम में उन्होंने **पाजिटिव फिजिक** पर एक पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया । धीरे–धीरे कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत के अनुयायियों की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ने लगी। कॉम्ट ने अपने जीवन में संघ''ार्ा करते हुए अनेक ग्रन्थों की रचना की । उनकी **मृत्यु 5 सितम्बर 1857** को हुई किन्तु उनकी रचनायें आज भी समाजषास्त्र की प्रमुख निधि है।

4.4 कॉम्ट की दृ''ट में समाजशास्त्र एवं उद्भव

कॉम्ट ने तार्किक दृ"टकोण को उपयोग मे लाते हुए बतलाया कि जब प्राणियों के अध्ययन करने वाले 'ाास्त्र को प्राणीविज्ञान या खगोल का अध्ययन करने वाले विज्ञान को खगोलषास्त्र कहना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। सामाजिक विचारों का व्यवस्थित अध्ययन करने वाले विज्ञान को पहले कॉम्ट ने **सामाजिक भौतिकी** का नाम दिया किन्तु बाद में उन्होंने सन् 1838 में इसे **समाजशास्त्र** नाम से सम्बोधित किया जो नाम अब पूर्णतया प्रति"ठत हो चुका है।

समाजषास्त्र वि''ाय के उद्भव की आवष्यकता कॉम्ट बहुत लम्बे समय से महसूस कर रहें थे। उनका विचार था कि समाज के बीच पाये वाले सम्बधों को धार्मिक एवं दार्षनिक चिन्तन से अलग करके एक नये विज्ञान के माध्यम से ही उनका व्यवस्थित अध्ययन किया जा सकता है। इस आवष्यकता की पूर्ति हेतु उन्होने समाज"ाास्त्र के नाम से एक नए वैज्ञानिक वि''ाय को जन्म दिया। कॉम्ट ने समाज"ाास्त्र को जिस दृष्टिकोण से समझने और विकसित करने का प्रयास किया उसे कॉम्ट के समाज"ाास्त्र सम्बधी अनेक विचारों की सहायता से समझा जा सकता है।

काम्ट ने सामाजिक चिन्तन के लिए **सोशल फिजिक्स अथवा सामाजिक भौतिकी** शब्द का प्रयोग किया तब उनके समकालीन विचारों और वैज्ञानिक ने उनकी इसलिए आलोचना की क्योकि इससे पहले **बेल्यिजम के वैज्ञानिक क्वेटलेट** ने सांख्यिकीय अध्ययनों के लिए सामाजिक भौतिकी या सोषल फिजिक्स 'ाब्द का प्रयोग कर लिया था। इसीलिए कॉम्ट ने सामाजिक भौतिकी नाम को छोडकर **लेटिन "ाब्द सोसियस** और **ग्रीक "ाब्द लोगस** की संधि के आधार पर सामजिक चिन्तन के लिए **सोशियोलोजी** "ाब्द का प्रयोग किया। समाज"ाास्त्र को परिभाषित करते हुए काम्ट ने लिखा है कि **समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था और प्रगति का विज्ञान है।** इस परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है। कि कॉम्ट समाज"ाास्त्र को समाजिक व्यवस्था और उसमें होने वाली प्रगति कि आधार पर स्प''ट करना चाहते थे। दूसरे "ाब्दों में यह भी कहा था कि कॉम्ट के लिए समाजषास्त्र का अध्ययन क्षेत्र सामाजिक व्यवस्था के अर्न्तगत आने वाले तत्वों या अंगों और उनकी प्रगति तक सीमित है। समाजषास्त्र के उस अध्ययन क्षेत्र की व्याख्या नहीं की जा सकती जो काम्ट के 'ा''ा चिन्तन से स्प''ट होता है। अतः प्रस्तुत विवेचन में उन पक्षों को संक्षेप में स्प''ट करना आवष्यक है जो काम्ट मतानुसार समाजषास्त्र के अध्ययन क्षेंत्र से सम्बद्व है।कॉम्ट ने अपनी पुस्तक **पाजिटिव फिलासफी** में **समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र** की व्याख्या करते हुए लिखा है कि **''एक नये विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र मानवीय बौद्विकता की सम्पूर्णता तथा समय अथवा काल के परिप्रेक्ष्य में उससे उत्पन्न होने वाली सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन है।''**

काम्ट के इस कथन से स्प''ट होता है। कि व्यक्तियों की बौद्विकता के विभिन्न पक्ष और व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्षों से जुडी सामाजिक क्रियाएं ही समाजषास्त्र के अध्ययन की वास्तविकता वि''ाय वस्तु है। कॉम्ट के इस विचार की सराहना करते हुए मैक्स वेबर ने लिखा है कि **आगस्त कॉम्ट ही वे प्रथम विचारक है जिन्होनें समाजशास्त्र को मानवीय क्रियाओं के एकमात्र विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है।** अपने विचारों को बाद में और अधिक स्प''ट करते हुए कॉम्ट ने लिखा कि समाजषास्त्र मात्र मानवीय बौद्विकता के अध्ययन का ही विज्ञान नहीं है। बल्कि यह मानवीय मस्ति"तक द्वारा संचालित क्रियाओं या गतिविधियों के संचित परिणामों का अध्ययन है। इस कथन से पुनः यह स्प''ट हो जाता है। कि कॉम्ट समाजषास्त्र को मानवीय क्रियाओं के विज्ञान के रूप में विकसित करना चाहते थे।

समाजषास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को अधिक विकसित करते हुए कॉम्ट ने मस्ि"तक और समाज के उद्विकास सम्बंधी अध्ययन को भी समाजषास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे समाहित किया । इस सम्बंध में समाजषास्त्र की भूमिका को स्प"ट करते हुए कॉम्ट ने लिखा समाजषास्त्र का प्राथमिक लक्ष्य मानव प्रजाति के उद्भव अवस्थाओं से लेकर वर्तमान यूरोपीय सभ्यता के विकास की अवस्थाओं की खोज करना है। इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कॉम्ट ने समाजषास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में समाज के विकास के अध्ययन को भी समाहित किया है। इसके अतिरिक्त समाजषास्त्र की प्रकृति के सन्दर्भ में काम्ट ने जो विचार प्रस्तुत किये उन्हें कॉम्ट द्वारा वि"लेषित कुछ अन्य अवधारणाओं की सहायता से समझा जा सकता है।

आगस्त कॉम्ट ने अपनी पुस्तक **पाजिटिव फिलॉसफी** में समाज की सावयवी संरचना को स्प"ट करने का प्रयास किया है। तत्कालीन दषाओं में इंग्लैण्ड में उपयोगितावादी सिद्धान्त (Doctrine of Utilitarianism) के द्वारा जिस व्यक्तिवाद (Individualism) को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा था, उसका विरोध करते हुए कॉम्ट ने **समूहवादी दर्शन** (Social Philosophy) को स्थापित किया। रुसो (Roussean) और सेण्ट साइमन (Saint Simon)ने जिस समूहवादी विचारधारा का आरम्भ किया था, कॉम्ट ने उसे विकसित करते हुए सामाजिक चेतना (Social Consensus) की व्याख्या के आधार पर समाज की संरचना को स्प"ट किया। उन्होंने बतलाया कि समाज का निर्माण क्योंकि सामाजिक चेतना के आधार पर होता है, इसीलिए **समाज एक सामूहिक सावयव है।**

कॉम्ट ने समाजषास्त्र और जीवषास्त्र के बीच अनेक समानताओं का उल्लेख किया। इस सम्बन्ध में टर्नर (Turner) ने लिखा है कि ''सावयवी 'ारीर की अवधारणा को कॉम्ट ने समाजषास्त्र और जीवषास्त्र में सामान्य रुप से देखा है।'' कॉम्ट ने सामाजिक संरचना और जैविक संरचना के बीच पायी जाने वाली समरुपता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि '' मैं सामाजिक सावयव को परिवारों के एक ऐसे संयोजन के रुप में स्वीकार करता हूँ जो समाज के वास्तविक तत्व अथवा कोषिकाऐं ;ब्मससेद्ध है। इस संरचना के अगले क्रम में वर्ग अथवा जातियों को रखा जा सकता है जो वास्तव में इसके तन्तु ;ज्पेनमेद्धहैं और अन्त में, मैं नगरों और समुदायों को सामाजिक संरचना में समाहित करता हूँ जो समाज के वास्तविक अंग ;व्तहंदेद्ध है।''

कॉम्ट के इन विचारों को सरल 'ाब्दों में समझने के लिए हमें इस व्याख्या में प्रयुक्त 'ाब्दों को 'सावयवी 'ारीर' की अवधारणा के आधार पर समझना होगा। वास्तव में प्रत्येक जीवित 'ारीर में बहुत–सी सूक्ष्म कोषिकाएँ पाई जाती है। ये कोषिकाएँ जीवित 'ारीर की सरलतम संरचना होती है। जीव–विज्ञानियों के मतानुसार इन कोषिकाओं अथवा कोषिकाओं में जीवन द्रव्य होता है। तथा प्रत्येक कोषिका के अन्दर एक नाभिक पाया जाता है। जीवित 'ारीर में ये कोषिकाएँ एक निरन्तर क्रमबद्धता में संयोजित होकर तन्तुओं का निर्माण करती है और बहुत से तन्तु मिलकर जीवित 'ारीर के विभिन्न अंगो का निर्माण करते हैं।

कॉम्ट ने जीव–विज्ञान की उक्त अवधारणा के आधार पर ही सामाजिक सावयव (Social Organism) की व्याख्या करते हुए बतलाया कि **परिवार समाज की इकाई है।** जिसका सामाजिक सावयव में वही महत्व है जो महत्व जीवित 'ारीर में कोषिका का होता है। कॉम्ट के मतानुसार समाज के विभिन्न वर्गो

अथवा जातियों में बहुत–से परिवारों का समावेष होता है। इस प्रकार यही वर्ग तथा जातियाँ समाज के विभिन्न अंगो में पाये जाने वाले तन्तुओं के समान है। सामाजिक सावयव के अंगो की विवेचना करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि किसी समाज से सम्बन्धित विभिन्न नगर अथवा समुदाय ही समाज के अंग है।

सामाजिक सावयव को उपर्युक्त अर्थों में स्प''ट करने के बाद कॉम्ट ने सामाजिक संरचना के व्याधिकीय पक्ष की भी चर्चा की। कॉम्ट ने बतलाया कि जिस प्रकार व्यक्ति के 'ारीर या किसी व्यक्ति 'ारीर में कोषिकाएँ कमजोर होकर 'ारीर के अंगो को कमजोर बना देती हैं, उसी प्रकार परिवारों तथा वर्गों का विघटन भी सामाजिक संरचना के विभिन्न अंगो को कमजोर बनाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामाजिक जीवन की छोटी–बड़ी इकाइयों का विघटन ही सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवष्यक है कि कॉम्ट ने सामाजिक सावयव और जैविक सावयव की समरुपता की चर्चा करने के साथ ही इन दोनों सावयव के बीच पाये जाने वाले अन्तर को भी स्प''ट किया है। कॉम्ट ने बतलाया कि जैविक सावयव ;ठपवसवहपबंस व्तहंदेद्ध में कोई परिवर्तन नहीं होता जबकि सामाजिक सावयव के अंगो में परिवर्तनषीलता पाई जाती है। तथा यह परिवर्तनषीलता भी अनेक वैज्ञानिक नियमों के द्वारा संचालित होती है।

सामाजिक संरचना के सावयवी सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए आगस्त कॉम्ट ने इसे दो प्रमुख खण्डों में विभक्त किया है। पहले खण्ड में सामाजिक संरचना की स्थिति की और दूसरे खण्ड में सामाजिक संरचना की परिवर्तनषीलता की व्याख्या की है। उनके द्वारा प्रस्तुत इस अवधारणा को 'सामाजिक स्थितिकी' एवं 'सामाजिक गत्यात्मकता' के नाम से जाना जाता है।

4.5 समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

- अगस्त कॉम्ट ने समाजषास्त्र को मानवता के वास्तविक विज्ञान के नाम से सम्बोधित किया है। उनके मतानुसार समाजषास्त्र सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का विज्ञान है तथा यह अवलोकन और तुलनात्मक पद्वतियों के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है। कॉम्ट ने बतलाया कि विज्ञान की आधारभूत आवष्यकता उसकी **वैज्ञानिक पद्वतियां** है जिनमें **अवलोकन एवं परीक्षण** अथवा **तुलनात्मक अध्ययन** की पद्वतियां ही महत्वपूर्ण है। समाज की दो विभिन्न स्थितियों **(सामाजिक स्थितिकी एवं सामाजिक गत्यात्मकता)** का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि समाजषास्त्र सामाजिक स्थितिकी से सम्बद्व सामाजिक संरचना के विभिन्न तत्वों का अवलोकन करता है। तथा सामाजिक गत्यात्मकता के अध्ययन के समय अवलोकन और तुलनात्मक पद्वतियों का प्रयोग करता है।
- कॉम्ट ने उन्नीवसीं सदी के समाज को प्रत्यक्षवादी समाज के रूप में स्वीकार करते हुए इसे एक बेहतर समाज की संज्ञा दी है। उन्होंने बतलाया कि समाजषास्त्र भी **प्रत्यक्षवादी पद्वति** से समाज की घटनाओं का अध्ययन करता है। इसीलिए समाजषास्त्र एक विज्ञान है। **विज्ञानों के संस्तरण** को स्प''ट करने के लिए अगस्त कॉम्ट ने **बढ़ती निर्भरता के नियम** का प्रतिपादन किया है। इस नियम के आधार पर उन्होनें विज्ञानों के संस्तरण में समाजषास्त्र के आधारभूत स्थान एवं प्राथमिकता को प्रमाणित करके इसे एक प्रति''ठत स्थान देने में विषे''ा योगदान किया।

- समाजषास्त्र की प्रकृति को स्प''ट करने के लिए कॉम्ट ने समाजषास्त्र और प्राणी विज्ञान की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत की। कॉम्ट ने बतलाया कि जिस प्रकार प्राणी विज्ञान जीवित प्राणियों का अध्ययन करता है। उसी प्रकार समाजषास्त्र **सामाजिक सावयव अथवा सावयवी संरचना का अध्ययन** करता है। कॉम्ट ने प्राणिषास्त्र की तुलना में समाजषास्त्र को एक **अमूर्त विज्ञान** के रूप में स्प''ट किया । उन्होनें यह स्वीकार किया कि समाजषास्त्र में आर्थिक, राजनीतिक , सांस्कृतिक एवं वैधानिक सभीं प्रकार की घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है। कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित इस मान्यता के आधार पर हम यह समाजषास्त्र एक **समन्वयात्मक विज्ञान** है। समन्वयात्मक विज्ञान से कॉम्ट का तात्पर्य यह है कि समाजषास्त्र सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष का अध्ययन नहीं करता बल्कि यह मानव जीवन के समस्त सामाजिक पक्षों का अध्ययन समग्र रूप में करता है।
- विज्ञानों की विषे''ताओं का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने लिखा है विज्ञान की एक प्रमुख विषे''ता इसमें भवि''यवाणी करने की क्षमता का होना है। समाजषास्त्र की विषे''ताओं की चर्चा करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवादी पद्वति के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करके समाजषास्त्र जिन नियमों का निर्धारण करता है वे वैज्ञानिक नियम ही समाजषास्त्र को **भवि''यवक्ता विज्ञान** के रूप में प्रति''ठापित करते है। कॉम्ट ने समाजषास्त्र को एक **व्यावहारिक विज्ञान** के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि समाजषाास्त्र का उपयोग समाज के विकास और मानवता के कल्याण के लिए होना चाहिए इसी उद्देष्य की पूर्ति कि लिए उन्होनें समाजषास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान बनाने का सुझाव दिया और इसे सामाजिक दर्षन से अलग माना।
- आगस्त कॉम्ट समाजषास्त्र को सदैव एक विज्ञान मानते रहे हैं और आपने तो इसे 'विज्ञानों की रानी' की संज्ञा दी। वास्तव में किसी वि''ाय की विज्ञान होना या विज्ञान माना जाना प्रति''ठा–सूचक था। अतः कुछ समाजषास्त्री समाजषास्त्र को विज्ञान के रुप में प्रति''ठत करना चाहते थे। ऐसा प्रयत्न करने वाले विद्वानों में दुर्खीम, मैक्स वेबर तथा परेटो, आदि के नाम विषे''ा रुप से उल्लेखनीय हैं।
- वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत वास्तविक घटनाओं की विवेचना की जाती है। कोई भी विज्ञान इस बात पर विचार नहीं करता कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। वह तो घटनाओं या तथ्यों का यथार्थ चित्रण करता है, वे जिस रुप में हैं उनका ठीक वैसा ही चित्रण करता है, 'क्या है' का ही उल्लेख करता है। उदाहरण के रुप में, विज्ञान तो संयुक्त परिवार प्रथा या जाति–व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी रुप में उल्लेख करता है जिस रुप में वे हैं, न कि यह बताने का प्रयत्न करता है कि वे अच्छी हैं यह बुरी।
- कोई भी वि''ाय इस कारण विज्ञान माना जाता है कि वह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' बताने में अर्थात् भवि''यवाणी करने में समर्थ है। अन्य 'ाब्दों में, वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से संचित ज्ञान भण्डार के आधार पर भवि''य की ओर संकेत करने की प्रत्येक विज्ञान की क्षमता है। उदाहरण के रुप में समाज में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाजषास्त्र यह बता सकता है कि भवि''य में सामाजिक व्यवस्था का रुप क्या होगा, जाति–व्यवस्था किस रुप में पाये जायेंगे। समाजषास्त्र के मौजूदा ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान यह भी भवि''यवाणी करने में काफी सीमा तक समर्थ है।

- वैज्ञानिक पद्धति में वस्तुनि''ठता पर विषे''ा बल दिया जाता है। बिना वस्तुनि''ठता के वैज्ञानिक नि''क''र्ा निकालना किसी भी रुप में सम्भव नहीं है। वस्तुनि''ठता का तात्पर्य है–घटनाओं का अध्ययन ठीक उसी रुप में करना जिस रुप में वे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते हुए अध्ययनकर्ता को प्रत्येक स्तर पर इस बात की विषे''ा सावधानी रखनी होती है कि कही उसके स्वंय के पूर्वाग्रह, विचार, भावनाएं, पक्षपातपूर्ण दृ''टकोण आदि अध्ययन में बाधक नहीं बन जायें। उसे तो पूर्णतः नि''पक्ष(वस्तुनि''ठ) होकर तथ्यों या घटनाओं का यथार्थ चित्रण करना है, नि''क''र्ा निकालने हैं, प्राक्कल्पना की सत्यता या असत्यता को प्रमाणित करना है।
- समाज–विज्ञान भी भौतिकषास्त्र या रसायन 'ाास्त्र के समान अपने सिद्धांतो या नियमों की परीक्षा करने में सक्षम है। इनमें वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं और इस पद्धति से प्राप्त तथ्यों की प्रमुख विषे''ाता यह है कि इनकी प्रामणिकता की जांच की जा सकती है समाज–विज्ञानों में सिद्धांतो की जांच करना वास्तव में सम्भव है। उदाहरण के रुप में, तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस नि''क''र्ा की कि टूटे परिवार बाल–अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं, अलग–अलग स्थानों पर परीक्षा और पुर्नपरीक्षा की जा सकती है।

  समाजषास्त्र इस कारण भी विज्ञान माना जाता है कि यह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' बताने में अर्थात् भवि''यवाणी करने में समर्थ है। अन्य 'ाब्दों में, इस 'ाास्त्र में अपने वर्तमान ज्ञान–भण्डार के आधार पर भवि''य की ओर संकेत करने की क्षमता है। समाज में वर्तमान में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाजषास्त्र यह बता सकता है कि भवि''य में सामाजिक व्यवस्था का रुप क्या होगा, जाति–व्यवस्था किस रुप में रहेगी तथा परिवारों के कौन से प्रकार विषे''ा रुप से पाये जायेंगे।समाजषास्त्र के मौजूदा ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान यह भी भवि''यवाणी करने में काफी सीमा तक समर्थ है।

- वैज्ञानिक पद्धति की एक प्रमुख विषे''ाता यह है कि यह तर्क पर आधारित है। तर्क तथ्य और विवेक से जुड़ा हुआ है। किसी भी बात को बुद्धिमत्तापूर्वक, प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सकता है, इसके लिए तर्क देना आवष्यक होता है, साथ ही आवष्यकतानुसार तथ्य भी दिये जाते हैं। वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम तथ्यों के संकलन के लिए पद्धतियों एवं उपकरणों के चुनाव पर जोर दिया जाता है जो तर्क–संगत हों, तार्किकता पर आधारित हो। साथ ही इस पद्धति के अन्तर्गत संकलित तथ्यों का विष्ले''ाण भी तार्किकता के आधार पर किया जाता है।
- असम्बद्ध या बिखरे हुए आंकड़ों या तथ्यों के आधार पर कोई वैज्ञानिक नि''क''र्ा निकालना सम्भव नहीं है। सही नि''क''र्ा निकालने के लिए यह आवष्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाए। इसके लिए तथ्यों को समानता के आधार पर विभिन्न वर्गों में बांटा जाता है। यह कार्य वर्गीकरण के अन्तर्गत आता है इसके पश्चात तथ्यों का सावधानीपूर्वक विष्ले''ाण किया जाता है। किसी भी वि''ाय को विज्ञान मानने का प्रमुख कारण यह है कि उसमें सही नि''क''र्ाों तक पहुंचने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विष्ले''ाण किया जाता हैं। समाजषास्त्र भी भौतिकषास्त्र या रसायनषास्त्र के समान अपने सिद्धान्त या नियमों की परीक्षा एवं पुर्नपरीक्षा करने में सक्षम है। इस 'ाास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं और इस पद्धति से प्राप्त

तथ्यों की प्रमुख विषे''ाता यही है कि इनकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है। समाजषास्त्रीय सिद्वान्तों की जांच करना वास्तव में सम्भव है उदाहरण के रुप में, तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस नि''क''र्ा की कि टूटे परिवार बाल–अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं, अलग–अलग स्थानों पर परीक्षा और पुर्नपरीक्षा की जा सकती हैं।

- वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कार्य–कारण सम्बन्धों को जानने का प्रयत्न किया जाता है, विज्ञान तो किसी घटना या समस्या के पीछे छिपे कारणों की खोज करता है। वह तो यह मानकर चलता है कि कोई भी घटना जादुई चमत्कार से घटित नहीं होकर कुछ विषि''ट कारणों से घटित होती है। जिनका पता लगाना वैज्ञानिक का दायित्व है। कार्ल मार्क्स का वर्ग संघ''र्ा का सिद्धान्त एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त कार्य–कारण के सह–सम्बन्ध को स्प''ट करते हैं। समाजषास्त्र वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेता हुआ जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, वे सार्वभौमिक प्रकृति के होते है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि परिस्थितियां समान रहे तो समाजषास्त्रीय सिद्धान्त विभिन्न समाजों और कालों में खरे उतरते है। उदाहरण के रुप में यह सिद्धान्त सार्वभौमिक रुप से ठीक पाया गया है कि पारिवारिक विघटन सामाजिक विघटन पर आधारित है।
- वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से कार्य–कारण सम्बन्धों की विवेचना की जाती है, तथ्यों या घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात किये जाते हैं, वर्गीकरण एवं विष्ले''ाण किया जाता है और तत्पष्चात सामान्य नि''क''र्ा निकाले जाते हैं। इन नि''क''र्ाों के आधार पर ही सिद्धान्त या वैज्ञानिक नियम बनाये जाते हैं। समाजषास्त्र को विज्ञान मानने का एक अन्य आधार अनुसन्धानकर्ता द्वारा तथ्यों के संकलन हेतु प्रत्यक्ष निरीक्षण और अवलोकन करता है। समाजषास्त्र में काल्पनिक या दार्षनिक विचारों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इसमें तो अध्ययनकर्ता स्वंय घटना–स्थल पर पहुंचकर घटनाओं का निरीक्षण और तथ्यों का संकलन है।यदि समाजषास्त्री को बाल–अपराध अथवा वेष्यावृति की समस्या का अध्ययन करना है वो वह इनसे सम्बन्धित तथ्यों को स्वंय घटनाओं का अवलोकन करते हुए एकत्रित करेगा। असम्बद्ध या बिखरे हुए आंकडों या तथ्यों के आधार पर कोई वैज्ञानिक नि''क''र्ा निकालना सम्भव नहीं है। सही नि''क''र्ा निकालने के लिए यह आवष्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाय। इनके लिए तथ्यों का सावधानीपूर्वक विष्ले''ाण किया जाता है। समाजषास्त्र को विज्ञान मानने का एक प्रमुख कारण यह है कि इसमें सही नि''क''र्ाों तक पहुंचने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विष्ले''ाण किया जाता है। अन्य 'ाब्दों में समाजषास्त्र में वास्तविक घटनाओं की विवेचना की जाती है। यह 'ाास्त्र इस बात पर विचार नहीं करता कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। यह तो घटनाओं या तथ्यों का यथार्थ चित्रण करता है, वे जिस रुप में हैं, उनका ठीक वैसा ही चित्रण करता है। यह 'ाास्त्र तो 'क्या है' का ही उल्लेख करता है। उदाहरण के रुप में, वह संयुक्त परिवार प्रथा या जाति–व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी रुप में उल्लेख करता है जिस रुप में वे हैं न कि यह बताने का प्रयत्न कि वे अच्छी हैं या बुरी।
- समाजषास़्त्र तथ्यों के संकलन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को काम में लाते है। मूर्त और अमूर्त सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लिए समाजषास्त्र विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग करता है। उदाहरण के रुप में, समाजषास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने या तथ्य एकत्रित करने हेतु समाजमिति,

अवलोकन पद्धति, अनुसूची तथा प्रष्नावली पद्धति, सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, साक्षात्कार पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, आदि का प्रयोग किया जाता है। इनमें से एकाधिक पद्धतियों को काम में लेते हुए सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। वैज्ञानिक पद्वति के विभिन्न चरणों का उल्लेख है।इन्हीं चरणों से गुजरकर समाजषास्त्रीय ज्ञान, सामाजिक तथ्य प्राप्त किये जाते हैं। समाजषास्त्र 'क्या है' का वर्णन करके ही सन्तु''ट नहीं हो जाता है। इसमें तो घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कारण सम्बन्धों को जानने का प्रयत्न किया जाता है। यह 'ाास्त्र तो किसी घटना या समस्या के पीछे छिपे कारणों की खोज करता है। यह तो यह मानकर चलता है कि कोई भी घटना जादुई चमत्कार से घटित नहीं होकर कुछ विषि''ट कारणों से घटित होती है जिनका पता लगाना समाजषास्त्री का दायित्व है। कार्ल मार्क्स का वर्ग संघ''ार्ा का सिद्धान्त एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त कार्य–कारण के सह–सम्बन्ध को स्प''ट करते हैं।

- समाजषास्त्र को विज्ञान नहीं मानने वाले विद्वानों का कहना है कि यह विज्ञान कैसे हो सकता है, जबकि इसके पास कोई प्रयोगषाला नहीं है, जब यह अपनी वि''ाय–सामग्री मापने में समर्थ नहीं है और जब यह भवि''यवाणी भी नहीं कर सकता हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि सामाजिक प्रघटनाओं की स्वंय की कुछ ऐसी आन्तरिक सीमाएं हैं जो समाजषास्त्र को एक विज्ञान का दर्जा दिलाने में बाधक हैं। यही बात अन्य सामाजिक विद्वानों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।इस सम्बन्ध में **बाटोमोर** ने लिखा है, ''सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक सबल तर्क यह दिया गया है कि ये विज्ञान प्राकृतिक नियम से मिलती–जुलती कोई चीज पैदा नहीं कर पाये हैं।'' समाजषास्त्र के सम्बन्ध में कुछ थोड़े से समाजषास्त्रियों का कहना है कि इसे एक पृथक अनुषासन या वि''ाय मानने के बजाय इतिहास या राजनीतिषास्त्र की 'ाखा मानना ज्यादा उपयुक्त है। **सी.डब्ल्यू. मिल्स** ने समाजषास्त्र को विज्ञान मानने की अपेक्षा एक क्राफ्ट मानने का तर्क दिया है। **राबर्ट बीरस्टीड** का कहना है, ''समाजषास्त्र का उचित स्थान केवल विज्ञानों में ही नहीं है, वरन् मानवीय मस्ति''क को स्वतन्त्र बनाने वाले कला के वि''ायों में भी स्प''ट है।'' स्प''ट है कि समाजषास्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध में विवाद पाया जाता है। कुछ लोग इसे विज्ञान मानते हैं, जबकि कुछ अन्य ऐसा नहीं मानते।
- **समाजशास्त्र एक विज्ञान है** और उसकी प्रवृति वैज्ञानिक है। इतना अवष्य है कि समाजषास्त्र उतना निष्चित विज्ञान नहीं है जितने निष्चित प्राकृतिक या भौतिक विज्ञान हैं। इसी कारण समाजषास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानकर एक विषुद्ध या सैद्धान्तिक विज्ञान माना जाता है। **स्टोवर्ट** एवं **ग्लिन** ने लिखा है कि समाजषास्त्र में वे सभी विषे''ताएं पायी जाती हैं जो एक विज्ञान के लिए आवष्यक हैं। ये विषे''ताएं है– ज्ञान में वृद्धि, वैज्ञानिक विधि द्वारा ज्ञान का संचय, सामान्य नियमों का प्रतिपादन, नियमों की व्यावहारिकता, नियमों की सहायता से अपने अध्ययन क्षेत्र का विस्तार। ये सभी विषे''ताएं समाजषास्त्र में भी मौजूद हैं, अतः यह भी एक विज्ञान है और इसकी प्रकृति वैज्ञानिक हैं।

  विद्वानों के उपर्युक्त कथनों से स्प''ट है कि **विज्ञान का सम्बन्ध किसी विशि''ट प्रकार की वि''ाय–सामग्री से नहीं होकर वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किये गये क्रमबद्ध व व्यवस्थित ज्ञान से है।**

4.6 समाजशास्त्र की उपयोगिता (Relevance of Sociology)

जिस तरह से प्रत्येक वि''ाय की एक अपनी उपयोगिता होती है, उसी तरह से समाजषास्त्र की भी अपनी उपयोगिता है। विषे''ा तौर पर भारत के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता कुछ और भी ज्यादा है। विषे''ा तौर पर भारत के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता कुछ और भी ज्यादा है। भारतीय समाज के लगभग तमाम क्षेत्रों में विभिन्नताएँ देखी जा सकती हैं, चाहे वह धार्मिक हो या आर्थिक, सामाजिक हो या सांस्कृतिक। दूसरी ओर, हम यह भी पाते हैं कि परम्परावादी मूल्यों से हमारा नाता अब भी बना हुआ है,जबकि कुछ 'ाहरी समुदायों में आधुनिक मूल्यों को अधिक–से–अधिक लोग स्वीकार कर रहे हैं। ऐसी समस्याओं को समझने के लिए समाजषास्त्र की काफी उपयोगी है।

इसके अतिरिक्त, भारतीय समाज में अनेक प्रकार की समस्याएँ भी देखी जा सकती हैं, जैसे जातिवाद, सामाजिक असमानता, घूसखोरी, अपराध, जनसंख्या की समस्या, गरीबी, स्त्रियों की निम्न सामाजिक स्थिति एवं उनका 'ो''ाण आदि। इन समस्याओं के निदान के लिए हमें उन्हें समझना होगा और इन्हें समझने के लिए सर्वप्रथम हमें अपने समाज को गहराई से समझना होगा। इस क्षेत्र में भी समाजषास्त्र हमारी सहायता कर सकता है।

समाजषास्त्र निम्नलिखित क्षेत्रों में उपयोगी साबित हो सकता है–

1. **सामाजिक समस्याओं के निराकरण में सहायक**– यह कहने की आवष्यकता नहीं है कि हमारा समाज आज समस्याओं से घिरा हुआ है। भ्र''टाचार ,भिक्षावृति, वेष्यावृति, जातिवाद, बेकारी, गरीबी, दलितों एवं पिछ़डी जाति के साथ अन्याय, बाल–अपराध, राजनीतिक अपराध, ग्रामीणों की समस्याएँ आदि। इन समस्याओं के सामाजिक कारणों की खोज करके हम इसकी नि''पक्ष व्याख्या कर सकते हैं।
2. **रा''टोय एकता में सहायक**– भारत विभिन्नताओं का देष है। भा''ा, धर्म, क्षेत्र आदि के आधार पर हम बँटे हुए हैं। इस कारण हमेषा ही हमारे समाज में आन्दोलन, दंगे आदि होते होते रहते हैं। ये समस्याएँ एकता में बाधक हैं। इन विभिन्नताओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके हम बहुत सी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इससे समाजषास्त्र अत्यन्त उपयोगी है।
3. **नई परिस्थितियों से समंजन कराने में सहायक**– वर्तमान युग परिवर्तनषीलता का युग है। प्रत्येक दिन नई–नई परिस्थितियाँ आती हैं, जहाँ समायोजन में समस्या उत्पन्न हो सकती है। वर्तमान परिस्थितियों के विष्ले''ाण के आधार पर समाजषास्त्र भवि''य की परिस्थिति का एक स्वरुप पैदा करता है। ऐसे स्वरुपों से परिचित होकर उन नई परिस्थितियों के लिए तैयार होते हैं।
4. **ग्रामीण उत्थान में सहायक**– भारत की अन्य समस्याओं में ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध समस्याएँ अत्यन्त विकराल रुप लेती जा रही हैं। जन–स्वास्थ, निरक्षरता, भूमिहीनों की समस्या, तेजी से बढ़ती हुई आबादी आदि कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनका 'ीघ्र निवारण अत्यन्त आवष्यक है। समाजषास्त्रीय अध्ययन इस क्षेत्र में उपयोगी हो सकता है।

5. **जनजातियों की समस्याओं को हल करने में उपयोगी**– जनजातियों की जीवनषैली बिल्कुल अलग है, अतः उनकी समस्याएँ भी कुछ अलग प्रकार की होती है। सरकार उनके विकास के लिए अनेक सुविधाएँ देती है, फिर भी इच्छित परिणाम सामने नहीं आ पा रहे हैं। इसके पीछे कौन–से कारण हैं? उनकी समस्याओं की क्या प्रकृति है? इस तरह के कई ऐसे प्रष्न है जिनका उत्तर हमें समाजषास्त्रीय विष्ले''ाण के द्वारा हो सकता है।
6. **जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओं को समझने में उपयोगी**– आज हमारे देष की बढ़ती हुई जनसंख्या सम्भवतः सबसे भयंकर समस्या है। इसे कम करने के लिए सरकार ने परिवार नियोजन कार्यक्रम को चलाया है, परन्तु इच्छित परिणाम देखने को नहीं मिलता। जन्म निरोध उपायों को अपनाने में कौन–कौन सी बाधाएँ हैं, इसकी सही जानकारी हमें तभी हो सकती है, जब हम समाज की मान्यताओं,मूल्यों, परम्पराओं आदि को समझने का प्रयास करेंगे। इस सन्दर्भ में हमें समाजषास्त्र से काफी सहायता मिलती है।
7. **आर्थिक विकास के कार्यान्वयन में सहायक**– विकास एक बहुआयामी प्रक्रिया है। जिसका समाजषास्त्रीय पहलू काफी महत्वपूर्ण है। विकास कार्यक्रमों के सफल कार्यान्वयन तथा समय–समय पर उनके मूल्याकंन में समाजषास्त्रीयगण काफी महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

   ऊपर के तथ्यों से यह स्प''ट हो जाता है कि समाजषास्त्र की उपयोगिता काफी व्यापक है। इसके अध्ययन से न केवल हमें अपने समाज की जानकारी होती है, बल्कि अन्य समाजों की भी। ऊपर दी गई जिन समस्याओं की चर्चा हुई है, उनका राजनीतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। अतः हमें यह नहीं मानना चाहिए, कि इनका केवल समाजषास्त्रीय पहलू भी है।

4.7 सारांश–

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि किस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति एवं फ्रांसीसी क्रान्ति के दौर में आगस्त कॉम्ट ने एक नये वि''ाय के रुप में समाज–षास्त्र का उद्भव किया। अतः कॉम्ट को समाजषास्त्र के पिता के रुप में जाना जाता हैं। साथ ही समाजषास्त्र एक विज्ञान हैं और इसमें भवि''यवाणी करने की क्षमता हैं

4.8 पारिभाि''ाक 'ाब्दावली–

सामाजिक भौतिकी – कॉम्ट ने सर्वप्रथम समाजषास्त्र का नाम सामाजिक भौतिकी या सोषल फिजिक्स रखना चाहा था। परन्तु बेल्जियम के वैज्ञानिक क्वेटलेट ने अपने एक निबन्ध को सोषल फिजिक्स नाम से प्रारम्भ किया। अतः आगस्त कॉम्ट को इस वि''ाय का नाम समाजषास्त्र अर्थात सोषियोलोजी रखना पड़ा।

4.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

1. **ऑगस्ट कॉम्टे के अनुसार मानवीय ज्ञान तीन मुख्य अवस्थाओं से गुजरा , जो हैं–प्रत्यक्षात्मक,तत्वमीमांसीय,घर्म 'ास्त्रीय**

   नीचे दिये कूटों का प्रयोग करते हुए इन अवस्थाओं के उदय होने का सही क्रम चुनिए–

   क. धर्मषास्त्रीय, तत्वमीमांसीय, प्रत्यक्षात्मक

ख. तत्वमीमांसीय धर्मषास्त्रीय प्रत्यक्षात्मक

ग. धर्मषास्त्रीय प्रत्यक्षात्मक तत्वमीमांसीय

घ. प्रत्यक्षात्मक धर्मषास्त्रीय तत्वमीमांसीय

2. **ऑगस्त कॉम्ट में समाज के अध्ययन को विभाजित किया है–**

क. उप संरचना एवं अतिसंरचना में

ख. सामाजिक स्थिति षास्त्र एवं सामाजिक गतिषास्त्र में

ग. अन्तः समूह और बाध्य समूह में

घ. उपरोक्त में से कोई नहीं

3. कॉम्ट ने समाज विज्ञान को कौन सा नाम दिया था जब तक उसने सोशियोलॉजी 'ाब्द की रचना हीं कर ली थीघ

कण् सोषलडियॉलोजी
ख. सोषलबायोलोजी
ग. एन्थ्रोपोलोजी
घ. सोषलफिजिक्स

4. कॉम्टे की मृत्यु कब हुईघ

क. अगस्त 15ए 1851 ई0
ख. सितम्बर 5ए1857 ई0
ग. अक्टूबर 25ए1859 ई0
घ. दिसम्बर 29ए1861 ई0

5 ऑगस्त कॉम्ट को समाजशास्त्र का जनक कहा जाता हैं, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने–

क.समाजषास्त्र की परिभा''ाा दी
ख. समाजषास्त्र 'ाब्द की रचना की
ग. समाजषास्त्र के अध्ययन का वैज्ञानिक तरीका सुझाया
घ. समाजषास्त्र की पुस्तक लिखी।

6 ऑगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र 'ाब्द का प्रयोग कब किया?

क. सन् 1836 ई0

ख. सन् 1846 ई0

ग. सन् 1838 ई0

घ. सन् 1848 ई0

7 निम्नलिखित में से कॉम्टे के परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुसार सही अनुक्रम कौनसा एक है?

- धर्मषास्त्रीय, प्रत्यक्षवादी,तत्वदार्षनिक
- धर्मषास्त्रीय,तत्वदार्षनिक,प्रत्यक्षवादी
- तत्वदार्षनिक,धर्मषास्त्रीय,प्रत्यक्षवादी
- प्रत्यक्षवादी,तत्वदार्षनिक,धर्मषास्त्रीय

7 सूची.प को सूची.प्प के साथ सुमेलित कीजिये और सूचियों के नीचे दिये गये कूट की सहायता से सही उत्तर का चयन कीजिए:

सूची.प	सूची.प्प
क. अगस्त कॉम्ट	1. भौतिकवाद
ख. कार्लमार्क्स	2. विकासवाद
ग. हरबर्ट स्पेंसर	3. प्रत्यक्षवाद
घ. रडक्लिफ ब्राउन	4. प्रकार्यवाद
	5. अस्तित्ववाद

कूटः

ंण	।	ठ	ढ	क
	3	1	2	4
इण	।	ठ	ढ	क
	4	2	1	5
बण	।	ठ	ढ	क
	3	2	1	4
कण	।	ठ	ढ	क
	2	1	5	4

8 प्रत्यक्षवाद की चर्चा निम्नलिखित में से किस विद्वान ने की?

क. आगस्ट कॉम्ट
ख. कालमार्क्स
ग. इमाइल दुर्खीम
घ. हरबर्ट स्पेन्सर

9 प्रत्यक्षवाद को किस विद्वान ने अपनी अध्ययन पद्धति बनाया?

क. कालमार्क्स
ख. इमाइल दुर्खीम
ग. हरबर्ट स्पेन्सर
घ. आगस्ट कॉम्ट

10 आगस्त कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का उच्चतम स्तर हैं?

क. तात्विक स्तर

ख. धार्मिक स्तर
ग. वैज्ञानिक स्तर
घ. उपर्युक्त में से कोई नही।

उत्तर– 1. क 2. ख. 3.घ 4.ख 5.घ 6.ग 7.ख 8.क 9.क 10.घ 11.ग

4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची–

(1) शम्भूलाल दोषी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजषासत्रीय सिद्धान्त (1997) रावत पब्लिकेषन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 22.110
(2) एस. एल. दोषी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेषन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 150.280
(3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजषास्त्रीय सिद्धान्त (2012) विवेक प्रकाषन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 30–35
(4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शषी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजषास्त्र (1998), रिसर्च पब्लिकेषन्स, जयपुर, P- 143
(5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 11.1, 12.5
(6) डा0 अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दषा एवं दिषा, ल्यूसेंट पटना, P- 1. 55

4.11 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री–

(1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay, Calculta, Madras (1982) —P- 10-55
(2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 1-20

4.12 निबंधात्मक प्रश्न–

प्रश्न– किन परिस्थितियों में समाजषास्त्र का उद्भव हुआ? वर्णन करें।

प्रश्न–समाजषास्त्र की प्रकृति को समझाए?

प्रष्न– क्या समाजषास्त्र एक विज्ञान हैं?

इकाई 5 – विज्ञानों का संस्तरण एवं त्रि–स्तरीय नियम
(HIERARCHY OF SCIENCE AND LAW OF THREE STAGES)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देष्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 विज्ञानों का संस्तरण

5.3 ज्ञान के विकास का त्रि–स्तरीय नियम

5.4 चिन्तन के तीन स्तर एवं सामाजिक संगठन–

5.5 आलोचनात्मक मूल्याकंन–

5.6 सारांष

5.7 पारिभाषिक शब्दावली

5.8 अभ्यास/बोध प्रष्नों के उत्तर

5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.11 निबंधात्मक प्रष्न

5.0 उद्देश्य–

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगें कि

1. त्रिस्तीय नियम क्या है?
2. किस प्रकार बौद्धिकता समाज के विकास का निर्धारक होती हैं?
3. किस प्रकार आगस्त कॉम्ट ने विज्ञानों का संस्तरण प्रस्तुत किया हैं।

5.1 प्रस्तावना–

सामाजिक घटनाओं के व्यवस्थित अध्ययन की नींव डालने में जिन प्रमुख विद्वानों ने योगदान किया, उनमें फ्रांस के दार्षनिक आगस्त कॉम्ट का नाम सर्वोपरि है। कॉम्ट वह पहले विचारक थे जिन्होनें सामाजिक चिन्तन को एक व्यवस्थित क्रमबद्वता में संयोजित करके समाजषास्त्रीय चिन्तन की परम्परा आरम्भ की। यह सच है कि अपने इसी योगदान के कारण कॉम्ट को सामाजषास्त्र के जनक (**थ्ंजीमत वि वबपवसवहल**) के

रूप में स्वीकार किया जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है। कि कॉम्ट से पूर्व सामाजिक चिन्तन की कोई परम्परा विद्यमान नहीं थी।

आगस्त कॉम्ट ने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बधित जो विचार प्रतिपादित किये उन पर कान्त के विचारो का एक स्प''ट प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त, कॉम्ट के चिन्तन पर सेन्ट साइमन के प्रभाव की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके पष्चात् भी यह सच है कि कॉम्ट के सामाजषास्त्रीय विचार एक बडी सीमा तक फ्रांस के मानवतावादी विचारों से प्रभावित हुए। फ्रांस की क्रांति ने जिन तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को जन्म दिया, वे एक नयी मानवतावादी विचारधारा से प्रभावित थीं तथा यही दषाएं कॉम्ट के चिन्तन का एक आधार सिद्ध हुंयी।

5.2 विज्ञानों का संस्तरण–(HIERARCHY OF SCIENCE)

समाजषास्त्र के जनक अगस्त कॉम्ट ''समाजषास्त्र को एक विषि''ट प्रस्थिति प्रदान करना चाहाते थे। इस के लिए उन्हें एक ऐसे सुदृढ़ आधार की आवष्यकता थी जिसके माध्यम से वे अन्य विज्ञानों की तुलना में समाजषास्त्र की विषि''टता को प्रतिस्थापित कर सकें। कॉम्ट के पूर्ववर्ती विचारकों में सेण्ट साइमन (Saint Siman) ने वैज्ञानिक तरीके से विज्ञानों का वर्गीकरण अवष्य किया था किन्तु कॉम्ट ने वैज्ञानिकता के दृ''टकोण से इस वर्गीकरण को स्वीकार न करते हुए इसे और अधिक वैज्ञानिक रूप से स्प''ट करने पर बल दिया। इस दृ''ट–कोण से कॉम्ट ने अपनी पुस्तक '**पाजिटिव फिलासफी**' (Positive Philosphy) में जहॉ एक ओर अन्य विज्ञानों से समाजषास्त्र के सम्बन्ध को स्प''ट किया, वही दूसरी ओर एक नवीन विज्ञान होने के पश्चात् भी इसके आधार भूत महत्व एवं व्यापक अध्ययन–क्षेत्र पर प्रकाष डाला। कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत **''विज्ञानों का संस्तरण''** उनके इसी प्रयास का परिणाम है। कॉम्ट ने विभिन्न विज्ञानों के पारिस्पारिक सम्बन्ध तथा संस्तरण को जिस रूप में स्प''ट किया, वह मुख्यतः दो निम्नांकित सिद्धांतों पर आधारित हैः

1- निर्भरता बढ़ता हुआ क्रम (Order of Increasing Dependence)

2- घटती हुई सामान्यता एवं बढ़ती हुई जटिलता (Decreasing Generality and Increasing Complexity)

1. निर्भरता बढ़ता हुआ क्रम (Order of Increasing Dependence)

कॉम्ट के द्वारा प्रतिपादित इन विज्ञानों के संस्तरण की पहली मान्यता यह है कि ज्ञान के विकास के साथ इसकी प्रत्येक आगामी अथवा नयी 'ाखा अपने से पहले के ज्ञान पर अधिक निर्भर होती चली जाती है। इस का तात्पर्य है कि सबसे पहले विकसित होने वाला ज्ञान अथवा विज्ञान सबसे अधिक स्वतंत्र होगा जबकि ज्ञान की प्रत्येक आगामी 'ाखा अपने से पूर्व के सभी विज्ञानों अथवा ज्ञान की 'ाखाओं पर अधिक निर्भर होगा। इस प्रकार हम कह सकते है कि जैसे–जैसे ज्ञान की 'ाखाऐं विकसित होती है, वैसे–वैसे वे पूर्ववर्ती विज्ञानों पर अधिक आश्रित या निर्भर होती जाती है।

2- घटती हुई सामान्यता एवं बढ़ती हुई जटिलता (Decreasing Generality and Increasing Complexity) &

कॉम्ट ने अपने प्रथम सिद्धांत के पुरक के रूप में इस दूसरे सिद्धांत का प्रतिपादन किया। कॉम्ट का कहना है कि जैसे–जैसे किसी एक विज्ञान की दूसरे विज्ञान पर निर्भरता बढती जाएगी वैसे–वैसे उसकी सामान्यता में कमी होती जाएगी। किसी विज्ञान में यह सामान्यता जितनी कम होगी, उसकी

जटिलता में उतनी ही अधिक वृद्धि देखने को मिलेगी। इसका तात्पर्य है कि जो विज्ञान जितना अधिक नवीन होगा, वह उतना ही अधिक सामान्य लेकिन जटिल होगा। इसका कारण यह है कि जिस विज्ञान की वि"ाय–वस्तु जितनी सरल होगी वह विज्ञान अन्य विज्ञानों पर उतना ही कम निर्भर होगा और जैसे–जैसे किसी विज्ञान की अध्ययन–वस्तु में विषि"टता आती जायेगी वैसे–वैसे उस विज्ञान की अन्य विज्ञानों पर निर्भता बढ़ती जायगी। इस सामान्यता और जटिलता के बारे में कॉम्ट का कहना है कि जो घटनाएँ सामान्य होती हैं अर्थात् सार्वभौमिक रूप से पाई जाती है उनका अध्ययन करना आसान होता है। अतः उस विज्ञान की अध्ययन–वस्तु भी सरल होगी परन्तु जैसे–जैसे किसी विज्ञान की अध्ययन–वस्तु में विषे"ाीकरण आता जायेगा, उसकी जटिलता भी बढ़ती जाती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सरल घटनाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान सबसे अधिक सरल और सामान्य होता है क्योंकि सरल घटनायें पहले घटित होती हैं। इस प्रकार सबसे पहले विकसित होने वाला विज्ञान सबसे अधिक सामान्य और कम से कम जटिल होगा। दूसरा विज्ञान उससे अधिक जटिल तथा अपेक्षाकृत कम सामान्य होगा। इस क्रम में आने वाले तीसरे, चौथे और आगामी विज्ञानों में सामान्यता कम और जटिलता बढ़ती जायेगी। इस प्रकार जो विज्ञान जितना अधिक जटिल और अन्य विज्ञानों पर जितना अधिक निर्भर होता है, विज्ञानों के संस्तरण में वही अन्तिम स्थान पर होगा। इस प्रकार हम कह सकते है कि कॉम्ट ने निर्भरता के क्रम एवं जटिलता के बीच समानुपातिक सम्बन्ध बतलाया है। कॉम्ट के द्वारा बतलाये गये विज्ञानों के संस्तरण को हम निम्न चार्ट के माध्यम से समझ सकतें हैः

वि"ाय	बढ़ती हुई निर्भरता का क्रम	बढ़ती हुई जटिलता का क्रम
गणित	आत्म–निर्भर	सरलतम विज्ञान
खगोल"ाास्त्र	गणित पर निर्भर	गणित से जटिल
प्राकृतिक विज्ञान (रसायन/भौतिक)	गणित और खगोल पर निर्भर	गणित, खगोल से जटिल
जीव विज्ञान (प्राणी 'ाास्त्र/ वनस्पतिषास्त्र)	गणित, खगोल तथा प्राकृतिक विज्ञानों पर निर्भर	गणित, खगोल तथा प्राकृतिक विज्ञानों से जटिल
समाजषास्त्र सर्वाधिक जटिल	गणित, खगोल, प्राकृतिक विज्ञानों तथा जीव विज्ञान पर निर्भर	सर्वाधिक जटिल विज्ञान

1. **गणितशास्त्र (Mathmatics)** – जैसा कि हम प्रारम्भ में उल्लेख कर चुके है, विज्ञानों के संस्तरण में जिस विज्ञान की वि"ाय–वस्तु जितनी अधिक सरल होगी, वह उतना ही सामान्य होगा। गणित विज्ञान अत्यन्त प्रचीन एवं विषुद्ध विज्ञान है। गणित में निहित तथ्यों की विवेचना के लिए अन्य विज्ञानों की सहायता की आवष्यकता नहीं पड़ती है। उदाहरण के लिए, दो और दो चार होते है, यह तथ्य सर्वभौमिक है। इस

तरह कॉम्ट ने विज्ञानों के संस्तरण में प्रथम स्थान गणित विज्ञान को प्रदान किया क्योकि इस के सिद्धांतों की सत्यता के लिए उसे दूसरे विज्ञान पर निर्भर नहीं रहना पड़ता।

2. खगोल विज्ञान (Astronomy) – विज्ञानों के संस्तरण में द्वितीय स्थान पर खगोलषास्त्र आता है जो अपने से पहले के विज्ञान गणित पर निर्भर है, अतः सिद्धांतानुसार यह विज्ञान गणित से अधिक जटिल है। गणित पर निर्भरता की पुि"ट के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है। खगोलषास्त्र की वि"ाय–वस्तु का सम्बन्ध अंतरिक्ष और पृथ्वी (स्थलीय) की घटनाओं से होता है। सामान्यतया खगोलषास्त्र में ग्रहों, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात आदि सम्बन्धित नियमों का अध्ययन किया जाता है। इन समस्त अध्ययनों का सत्यापन गणित की सहायता से ही किया जाता है। वास्तव में, स्थलीय घटनाओं का सम्बन्ध खगोलीय घटनाओं से ही होता है। खगोलषास्त्र में ग्रह, नक्षत्रों, तारों आदि के बीच दूरी व उनके परिभ्रमण का निर्धारण आदि गणित के माध्यम से ही किया जा सकता है। प्राचीन काल से ही ऋतुओं, मौसम, जलवायु आदि से सम्बन्धित जानकारी के लिए समय–सारणी की आव"यकता महसूस हुई। गणित के माध्यम से सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि के परिभ्रमण के आधार पर व"र्ा, माह, दिन का निर्धारण किया गया। इस प्रकार गणित पर आधारित खगोलीय जानकारी के आधार पर ही व"र्ा का कैलेण्डर तैयार किया गया।

3. प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences) विज्ञानों के संस्तरण में तृतीय स्थान प्राकृतिक विज्ञानों का है जिसमें मुख्यतः भौतिकी तथा रसायनषास्त्र को सम्मिलित किया जाता है। भौतिक ;चैलेपबेद्ध और सायन"ाास्त्र ;बैमउपेजतलद्ध क्रमषः गणित और खगोलषास्त्र पर निर्भर है, इसलिए इनकी वि"ाय–वस्तु की जटिलता अपने से पूर्व के दोनो विज्ञानों से अधिक है। भौतिकषास्त्र में जो अध्ययन किया जाता है, उनकी पुि"ट खगोल व गणित विज्ञान के बिना सम्भव नहीं है।

उदाहरण के लिए, गुरूत्वीय त्वरण की जानकारी के लिए हमें खगोलषास्त्र और गणित का अध्ययन करना आवष्यक है। गुरूत्वीय त्वरण के मान में विविधता होती है। इसके मान पर अक्षांष तथा ऊॅचाई का प्रभाव पड़ता है। इस तरह भौतिकी के सिद्धांतों की गणित के बिना भी नहीं हो सकती क्योंकि मान निकालने के लिए समीकरण में गणनात्मक तथ्यों का प्रयोग किया जाता है। भौतिकषास्त्र की तरह रसायनषास्त्र में भी रासायनिक प्रतिक्रियाओं की जानकारी खगोल एवं गणितषास्त्र के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती। **उदहारण के लिए,** यह मापने के लिए की किसी रासायनिक प्रतिक्रिया में लवण, क्षार, अम्ल आदि के अणु है। हमें गणित के ज्ञान की आवष्यकता होती है। इस क्षेत्र में खगोल सम्बन्धी जानकारी भी इस लिए आवष्यक है कि इसी के द्वारा यह जाना जा सकता है कि कोई रासायनिक तत्व अपने स्थलीय परिवेष में प्रकृति के प्रति कितना सक्रिय या नि"ाि"क्रय होगा। **उदहारण के लिए,** (सोडियम) अत्यन्त ज्वलनषील पदार्थ है। इसे जानने के पश्चात की बाह्य वातावरण का इस पर क्या प्रभाव पड़ता है, सोडियम को मिट्टी के तेल में रखा जाता है। इस तरह प्राकृतिक विज्ञानों की वि"ाय–वस्तु अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों पर निर्भर रहती है। इसलिए कॉम्ट का मत है कि प्राकृतिक विज्ञान गणित एवं खगोलषास्त्र से अधिक जटिल है।

4. जीव विज्ञान (Biology) – जीव विज्ञान में वनस्पति एवं प्राणियों का अध्ययन किया जाता है। वनस्पति से सम्बन्धित अध्ययन के लिए भी हमें क्रमषः गणित, खगोल एवं प्राकृतिक विज्ञानों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके साथ ही जीव विज्ञान के अध्ययन के लिए गणित, खगोलषास्त्र एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित जानकारी भी आवष्यक है। जन्तु विज्ञान ;ंवसवहलद्ध के बारे में कुछ भी जानने से पहले पूर्ववर्ती विज्ञानों का ज्ञान होना आवष्यक है। **उदाहरण के लिए,** एक सावयव अथवा 'ारीर अपना कार्य करता रहे, इसके लिए उसे भोजन की आवष्यकता होती है। सामान्यतया भोजन के रासायनिक वर्गीकरण में प्रोटिन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज लवण, विटामिन्स तथा जल आदि प्रमुख घटक है। अतः इस रासायनिक तत्वों की प्रतिक्रियाओं, इसके अनुपात आदि के लिए रसायनषास्त्र का ज्ञान होना आवष्यक है। प्राणिषास्त्र ,भौतिकषास्त्र से भी सम्बन्धित है क्योंकि भौतिकषास्त्र से ही हमें ताप, भार आदि का ज्ञान होता है।

प्राणी–विज्ञान खगोलषास्त्र पर भी निर्भर करता है। किसी भी देष के लोगों के रहन–सहन, सभ्यता, संस्कृति तथा आर्थिक उन्नति आदि का जलवायु से घनि''ठ सम्बन्ध होता है। प्रारम्भ से ही ऐसा माना जाता रहा है कि जलवायु का प्राणी के व्यवहारों, स्वास्थ्य और मानसिकता पर प्रभाव पड़ता है। अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि प्राणियों पर भी चंद्रमॉ की विभिन्न स्थितियों के भिन्न–भिन्न प्रभाव पड़ते है। ऋतु–परिवर्तन का भी प्रणियों पर प्रभाव पड़ता है। स्प''ट है कि जीव विज्ञान जहॉ एक ओर खगोलषास्त्र से सम्बन्धित है, वही इसका गणित तथा प्राकृतिक विज्ञानों से भी घनि''ठ सम्बन्ध है। इस तरह कॉम्ट ने जीवषास्त्र को अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों से अधिक जटिल और अधिक निर्भर विज्ञान माना है।

- **समाजशास्त्र (Sociology)-** समाजषास्त्र चूँकि नवीनतम विज्ञान है अतः सिद्धांतानुसार इसमें पढ़ती हुई निर्भरता एवं पढ़ती हुई जटिलता की विषे''ाता सबसे अधिक है। इसी कारण कॉम्ट ने इसी **'वि'ि''टतम विज्ञान'** माना है। इस संदर्भ में समाजषास्त्र की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए कॉम्ट ने कहा कि **' सामुहिक घटनाओं से सम्बन्धित समाजिक तथ्यों का अध्ययन करने वाला विज्ञान ही समाजशास्त्र है।** ''समाजषास्त्र की वि''ाय–वस्तु अत्यअधिक जटिल है क्योंकि कॉम्ट के अनुसार यह विज्ञान अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों पर सबसे अधिक निर्भर है। **उदाहरण के लिए,** सामूहिक क्रियाओं या किसी समाज में पाये जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करने अथवा उनका अनुमापन ;डमेंनतमउमदजद्ध करने के लिए हमें गणित की जरूरत होती है। सच तो यह है कि वर्तमान समस्त सामाजिक 'ाोधों में सांख्यिकीय का प्रयोग हो रहा है। समाजषास्त्र खगोलषास्त्र पर भी निर्भर है क्योंकि वैज्ञानिक खोजों से यह स्प''ट हुआ है कि सामाजिक जीवन काफी सीमा तक भौगोलिक दषाओं से भी प्रभावित होता है। खगोलषास्त्र के पश्चात् प्राकृतिक विज्ञानों (भौतिकी/रसायन) का अध्ययन भी समाजषास्त्र की वि''ाय–वस्तु को प्रभावित करता है। इसका कारण यह है कि मनु''य का 'ारीर पॉच तत्वों से मिलकर बना है तथा इन तत्वों के प्रभावों का विष्ले''ाण करके ही यह ज्ञात किया जा सकता है कि पर्यावरणीय प्रभाव किस प्रकार एक समूह के सदस्यों और उसकी संस्कृति को प्रभावित करते हैं। जीव एवं वनस्पति विज्ञानों के अध्ययनों तथा उनके परिणामों के आधार पर ही औ''ाधि एवं चिकित्सा आदि का उद्भव हुआ है। चिकित्सा एवं समाज के मध्य घनि''ट सम्बन्ध है या यह कहा जा सकता है कि औ''ाधि के बिना मनु''य और समाज दोनों ही रोगग्रस्त हो सकते है। चिकित्सा के समाजषास्त्र (Sociology of Medicine) के अध्येताओं ने भी कहा है कि **''औ''ाधि एक समाजिक तथ्य है।''** औ''ाधि में जिन वनस्पतियों का मिश्रण होता है, उनका व्यवस्थित अध्ययन वनस्पतिषास्त्र में किया जाता है। इस प्रकार, समाजषास्त्र की वि''ाय–वस्तु को जीव विज्ञान एवं वनस्पति विज्ञान भी प्रभावित करते है। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि समाजषास्त्र अपने से पूर्व के सभी विज्ञानों पर सर्वाधिक निर्भर एवं जटिलतम विज्ञान है।
- कॉम्ट के अनुसार सभी विज्ञान तीन अवस्थाओं धार्मिक, तात्विक तथा प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक अवस्था से होकर गुजरते है। लेकिन अलग–अलग विज्ञान इन तीनों अवस्थाओं से एक साथ नहीं गुजरते। वास्तव में जो विज्ञान श्रेणी क्रम में जितना उंचा होगा उतनी ही देरी से वो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जायेगा।
- कॉम्ट के अनुसार न केवल मानवीय चिंतन की धारायें तीनों अवस्थों से होकर गुजरी हैं। अपितु प्रत्येक वि''ाय का एक सामान्य तथा सरल स्तर से जटिल और फिर अत्यधिक जटिल स्तर की ओर विकास हुआ है।
- कॉम्ट ने विभिन्न विज्ञानों की श्रेणीक्रम व्यवस्था प्रस्तुत की जिसका आधार निम्नलिखित था।
- विज्ञानों के आरम्भ तथा विकास का क्रम।

- एक–दूसरे पर निर्भर रहने का क्रम (प्रत्येक विज्ञान अपने पूर्ववर्ती विज्ञान पर आधारित होता हैं।
- विज्ञानों की वि''ाय वस्तु में, उनके विकास क्रम के अनुसार कम होती सामान्यता तथा बढ़ती हुई जटिलता।
- अपने अध्ययन के अन्तर्गत आने वाले तथ्यों में संषोधन करने की बढ़ती क्षमता।
- इस तरह विज्ञानों के आरम्भ तथा जटिलताओं के आधार पर कॉम्ट ने विज्ञानों का क्रम इस प्रकार नर्धारित किया– गणित, खगोल विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, समाजषास्त्र तथा अन्त में नैतिक विज्ञान को रखा। नैतिक विज्ञान से कॉम्ट का अभिप्राय मानव का व्यक्तियों के रुप में अध्ययन करने से था। ऐसा अध्ययन जो समाजषास्त्र के बाद आएगा और मनोविज्ञान तथा नीतिषास्त्र का मिश्रित रुप होगा। साथ ही सबसे जटिल तथा सब विज्ञानों से सामान्य होगा।

कॉम्ट के अनुसार अब तक विज्ञानों में समाजषास्त्र सबसे जटिल विज्ञान है। क्योकि इसमें सबसे जटिल वि''ाय अर्थात समाज का अध्ययन करना 'ाामिल है। इसीलिए समाजषास्त्र का जन्म अन्य विज्ञानों के बहुत समय बाद हुआ। समाजषास्त्र की वि''ाय वस्तु अन्य विज्ञानों की वि''ाय वस्तु की तुलना में जटिल एवं सामान्य हैं।

समाजषास्त्र की उद्भव एवं विकास व्यक्ति द्वारा अपने समाज से सम्बन्धित कुछ नये वस्तुनि''ठ तथ्यों जैसे गंदी वस्तुओं का विस्तार, गरीबी आदि को पहचाने से जुड़ा हुआ है। कॉम्ट ने जब समाजषास्त्र को विज्ञानों के श्रेणी क्रम का सर्वोच्च षिखर कहा तो उनका विचार विज्ञान की सामान्य एकीकरण की प्रकृति के सन्दर्भ में था। ना कि समाजषास्त्र को अन्य विज्ञान की तुलना में कोई उंची हैसियत देने का दावा करना। वो तो केवल यह चाहते थे कि ज्ञान में वृद्धि के साथ–साथ सभी विज्ञानों का एक–दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता हैं।

विज्ञानों के संस्तरण के माध्यम से कॉम्ट ने समाजषास्त्र को पूर्ववर्ती विज्ञानों की तुलना में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। इस सिद्धांत में निहित जटिलता और विकास के समानुपातिक सम्बन्धों के आधार पर ही कॉम्ट को उद्विकासवादी विचारक की श्रेणी में भी रखा जा सकता है।

5.3 ज्ञान के विकास का त्रि–स्तरीय नियम –

अगस्त कॉम्ट (1798–1857) न केवल समाजषास्त्र के पिता के रूप में जाने जाते है बल्कि समाजषास्त्र में उदविकासीय एवं समाजषास्त्रीय विचारधारा (Sociologistic School) के प्रतिनिधियों के नेता के रूप में भी प्रख्यात रहे हैं। हर प्रतिभा अपने पर्यावरण की देन होती है। अतः अगस्त कॉम्ट भी एक प्रतिभाषाली विद्वान हुए इस परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन यूरोप के सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। कॉम्ट का जन्म फ्रांस में ऐसे समय में हुआ जब यूरोप **औद्योगिक क्रांति** के साथ–साथ **फ्रांसीसी राज्यक्रांति** के प्ररिणाम स्वरूप **संक्रमण** के दौर से गुजर रहा था। साथ ही यूरोपीय देषों में रा"ट्रीयता की भावना प्रबल हो रही थी। तत्कालीन फ्रांस में दो परस्पर विरोधी विचार एक साथ पनप रहे थे। 19वी 'ताब्दी में जहॉ एक ओर कुछ विद्वान सामाजिक **प्रगति** की ओर ध्यानाकृ"ट हो रहे थे, वही दूसरी ओर **सामाजिक व्यवस्था** को बनाए रखना भी कुछ चिंतको के चिंतन की प्रमुख समस्या थी। हम जानते हैं कि व्यवस्था स्थायित्व चाहती है और प्रगति बिना परिवर्तन के संभव नहीं है। अतः उस युग की सबसे बड़ी आवष्यकता थी व्यवस्था को बनाए रखते हुए प्रगति करना।

अगस्त कॉम्ट **ने** इन्ही परिस्थितियों के बीच समाज को भटकते पाया। ज्ञान के विकास का **त्रि–स्त्रीम** नियम एक ऐसा सिद्धांत है जिसे इन्होंने अपनी पुस्तक पॉजीटिव फिलासफी (Positive Philosphy) में प्रस्तुत किया। ज्ञान के विकास का त्रिस्तरीय सिद्धांत वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया और सामाजिक

उन्नति की व्याख्या क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करती है। कॉम्ट व्यक्ति के ऊपर समाज के प्रभुत्व को स्वीकार करते हैं और इनका यह मानना है कि मानव जीवन का विकास और मानव विचारों में परिवर्तन सामूहिक जीवन के चलते होता है।

ज्ञान के विकास की प्रक्रिया को इन्होनें मानव मस्ति"क में होनेवाले उदविकास की प्रक्रिया से जोड़ा है और ज्ञान के विकास को तीन स्तरों में बांटते हुए सामाजिक उदविकास की चर्चा की है। कॉम्ट के ही 'ाब्दों में

"Each of our leading Conceptions each baranch of our knowledge passes Successvely through three different theoretical conditions the Theological or Ficticious, the Metaphysical or Abstract, & the Scientific or Positive."

उपयुर्क्त कथन से यह स्प"ट है कि मानव ज्ञान में विकास तीन स्तरों के माध्यम से होता है और ये तीन स्तर क्रमषः

- **धार्मिक स्तर** (Theological Stage)
- **तात्विक स्तर एवं**,(Metaphysical Stage)
- **प्रत्यक्षवादी स्तर** (Scientific Stage)

2.3.1.**धार्मिक स्तर** (Theological Stage)

कॉम्ट के अनुसार आरम्भ में मानव मस्ति"क बहुत विकसित नहीं या अतः उस अवस्था का ज्ञान धार्मिक स्वरूप का था। तात्पर्य यह कि आरम्भिक स्तर में मनु"य सभी घटनाओं की व्याख्या अलौकिक 'ाक्ति के आधार पर करता था। चूंकि मानव मस्ति"क विकसित नहीं था अतः मानवीय ज्ञान में केवल **आस्था एवं विश्वास** के तत्व मौजूद थे एवं विवेक का अभाव था। फलतः मनु"य किसी भी घटना के पीछे के कार्य कारण सबंध को नहीं जान पाता था बल्कि हर घटना के पीछे वह ईष्वरीय 'ाक्ति को मानता था। ऐसा नहीं है कि इस काल में वैज्ञानिक ज्ञान नहीं थे। मनु"य ने पेड़ की दो टहनियों के घ"र्ाण को देखकर स्वयं भी इस प्रक्रिया के माध्यम से आग उत्पन्न किया जो उसके वैज्ञानिक ज्ञान होने का प्रमाण है। पर वास्तव में इस तरह के ज्ञान अत्यन्त सीमित थे और भरपूर मात्रा में धार्मिक ज्ञान उपलब्ध था।

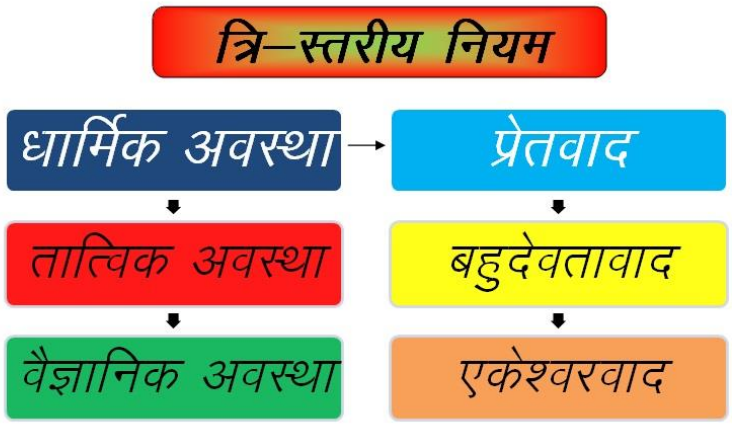

कॉम्ट के अनुसार धार्मिक स्तर स्वयं तीन सफल उपस्तरों से गुजरता है, वे है

- **प्रेतवाद (Fetishism)**
- **बहुदेवतावाद (Polytheism)**
- **एकदेवतावाद (Monotheism)**

प्रेतवाद के स्तर में प्राकृतिक चीजों का मानवीकृत किया जाता है। पेडों, नदियों, पर्वत आदि कि पूजा इसलिए की जाती है क्योकि लोगो में ऐसी धारणा बनी रहती है कि प्राकृतिक चीजे देवी देवताओं के निवास स्थान है। लेकिन जैसे जैसे मस्ति"क में विकास होता है। वैसे वैसे मानव ज्ञान में परिवर्तन आता है। प्रेरतवाद का रूप मिटता जाता है और बहुदेवता वाद की भावना लोगो में आ जाती है। इस प्रक्रिया में घरेलू देवताओं की स्थापना की जाती है। और साथ साथ लोग एक साथ अनेक देवताओं में ना केवल विष्वास करने लगते है। बल्कि देवताओं का श्रेणी क्रम उनकी पदस्थिति के आधार पर निर्धारित की जाती है। पुनः जैसे जैसे मानव मस्ि"तक के साथ साथ मानव ज्ञान में वृ,द्वि होती है। वैसे वैसे बहुदेवता वाद का स्थान समाप्त हो जाता है। अैर उसका स्थान एक देवतावाद ले लेता है। इस अवस्था में मनु"य ये अनुभव करने लगता है कि भले ही देवताओं के नाम अनेक है पर देवता एक है। कॉम्ट के अनुसार एक देवतावाद धार्मिक स्तर के चिंतन का **सर्वोच्च स्तर** है।

2-3-2 तात्विक स्तर(Metaphysical Stage)

ज्ञान के विकास का दूसरा स्तर **तात्विक स्तर** है। मानव ज्ञान का यह दूसरा स्तर धार्मिक और प्रत्यक्षवादी स्तर के बीच एक कड़ी का काम करता है। अगस्त कॉम्ट के अनुसार जहां धार्मिक स्तर कई हजार व"ोंं का काल था वही तात्विक स्तर कुछ सौ व"ोंं का काल है। दरअसल कॉम्ट ने इसे संक्रमण की अवस्था कहा है। इस स्तर में ज्ञान ना तो पूर्णतः धार्मिक स्तर का होता है ना ही पूर्णतः प्रत्यक्षवादी स्तर का होता है। साफ 'ाब्दों में कहा जाए तो इस स्तर के ज्ञान में विभिन्न घटनाओं की व्याख्या ना तो अलौकिक 'ाक्ति के आधार पर की जाती है। ना ही तर्क एवं विवेक के आधार पर। दरअसल अदृष्य 'ाक्ति के आधार पर घटनाओं की व्याख्या की जाती है। अगस्त कॉम्ट का कहना है कि इस स्तर के ज्ञान में मनु"य घटनाओं के पीछे अलौकिक 'ाक्ति का हाथ नहीं मानता बल्कि घटना के कारण को जानना चहता है। लेकिन ज्ञान में तर्क एवं विवेक के अभाव के चलते वो जान नहीं पाता है। और ऐसी स्थिति में वो ये मान लेता है कि आलौकिक 'ाक्ति तो नहीं पर अदृष्य 'ाक्ति इसके पीछे जरूर कार्यरत है।

2.3.3 प्रत्यक्षवादी स्तर (Scientific Stage)

कॉम्ट का कहना है कि मानव मस्ति"क में विकास के फलस्वरूप ज्ञान के विकास का तीसरा और अन्तिम स्तर **प्रत्यक्षवादो स्तर** है।इस स्तर का ज्ञान तथ्यों के अवलोकन और विष्ले"ाण पर आधारित होता है। मनु"य सारी घटनाओं की तर्क एवं विवेक के आधार पर करता है और उसी को सत्य मानता है। जो अवलोकन और परिक्षण के आधार पर खडा उतरता है।

स्प"टतः कल्पना अनुमान आदि का इस स्तर के चिन्तन में कोई स्थान नहीं है। बल्कि विष्व को देखने का यह बुद्विजीवियों का विषुद्व मार्ग है।

त्रिस्तरीय नियमेां की चर्चा करते हुए कॉम्ट का कहना है कि उपयुर्क्त तीनों प्रकार के चिन्तन का ढ्रंग एक ही मस्ति"क में या एक ही समाज में अपना अस्तित्व रख सकते है। लेकिन तीन तरह के चिन्तन हमेषा अपन अस्तित्व बनाये रखने में सफल नहीं होते इस से साफ जाहिर होता है कि धार्मिक स्तर में भी प्रत्यक्षवादी ज्ञान था पर मात्रा कम थी और आज के प्रत्यक्षवादी युग में भी अंधविष्वास आदि मौजूद है। पर धीरे धीरे इनकी मात्रा घटती जा रही है।

काम्ट का कहना है कि धार्मिक स्तर पर सामाज में वर्चस्व **पुरोहित और सैनिकों** का होता है। और समाजिक संगठन परिवार के स्तर का होता है। तत्विक स्तर में समाज में वर्चस्व **पादरियों एवं वकीलों** में रहा है। और समाज के संगठन में जो विस्तार उसके फलस्वरूप लोगों का सम्बध और उनकी जिम्मेदारी अपने प्रांत तक सीमित थी।प्रत्यक्षवादी अवस्था के विकास के साथ ही समाज में बोल बाला **पूंजीपतियों और अद्यौगिक साहसियों** का होने लगा इस काल मे संचार एवं यातायात के साधनों में अदभुत विकास के चलते भूमंडलीकरण की प्रक्रिया 'ुरू हुई और आज ग्लोबल विलेज की कल्पना करने लगे है। आज लोगो का सम्बध एवं उसका उत्तरदायित्व केवल अपने परिवार एवं अपने प्रांत तक ही सीमित नहीं बल्कि सारा विष्व समाज का अंग बन चुका है।

5.4 चिन्तन के तीन स्तर एवं सामाजिक संगठन–

कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत चिन्तन के तीन स्तरों का नियम केवल बौद्धिक स्तर को ही प्रभावित नही करता, बल्कि कॉम्ट ने सामाजिक इतिहास के अध्ययन के आधार पर यह दर्षाने का भी प्रयास किया कि जैसे–जैसे समाज के चिन्तन की अवस्थाओं में परिवर्तन आता गया। वैसे–वैसे समाज के संगठन का स्वरुप भी परिवर्तित होता गया। चितंन की अवस्थाओं के नियम पर आधारित सामाजिक संगठन के स्वरुप में होने वाले इस परिवर्तन की चर्चा कॉम्ट ने की उसे वह प्रगतिषील परिवर्तन के रुप में स्वीकार करते है। सामाजिक संघटनो के स्वरुप में होने वाले विकासषील परिवर्तन का उल्लेख कॉम्ट ने राज्यों के स्वरुप के आधार पर किया है। जिसे चितंन के विभिन्न स्तरों के सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

आगस्त कॉम्ट ने बतलाया हैं कि जब समाज में व्यक्ति ईष्वरीय या धार्मिक आधार पर चिन्तन करता हैं तब सामाजिक संरचना में राजनीतिक सत्ता का स्वरुप निरंकुष राजतंत्र के रुप में विद्यमान रहता हैं इस अवस्था में व्यक्ति ये सोचता हैं कि प्रत्येक प्राणी को ईष्वर ने ही पैदा किया हैं। और उसे जिस परिस्थिति अथवा वर्ग में जन्म लिया गया हैं। उसे में जीवन व्यतीत करना उसका भाग्य है। व्यक्ति यह सोचता है कि राजा को ईष्वर की विषे"ा कृपा प्राप्त है तथा वह ईष्वर का ही प्रतिनिधि हैं। इसीलिए जनता स्वंय को ईष्वर के पुत्र की भांति मानती है। और ये भी मानती है कि राजा की आज्ञा ही ईष्वर की आज्ञा हैं। कॉम्ट का कथन हैं कि जब जनता राजा की आज्ञा को ईष्वरीय आदेष के रुप में मानता हैं। तब समाज में निरकुंष राजषाही का जन्म होता है।ऐसे

समाजों में जनता राजनीति से दूर रहकर केवल राजा के आदेषों का पालन करना ही अपना नैतिक दायित्व मानती हैं। समाजषास्त्र के आधुनिक विचारक पारसन्स और षिल्स इस प्रेरणा को जिज्ञासात्मक प्रेरणा कहा है। जिसमें व्यक्ति केवल विष्वास के आधार पर ही कार्य करता है। पॉवेल ने इस विष्वास के आधार पर संचालित ऐसी राजनीति को संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति कहा है।

जब व्यक्ति घटनाओं के कार्य कारज को जानने के लिए भौतिक और ईष्वरीय दोनों आधारों पर साथ–साथ चिन्तन करता है। तब ऐसी स्थिति को कॉम्ट ने तात्विक स्तर के रुप में स्वीकार किया हैं। चितंन के इस स्तर एवं राजनैतिक संगठन में संबंध स्थापित करते हुये कॉम्ट ने बतलाया कि जब समाज तात्विक चितंन के स्तर पर रहता है। तब समाज में सत्ता के स्तर पर पुरोहितवाद की स्थापना होती हैं। पुरोहितवाद की अवस्था में व्यक्ति अमूर्त तथ्यों अथवा सैद्धान्तिक विचारों में आस्था रखता हैं। व्यक्ति यह सोचने लगता है कि राज्य में राजा ईष्वर का प्रतिनिधि नहीं है , परन्तु पुरोहित या पोप ही ईष्वर का प्रतिनिधि हैं।जब सिद्धांत रुप में व्यक्ति पुरोहित को ईष्वर के प्रतिनिधि के रुप में स्वीकार करने लगता हैं । तब उसमें यह विचार भी जन्म लेने लगते हैं कि राज्य के कार्य का संचालन स्वंय ईष्वर भी पुरोहित के माध्यम से करता हैं। तथा राजा की 'ाक्ति भी पुरोहित के अधीन हैं। कॉम्ट ने पुरोहितवाद की इस अवस्था का विवरण राजनीतिक इतिहास में चर्च राज्य की अवस्था के रुप में दिया। क्योंकि पष्चिमी यूरोप में नगर राज्य की स्थापना के पश्चात ही चर्च राज्य की स्थापना हुई। भारतीय समाज की ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर भी यही कहा जा सकता हैं कि आदिकालीन राज्यों के बाद ईसापूर्व में कुछ ऐसे राज्यों की स्थापना हुई थी जिनमें पुरोहितों का वर्चस्व था। उदाहरण के लिए– चाणक्य और चन्द्रगुप्त काल को पुरोहितवाद के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पुरोहितवाद अथवा पोप वाद की अवस्था में जनता निरकुंष राज्य सत्ता को अमान्य करते हुए यह मानने लगती हैं कि सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन का संचालन पुरोहित की सलाह के आधार पर ही होना चाहिए।

आगस्ट कॉम्ट ने चिंतन के त्रि–स्तरीय नियम के आधार पर बतलाया है कि जब समाज में व्यक्ति प्रत्यक्षवादी धरातल पर राज्य के कार्य का परीक्षण अथवा अवलोकन करता है। तब समाज की राजनैतिक व्यवस्था का स्वरुप प्रजातान्त्रिक हो जाता है। कॉम्ट प्रजातंत्र को एक बेहतर अथवा उत्तर राजनीतिक संगठन के रुप में स्वीकार करते हैं। षिल्स एवं पारसन्स ने इस स्तर की प्रेरणा को मूल्यांकित प्रेरणा के नाम से सम्बोधित करते हुए बतलाया हैं कि इस स्तर में समाज का संगठन विभिन्न व्यवस्थाओं के गुणों अथवा अगुणों के आधार पर निर्मित होता है। पॉवेल के अनुसार जब किसी समाज में व्यक्ति मूल्याकिंत प्रेरणा से प्रभावित होकर राजनैतिक व्यवस्था से सम्बन्धित निर्णय लेते है तब समाज में सहभागी राजनीतिक संस्कृति का उदय होता है। आगस्ट कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवादी चितंन की अवस्था में समाज का तीव्र गति से औद्योगिकीकरण होने लगता हैं। जिसके साथ–साथ समाज में प्रजातान्त्रिक मूल्यों की स्थापना होती है। कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत विचार समाज और राज्य के परस्पर संबंधों को स्प"ट करते हैं। इन विचारों के आधार पर हम कह सकते हैं। कि कॉम्ट ने त्रि'–स्तरीय नियम द्वारा राजनीति एवं समाजषास्त्र के अर्न्तसंबंधों की ओर भी संकेत दिया हैं।

अगस्त काम्ट के इन विचारों को निम्नलिखित तालिका के द्वारा भी समझा जा सकता है।

ज्ञान का स्तर	समाज में वर्चस्व	सामाजिक संगठन
धार्मिक स्तर	पुरोहित एवं सैनिकों	परिवार

तात्विक स्तर	पादरी एवं वकील	प्रांत या राज्य
प्रत्यक्षवादी स्तर	पूजीपतियों एवं औद्योगिक साहसियों	पूरा विष्व

अतः स्प"ट है कि आगस्त कॉम्ट ने मानव ज्ञान में होने वाले ज्ञान के विकास के आधार पर सामाजिक संगठन में होने वाले उदविकासीय परिवर्तन को समझाया है। पर आगस्त काम्ट के इस सिद्वांत की आलोचनाएं भी कम नहीं है।

5.5 आलाचनात्मक मूल्याकंन–

अगस्ट कॉम्ट वे पहले आधुनिक चिंतक है जिन्होने समाजषास्त्र वि"ाय का न केवल नामकरण किया बल्कि इसे पूर्ववर्ती विज्ञानों के अर्न्तगत महत्वपूर्ण स्थान भी दिया। इसमें कोई संदेह नही है कि यदि हम कॉम्ट का मूल्यांकन उनके कृतित्व के काल को ध्यान में रखकर करें तो उनके प्रत्येक योगदान को आलोचना की परिधि से बाहर माना जा सकता है लेकिन यदि बौद्धिक धरातल पर उनके चिंतन की व्याख्या की जाये तो ऐसे अनेक प्रष्न उत्पन्न होते है। जो उनके चिंतन के समक्ष आलोचना के अनेक प्रष्न–चिंह लगा देते है।

1. आलोचको का यह कहना है कि कॉम्ट का यह सिद्वांत उसके मौलिक चिन्तन का परिणाम नहीं है। बल्कि उसने इसे आदि विद्वानों से ग्रहण किया है। अतः काम्ट की एक कुषल समन्वयकर्ता ही कहा जा सकता है। मौलिक चिंतक नहीं।
2. आलोचकों का कहना है कि आगस्त कॉम्ट के ये विचार वैज्ञानिकता कम पर दार्षनिकता अधिक लिए हुए है। दरअसल अगस्त कॉम्ट ने कही कोई क्षेत्र अध्ययन नहीं किया बल्कि लोगो के संस्मरण, यात्रावृतांत और अन्य द्वितीयक स्रोत से प्राप्त आंकडो के आधार पर यह सिद्वांत प्रतिपादित कर डाला । सोरोकिन ने भी इसी आधार पर कॉम्ट की आलोचना की है।
3. पैरेटो ने तो कॉम्ट के विचारों को पूर्णतः अवैज्ञानिक एवं नहीं काम करने लायक बताया है। परेटो ने कॉम्ट सहित सभी उदविकासवादियों की आलोचना करते हुए कहा है कि इन विद्वानों ने मनाव सभ्यता का अध्ययन भूत से वर्तमान की ओर करना चाहा है। जो कि अवैज्ञानिक है। परेटो के अनुसार वैज्ञानिकों को किसी भी चीज का अध्ययन ज्ञात से अज्ञात की ओर करना चाहिए। यानि वर्तमान के आधार पर भूत की व्याख्या होनी चाहिए।जबकि उदविकासीय सिद्वांतदाताओं ने अज्ञात से ज्ञात की ओर बढ़ने का प्रयास किया है जो वैज्ञानिक भावना के विरुद्व है।

   इतना ही नहीं परेटो ने उदविकासीय सिद्वान्त को ही गलत बताते हुए सिन्मेटोग्राफी(ब्पदमउंजवहतंचील) की संज्ञा दी है। उनका कहना है। कि जिस तरह सिनेमा का एक दृष्य के बाद दूसरा दृष्य आता हैं उसी प्रकार कॉम्ट एक अवस्था से दूसरी अवस्था को बताते हैं लेकिन ऐसा वास्तव में होता नहीं हैं।
4. सोरोकिन का कहना है कि **उदविकासीय सिद्वांत अधेरी कोठरी में काली बिल्ली खोजने के समान** है। तात्पर्य यह कि उदविकासीय सिद्वांत का अनुसरण करने पर कभी सत्य की प्राप्ति हो सकती है और कभी नहीं।

5. रेमण्ड ऐरों ने लिखा है कि ''आगस्त कॉम्ट दार्षनिकों में समाजषास्त्री और समाजषास्त्रियों में दार्षनिक कहें जाते है।'' किसी व्यक्ति की इससे बड़ी आलोचना नहीं हो सकती। रेमण्ड ऐरों ने यह बात मुख्यतः कॉम्ट की पुस्तक प्रथम सिद्धांत ;थ्पतेज चतपदबपचसमद्ध के आधार पर कही है जिसमें कॉम्ट ने मानवीय एकता, मनु"य की अवधारणा उसकी प्रकृति और व्यक्ति तथा सामूहिकता का उल्लेख किया है। यह भी सच है कि वर्तमान संदर्भ में कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित समाजषास्त्र की वि"ाय–वस्तु एवं उसकी परिभा"ाा को पूर्ण रूप से मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी है। सामाजिक स्थिति की एवं गत्यात्मकता से सम्बन्धित उनकी मान्यताऍं अधूरी प्रतीत होती हैं। चिंतन के तीन स्तरों का उल्लेख करते हुए कॉम्ट इन्हें एक निष्चित क्रम में प्रस्तुत करते हैं जबकि विभिन्न समाजों में विकास की यह अवस्थाऍं न तो उतने क्रम में पायी जा सकती हैं और न ही एक ही समाज के विभिन्न समूहों में इस क्रम का कोई सामान्य रूप देखनें को मिलता है। चिंतन के इन स्तरों के आधार पर सामाजिक संगठन के स्वरूपों में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन को भी कॉम्ट अधिक स्प"ट रूप से व्यक्त नहीं कर सके।

उपयुर्क्त सारी चर्चाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कॉम्ट के सिद्वांत की काफी आलोचना की गई है पर इन सारी आलोचनाओं के बावजूद समाजषास्त्र के क्षेत्र में आगस्त कॉम्ट के योगदान को नकारा नहीं जा सकता है। यह मान भी लिया जाय कि कॉम्ट एक मौलिक चिंतक नहीं थे फिर भी बिखरें हुए ज्ञान के अंषों को एक सूत्र में पिरोकर उन्होंने समाजषास्त्र को समझने का जो सार्थक प्रयास किया वह अपने आप में एक सराहनीय कदम है।

5.6 सारांश–

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि किस प्रकार मनु"य के बौद्धिक विकास के कारण समाज क्रमषः तीन स्तर धार्मिक, तातविक एवं वैज्ञानिक स्तरों से गुजरता हैं। साथ ही आगस्त कॉम्ट ने यह स्थापित किया है कि किस प्रकार एक वि"ाय दूसरे वि"ाय से सम्बन्धित हैं। समाजषास्त्र किस प्रकार अन्य विज्ञानों पर निर्भर है जो कि समाजषास्त्र को अत्यधिक जटिल बनाता हैं।

5.7 पारिभाि"ाक शब्दावली–

धार्मिक अवस्था (Theology) – आगस्ट कॉम्ट के अनुसार यह ज्ञान के विकास का प्रारम्भिक स्तर हैं। इस अवस्था में मनु"य अपने हरेक घटना का कारण ईष्वर तथा अलौकिक 'ाक्ति के आधार पर देता हैं।

तात्विक स्तर – कॉम्ट के अनुसार यह ज्ञान के विकास का दूसरा स्तर है। इस अवस्था में मनु"य का मस्ति"क धार्मिक अवस्था से ज्यादा विकसित होता है। परन्तु किसी भी घटना के वैज्ञानिक कारण तक नहीं पहुंचता है।

वैज्ञानिक स्तर– कॉम्ट के अनुसार यह ज्ञान के विकास का तीसरा एवं सर्वोच्च स्तर हैं। इस अवस्था में मनु"य का मस्ति"क विकसित होता है। किसी भी घटना का वैज्ञानिक कारण पता कर लेता हैं।

5.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

1. **ऑगस्ट कॉम्टे के अनुसार मानवीय ज्ञान तीन मुख्य अवस्थाओं से गुजरा , जो हैं– प्रत्यक्षात्मक ,तत्वमीमांसीय ,घर्मशास्त्रीय**

नीचे दिये कूटों का प्रयोग करते हुए इन अवस्थाओं के उदय होने का सही क्रम चुनिए–

क. धर्मषास्त्रीय, तत्वमीमांसीय, प्रत्यक्षात्मक

ख. तत्वमीमांसीय, धर्मषास्त्रीय ,प्रत्यक्षात्मक

ग. धर्मषास्त्रीय, प्रत्यक्षात्मक, तत्वमीमांसीय

घ. प्रत्यक्षात्मक, धर्मषास्त्रीय, तत्वमीमांसीय

2. **किसने कहा है कि –सामाजिक संगठन एक सामान्य सामाजिक सहमति है।**

क. हर्बर्ट स्पेन्सर

ख. ऑगस्ट कॉम्ट

ग. ईमाइल दुर्खीम

घ. मैक्स वेबर

3. **कॉम्ट एक नई समाज व्यवस्था का निर्माण निम्नलिखित में से किनके आधार पर करना चाहता था।**

क. नैतिक एकता
ख.सामाजिक एकता
ग. मानवता का नया धर्म
घ. ऐतिहासिक अनुभव

4. **ऑगस्त कॉम्ट में समाज के अध्ययन को विभाजित किया है–**

क. उप संरचना एवं अतिसंरचना में

ख. सामाजिक स्थिति षास्त्र एवं सामाजिक गतिषास्त्र में

ग. अन्तः समूह और बाध्य समूह में

घ. उपरोक्त में से कोई नहीं

5. **कॉम्ट ने समाज विज्ञान को कौन सा नाम दिया था जब तक उसने सोशियोलॉजी 'ाब्द की रचना हीं कर ली थीघ**

कण् सोषलडियॉलोजी
ख. सोषलबायोलोजी
ग. एन्थ्रोपोलोजी
घ. सोषलफिजिक्स

6. **कॉम्टे की मत्यु कब हुईघ**

क. अगस्त 15ए 1851 ई0
ख. सितम्बर 5ए1857 ई0

ग. अक्टूबर 25,1859 ई0
घ. दिसम्बर 29,1861 ई0

7. **ऑगस्त कॉम्ट को समाजशास्त्र का जनक कहा जाता हैं, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने–**
क. समाजषास्त्र की परिभा"ाा दी
ख. समाजषास्त्र 'ाब्द की रचना की
ग. समाजषास्त्र के अध्ययन का वैज्ञानिक तरीका सुझाया
घ. समाजषास्त्र की पुस्तक लिखी।

8. **ऑगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र 'ाब्द का प्रयोग कब किया?**

क. सन् 1836 ई0
ख. सन् 1846 ई0
ग. सन् 1838 ई0
घ. सन् 1848 ई0

9ण् ऑगस्ट कॉम्टे के अनुसार बौद्धिक विकास के प्रत्यक्ष स्तर पर किस प्रकार की सामाजिक इकाई पायी जाती हैं?

क. परिवार
ख. मानवता
ग. राज्य
घ. उपरोक्त में से कोई नहीं

10ण् निम्नलिखित में से कॉम्टे के परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुसार सही अनुक्रम कौनसा एक है?

धर्मषास्त्रीय, प्रत्यक्षवादी,तत्वदार्षनिक

धर्मषास्त्रीय,तत्वदार्षनिक,प्रत्यक्षवादी

तत्वदार्षनिक,धर्मषास्त्रीय,प्रत्यक्षवादी

प्रत्यक्षवादी,तत्वदार्षनिक,धर्मषास्त्रीय

9. **सूची.ण् को सूची.ण्ण् के साथ सुमेलित कीजिये और सूचियों के नीचे दिये गये कूट की सहायता से सही उत्तर का चयन कीजिएः**

सूची.ण्	**सूची.ण्ण्**
क. अगस्त कॉम्ट	1. भौतिकवाद
ख. कार्लमार्क्स	2. विकासवाद
ग. हरबर्ट स्पेंसर	3. प्रत्यक्षवाद
घ. रडक्लिफ ब्राउन	4. प्रकार्यवाद
	5. अस्तित्ववाद

कूटः

ण	।	ठ	ढ	क
	3	1	2	4
इण	।	ठ	ढ	क
	4	2	1	5
बण	।	ठ	ढ	क
	3	2	1	4
कण	।	ठ	ढ	क
	2	1	5	4

10. आगस्त कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का उच्चतम स्तर हैं?

क. तात्विक स्तर

ख. धार्मिक स्तर

ग. वैज्ञानिक स्तर

घ. उपर्युक्त में से कोई नही।

11.आगस्त कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का निम्नतम स्तर है?

क. तात्विक स्तर

ख. धार्मिक स्तर

ग. वैज्ञानिक स्तर

घ. उपर्युक्त में से कोई नही।

उत्तर– 1. क 2. ख. 3.ग 4.ख 5.घ 6.ख 7.ग 8.ग 9.घ 10.ख 11. क 12. ग 13. ख

5.9 संदर्भ ग्रंथ सूची–

(1) शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशासत्रीय सिद्धान्त (1997) रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, च. 22.110

(2) एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, च. 150.280

(3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, च. 30–35

(4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),

रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, **P- 143**

(5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, **P- 11.1, 12.5**

(6) डा0 अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा,ल्यूसेंट पटना, **P 1. 55**

5.10 सहायक / उपयोगी पाठ्यसामग्री–

(1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay, Calculta, Madras (1982) —P- 10-55

(2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 1-20

5.11 निबंधात्मक प्रश्न–

प्रश्न– कॉम्ट के ''तीन स्तरों के नियम'' की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

प्रश्न– किस प्रकार समाज का त्रि–स्तरीय नियम बौद्धिकता से प्रभावित होता हैं।

प्रश्न– आगस्ट कॉम्ट के द्वारा बताए गए विज्ञानो के संस्तरण का वर्णन करें।

इकाई 6 – प्रत्यक्षवाद (**Positivism**)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवादी ज्ञान प्राप्त करने के चार साधन

6.3 कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवाद के तीन विभाग

6.4 प्रत्यक्षवाद की मूल मान्यताएँ

6.5 समाजशास्त्र एक विज्ञान हैं।

6.6 आलोचनात्मक मूल्याकंन

6.7 सारांश

6.8 पारिभाि"ाक 'ाब्दावली

6.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों क उत्तर

6.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.12 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 उद्देश्य–

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगें कि

1. **प्रत्यक्षवाद क्या है?**
2. **किस प्रकार सामाजिक घटनाओं का अध्ययन प्रत्यक्षवादी विधि द्वारा हो सकता हैं?**

6.1 प्रस्तावना–

फ्रांसीसी विचारक आगस्ट कॉम्ट को प्रत्यक्षवाद का जनक कहा जाता हैं। वस्तुतः प्रत्यक्षवाद कॉम्ट की अध्ययन पद्धति है। जो वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। कॉम्ट का विचार है कि समग्र ब्रहमांड 'अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों' द्वारा व्यवस्थित तथा निर्देषित होता है तो धार्मिक या तात्विक आधारों पर नहीं अपितु विज्ञान की विधियों द्वारा समझा जा सकता है। वैज्ञानिक विधियां निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण की एक व्यवस्थित कार्य–प्रणाली होती है। इस प्रकार, निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण पर आधारित वैज्ञानिक विधियों के द्वारा सब कुछ समझना और उससे ज्ञान प्राप्त करना ही प्रत्यक्षवाद है।

कॉम्टे के अनुसार प्रत्यक्षवादी प्रणाली के अर्न्तगत सर्वप्रथम–

ण अध्ययन–वि"ाय को चुनते हैं।

इण अवलोकन या निरीक्षण द्वारा उस वि"ाय से सम्बन्धित प्रत्यक्ष होने वाले तथ्यों को एकत्रित करते हैं।

बण इसके बाद इन तथ्यों का विष्ले"ाण करके सामान्य विषे"ाताओं के आधार पर इनका वर्गीकरण करते हैं।

कण तत्पष्चात् वि"ाय से सम्बन्धित कोई नि"क"ार्ा निकालते हैं।

कॉम्ट के अनुसार, जिन घटनाओं और तथ्यों को हम प्रत्यक्ष रुप से देख या निरीक्षण कर सकते हैं, प्रत्यक्षवाद का क्षेत्र वहीं तक सीमित है, अर्थात् प्रत्यक्षवाद अज्ञात और अज्ञेय के पीछे बिना किसी वास्तविक आधार के दौड़ता नहीं है। प्रत्यक्षवादी एक समय में केवल उसी सीमा तक देखता है या केवल उन घटनाओं का अध्ययन करता है जहां तक कि उस घटना से सम्बन्धित तत्यों का वास्तविक निरीक्षण और परीक्षण सम्भव हो और जब उस सीमा तक समस्त वि"ाय या घटनाएं स्प"ट हो जाती हैं तो उससे आगे और कुछ प्रयत्न नहीं किया जाता है ताकि किसी भी स्तर पर काल्पनिक चिन्तन का सहारा लेने की आवष्यकता न पड़े।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कॉम्ट के प्रत्यक्षवाद अथवा वैज्ञानिक पद्धति की प्रमुख विषे"ाताओं या मान्यताओं को निम्न रुपों में देखा जा सकता है–

- प्रत्यक्षवाद की मान्यता है कि जिस प्रकार प्राकृतिक घटनाएं आकस्मिक नहीं होती बल्कि निष्चित नियमों के अनुसार घटित होती हैं उसी प्रकार सामाजिक घटनाएं भी अनायास घटित नहीं होती। प्रकृति का एक अंग होने के कारण समाज में सामाजिक घटनाएं भी कुछ निष्चित नियमों के आधार पर घटित होती हैं और वास्तविक निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग द्वारा इन नियमों को खोजा जा सकता है।

- प्रत्यक्षवाद वैज्ञानिक दृ"टकोण से ही नहीं, अपितु वैज्ञानिक कार्यप्रणालीय से भी सम्बन्धित होता है। अर्थात् प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत घटनाओं का अध्ययन मनमाने ढंग से नहीं किया जाता । इसके लिए सुनिष्चित वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया जाता है। इस वैज्ञानिक कार्यप्रणाली के अन्तर्गत सर्वप्रथम अध्ययन–वि"ाय का चुनाव, फिर उस वि"ाय से सम्बन्धित तथ्यों का वास्तविक निरीक्षण के आधार पर संकलन, संकलित तथ्यों का पुनः परीक्षण, फिर उनका वर्गीकरण किया जाता है और तब अन्त में अध्ययन वि"ाय से सम्बन्धित कोई नि"क"र्ा निकालते हैं।
- प्रत्यक्षवाद अपने को धार्मिक व दार्षनिक विचारों से दूर रखता है और अपने को वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली के माध्यम से वास्तविक ज्ञान से सम्बन्धित मानता है। वह किसी भी निरपेक्ष विचार को स्वीकार नहीं करता क्योंकि सामाजिक जीवन में परिवर्तन स्वाभाविक है। इस अर्थ में, प्रत्यक्षवाद वास्तविक निरीक्षण, परीक्षण व प्रयोग द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति पर बल देता है।
- प्रत्यक्षवाद का दृ"टकोण वैज्ञानिक है और वह स्वंय 'विज्ञान' है। वह स्वंय–निरीक्षण, परीक्षण व प्रयोग को आधार मानकर वैज्ञानिक दृ"टकोण से अपना अध्ययन–कार्य पूरा करता है।
- कॉम्ट का प्रत्यक्षवाद उपयोगितावादी विज्ञान है ओर उस रुप में विष्वास करता है कि प्रत्यक्षवाद के माध्यम से प्राप्त यथार्थ ज्ञान को सामाजिक पुर्ननिर्माण के साधन के रुप में प्रयुक्त किया जा सकता हैं।
- प्रत्यक्षवाद का ऐसी किसी घटना से कोई सम्बद्ध नहीं होता जिसे हम प्रत्यक्ष रुप में देख या निरीक्षण नहीं कर सकते है। प्रत्यक्षवाद प्रत्यक्ष–योग्य या वास्तविक रुप में निरीक्षण–योग्य घटनाओं तक ही सीमित होता है। प्रत्यक्षवाद अज्ञात और अप्रत्यक्ष के पीछे बिना किसी वास्तविक आधार के नहीं दौड़ता है।
- अगस्त कॉम्ट ने समाजषास्त्र को मानवता के वास्तविक विज्ञान के नाम से सम्बोधित किया है। उनके मतानुसार समाजषास्त्र सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का विज्ञान है तथा यह अवलोकन और तुलनात्मक पद्वतियों के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है। कॉम्ट ने बतलाया कि विज्ञान की आधारभूत आवष्यकता उसकी **वैज्ञानिक पद्वतियां** है जिनमें **अवलोकन एवं परीक्षण** अथवा **तुलनात्मक अध्ययन** की पद्वतियां ही महत्वपूर्ण है। समाज की दो विभिन्न स्थितियों **(सामाजिक स्थितिकी एवं सामाजिक गत्यात्मकता)** का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि समाजषास्त्र सामाजिक स्थितिकी से सम्बद्व सामाजिक संरचना के विभिन्न तत्वों का अवलोकन करता है। तथा सामाजिक गत्यात्मकता के अध्ययन के समय अवलोकन और तुलनात्मक पद्वतियों का प्रयोग करता है।

- कॉम्ट ने उन्नीवसीं सदी के समाज को प्रत्यक्षवादी समाज के रूप में स्वीकार करते हुए इसे एक बेहतर समाज की संज्ञा दी है। उन्होंने बतलाया कि समाजषास्त्र भी **प्रत्यक्षवादी पद्वति** से समाज की घटनाओं का अध्ययन करता है। इसीलिए समाजषास्त्र एक विज्ञान है।
- समाजषास्त्र की प्रकृति को स्प"ट करने के लिए कॉम्ट ने समाजषास्त्र और प्राणी विज्ञान की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत की। कॉम्ट ने बतलाया कि जिस प्रकार प्राणी विज्ञान जीवित प्राणियों का अध्ययन करता है। उसी प्रकार समाजषास्त्र **सामाजिक सावयव अथवा सावयवी संरचना का अध्ययन** करता है। कॉम्ट ने प्राणिषास्त्र की तुलना में समाजषास्त्र को एक **अमूर्त विज्ञान** के रूप में स्प"ट किया । उन्होनें यह स्वीकार किया कि समाजषास्त्र में आर्थिक, राजनीतिक , सांस्कृतिक एवं वैधानिक सभीं प्रकार की घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है। कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित इस मान्यता के आधार पर हम यह समाजषास्त्र एक **समन्वयात्मक विज्ञान** है। समन्वयात्मक विज्ञान से कॉम्ट का तात्पर्य यह है कि समाजषास्त्र सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष का अध्ययन नहीं करता बल्कि यह मानव जीवन के समस्त सामाजिक पक्षों का अध्ययन समग्र रूप में करता है।
- विज्ञानों की विषे"ताओं का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने लिखा है विज्ञान की एक प्रमुख विषे"ता इसमें भवि"यवाणी करने की क्षमता का होना है। समाजषास्त्र की विषे"ताओं की चर्चा करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवादी पद्वति के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करके समाजषास्त्र जिन नियमों का निर्धारण करता है वे वैज्ञानिक नियम ही समाजषास्त्र को **भविश्यवक्ता विज्ञान** के रूप में प्रति"ठापित करते है। कॉम्ट ने समाजषास्त्र को एक **व्यावहारिक विज्ञान** के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि समाजषाास्त्र का उपयोग समाज के विकास और मानवता के कल्याण के लिए होना चाहिए इसी उद्देष्य की पूर्ति कि लिए उन्होनें समाजषास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान बनाने का सुझाव दिया और इसे सामाजिक दर्षन से अलग माना।
- आगस्त कॉम्ट समाजषास्त्र को सदैव एक विज्ञान मानते रहे हैं और आपने तो इसे 'विज्ञानों की रानी' की संज्ञा दी। वास्तव में किसी वि"ाय की विज्ञान होना या विज्ञान माना जाना प्रति"ठा–सूचक था। अतः कुछ समाजषास्त्री समाजषास्त्र को विज्ञान के रुप में प्रति"ठित करना चाहते थे। ऐसा प्रयत्न करने वाले विद्वानों में दुर्खीम, मैक्स वेबर तथा परेटो, आदि के नाम विषे"ा रुप से उल्लेखनीय हैं।
- प्रत्यक्षवाद के दृ"टिकोण के अन्तर्गत वास्तविक घटनाओं की विवेचना की जाती है। कोई भी विज्ञान इस बात पर विचार नहीं करता कि क्या अच्छा है और क्या

बुरा है अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। वह तो घटनाओं या तथ्यों का यथार्थ चित्रण करता है, वे जिस रुप में हैं उनका ठीक वैसा ही चित्रण करता है, 'क्या है' का ही उल्लेख करता है। उदाहरण के रुप में, विज्ञान तो संयुक्त परिवार प्रथा या जाति–व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी रुप में उल्लेख करता है जिस रुप में वे हैं, न कि यह बताने का प्रयत्न करता है कि वे अच्छी हैं यह बुरी।

- कोई भी वि"ाय इस कारण विज्ञान माना जाता है कि वह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' बताने में अर्थात् भवि"यवाणी करने में समर्थ है। अन्य 'ाब्दों में, वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से संचित ज्ञान भण्डार के आधार पर भवि"य की ओर संकेत करने की प्रत्येक विज्ञान की क्षमता है। उदाहरण के रुप में समाज में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाजषास्त्र यह बता सकता है कि भवि"य में सामाजिक व्यवस्था का रुप क्या होगा, जाति–व्यवस्था किस रुप में पाये जायेंगे। समाजषास्त्र के मौजूदा ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान यह भी भवि"यवाणी करने में काफी सीमा तक समर्थ है।
- प्रत्यक्षवाद में वस्तुनि"ठता पर विषे"ा बल दिया जाता है। बिना वस्तुनि"ठता के वैज्ञानिक नि"क"र्ा निकालना किसी भी रुप में सम्भव नहीं है। वस्तुनि"ठता का तात्पर्य है–घटनाओं का अध्ययन ठीक उसी रुप में करना जिस रुप में वे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते हुए अध्ययनकर्ता को प्रत्येक स्तर पर इस बात की विषे"ा सावधानी रखनी होती है कि कही उसके स्वंय के पूर्वाग्रह, विचार, भावनाएं, पक्षपातपूर्ण दृ"टिकोण आदि अध्ययन में बाधक नहीं बन जायें। उसे तो पूर्णतः नि"पक्ष(वस्तुनि"ठ) होकर तथ्यों या घटनाओं का यथार्थ चित्रण करना है, नि"क"र्ा निकालने हैं, प्राक्कल्पना की सत्यता या असत्यता को प्रमाणित करना है।
- समाज–विज्ञान भी भौतिकषास्त्र या रसायन 'ाास्त्र के समान अपने सिद्धांतो या नियमों की परीक्षा करने में सक्षम है। इनमें वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं और इस पद्धति से प्राप्त तथ्यों की प्रमुख विषे"ाता यह है कि इनकी प्रामणिकता की जांच की जा सकती है समाज–विज्ञानों में सिद्धांतो की जांच करना वास्तव में सम्भव है। उदाहरण के रुप में, तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस नि"क"र्ा की कि टूटे परिवार बाल–अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं, अलग–अलग स्थानों पर परीक्षा और पुर्नपरीक्षा की जा सकती है।

  समाजषास्त्र इस कारण भी विज्ञान माना जाता है कि यह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' बताने में अर्थात् भवि"यवाणी करने में समर्थ है। अन्य 'ाब्दों में, इस 'ाास्त्र में अपने वर्तमान ज्ञान–भण्डार के आधार पर भवि"य की ओर संकेत करने की

क्षमता है। समाज में वर्तमान में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाजषास्त्र यह बता सकता है कि भवि"य में सामाजिक व्यवस्था का रुप क्या होगा, जाति–व्यवस्था किस रुप में रहेगी तथा परिवारों के कौन से प्रकार विषे"ा रुप से पाये जायेंगे।समाजषास्त्र के मौजूदा ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान यह भी भवि"यवाणी करने में काफी सीमा तक समर्थ है।

- प्रत्यक्षवाद अथवा वैज्ञानिक पद्धति की एक प्रमुख विषे"ाता यह है कि यह तर्क पर आधारित है। तर्क तथ्य और विवेक से जुड़ा हुआ है। किसी भी बात को बुद्धिमत्तापूर्वक, प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सकता है, इसके लिए तर्क देना आवष्यक होता है, साथ ही आवष्यकतानुसार तथ्य भी दिये जाते हैं। वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम तथ्यों के संकलन के लिए पद्धतियों एवं उपकरणों के चुनाव पर जोर दिया जाता है जो तर्क–संगत हों, तार्किकता पर आधारित हो। साथ ही इस पद्धति के अन्तर्गत संकलित तथ्यों का विष्ले"ाण भी तार्किकता के आधार पर किया जाता है।
- असम्बद्ध या बिखरे हुए आंकड़ों या तथ्यों के आधार पर कोई वैज्ञानिक नि"क"र्ा निकालना सम्भव नहीं है। सही नि"क"र्ा निकालने के लिए यह आवष्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाए। इसके लिए तथ्यों को समानता के आधार पर विभिन्न वर्गों में बांटा जाता है। यह कार्य वर्गीकरण के अन्तर्गत आता है इसके पश्चात तथ्यों का सावधानीपूर्वक विष्ले"ाण किया जाता है। किसी भी वि"ाय को विज्ञान मानने का प्रमुख कारण यह है कि उसमें सही नि"क"ाों तक पहुंचने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विष्ले"ाण किया जाता हैं। समाजषास्त्र भी भौतिकषास्त्र या रसायनषास्त्र के समान अपने सिद्धान्त या नियमों की परीक्षा एवं पुर्नपरीक्षा करने में सक्षम है। इस 'ाास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं और इस पद्धति से प्राप्त तथ्यों की प्रमुख विषे"ाता यही है कि इनकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है। समाजषास्त्रीय सिद्वान्तों की जांच करना वास्तव में सम्भव है उदाहरण के रुप में, तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस नि"क"र्ा की कि टूटे परिवार बाल–अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं, अलग–अलग स्थानों पर परीक्षा और पुर्नपरीक्षा की जा सकती हैं।
- प्रत्यक्षवाद अथवा वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कार्य–कारण सम्बन्धों को जानने का प्रयत्न किया जाता है, विज्ञान तो किसी घटना या समस्या के पीछे छिपे कारणों की खोज करता है। वह तो यह मानकर चलता है कि कोई भी घटना जादुई चमत्कार से घटित नहीं होकर कुछ

विषि"ट कारणों से घटित होती है। जिनका पता लगाना वैज्ञानिक का दायित्व है। कार्ल मार्क्स का वर्ग संघ"ा का सिद्धान्त एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त कार्य–कारण के सह–सम्बन्ध को स्प"ट करते हैं। समाजषास्त्र वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेता हुआ जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, वे सार्वभौमिक प्रकृति के होते है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि परिस्थितियां समान रहे तो समाजषास्त्रीय सिद्धान्त विभिन्न समाजों और कालों में खरे उतरते है। उदाहरण के रुप में यह सिद्धान्त सार्वभौमिक रुप से ठीक पाया गया है कि पारिवारिक विघटन सामाजिक विघटन पर आधारित है।

- प्रत्यक्षवाद अथवा वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से कार्य–कारण सम्बन्धों की विवेचना की जाती है, तथ्यों या घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात किये जाते हैं, वर्गीकरण एवं विष्ले"ाण किया जाता है और तत्पष्चात सामान्य नि"क"ा निकाले जाते हैं। इन नि"क"ाों के आधार पर ही सिद्धान्त या वैज्ञानिक नियम बनाये जाते हैं। समाजषास्त्र को विज्ञान मानने का एक अन्य आधार अनुसन्धानकर्ता द्वारा तथ्यों के संकलन हेतु प्रत्यक्ष निरीक्षण और अवलोकन करता है। समाजषास्त्र में काल्पनिक या दार्षनिक विचारों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इसमें तो अध्ययनकर्ता स्वंय घटना–स्थल पर पहुंचकर घटनाओं का निरीक्षण और तथ्यों का संकलन है।यदि समाजषास्त्री को बाल–अपराध अथवा वेष्यावृति की समस्या का अध्ययन करना है वो वह इनसे सम्बन्धित तथ्यों को स्वंय घटनाओं का अवलोकन करते हुए एकत्रित करेगा। असम्बद्ध या बिखरे हुए आंकडों या तथ्यों के आधार पर कोई वैज्ञानिक नि"क"ा निकालना सम्भव नहीं है। सही नि"क"ा निकालने के लिए यह आवष्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाय। इनके लिए तथ्यों का सावधानीपूर्वक विष्ले"ाण किया जाता है। समाजषास्त्र को विज्ञान मानने का एक प्रमुख कारण यह है कि इसमें सही नि"क"ाों तक पहुंचने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विष्ले"ाण किया जाता है। अन्य 'ाब्दों में समाजषास्त्र में वास्तविक घटनाओं की विवेचना की जाती है। यह 'ाास्त्र इस बात पर विचार नहीं करता कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। यह तो घटनाओं या तथ्यों का यथार्थ चित्रण करता है, वे जिस रुप में हैं, उनका ठीक वैसा ही चित्रण करता है। यह 'ाास्त्र तो 'क्या है' का ही उल्लेख करता है। उदाहरण के रुप में, वह संयुक्त परिवार प्रथा या जाति–व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी रुप में उल्लेख करता है जिस रुप में वे हैं न कि यह बताने का प्रयत्न कि वे अच्छी हैं या बुरी।
- समाजषास्त्र तथ्यों के संकलन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को काम में लाते है। मूर्त और अमूर्त सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लिए समाजषास्त्र विभिन्न वैज्ञानिक

पद्धतियों का प्रयोग करता है। उदाहरण के रुप में, समाजषास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने या तथ्य एकत्रित करने हेतु समाजमिति, अवलोकन पद्धति, अनुसूची तथा प्रष्नावली पद्धति, सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, साक्षात्कार पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, आदि का प्रयोग किया जाता है। इनमें से एकाधिक पद्धतियों को काम में लेते हुए सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। वैज्ञानिक पद्वति के विभिन्न चरणों का उल्लेख है।इन्हीं चरणों से गुजरकर समाजषास्त्रीय ज्ञान, सामाजिक तथ्य प्राप्त किये जाते हैं। समाजषास्त्र 'क्या है' का वर्णन करके ही सन्तु"ट नहीं हो जाता है। इसमें तो घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कारण सम्बन्धों को जानने का प्रयत्न किया जाता है। यह 'ाास्त्र तो किसी घटना या समस्या के पीछे छिपे कारणों की खोज करता है। यह तो यह मानकर चलता है कि कोई भी घटना जादुई चमत्कार से घटित नहीं होकर कुछ विषि"ट कारणों से घटित होती है जिनका पता लगाना समाजषास्त्री का दायित्व है। कार्ल मार्क्स का वर्ग संघ"ार्ा का सिद्धान्त एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त कार्य–कारण के सह–सम्बन्ध को स्प"ट करते हैं।

- समाजषास्त्र को विज्ञान नहीं मानने वाले विद्वानों का कहना है कि यह विज्ञान कैसे हो सकता है, जबकि इसके पास कोई प्रयोगषाला नहीं है, जब यह अपनी वि"ाय–सामग्री मापने में समर्थ नहीं है और जब यह भवि"यवाणी भी नहीं कर सकता हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि सामाजिक प्रघटनाओं की स्वंय की कुछ ऐसी आन्तरिक सीमाएं हैं जो समाजषास्त्र को एक विज्ञान का दर्जा दिलाने में बाधक हैं। यही बात अन्य सामाजिक विद्वानों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।इस सम्बन्ध में **बाटोमोर** ने लिखा है, ''सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक सबल तर्क यह दिया गया है कि ये विज्ञान प्राकृतिक नियम से मिलती–जुलती कोई चीज पैदा नहीं कर पाये हैं।'' समाजषास्त्र के सम्बन्ध में कुछ थोड़े से समाजषास्त्रियों का कहना है कि इसे एक पृथक अनुषासन या वि"ाय मानने के बजाय इतिहास या राजनीतिषास्त्र की 'ाखा मानना ज्यादा उपयुक्त है। **सी.डब्ल्यू. मिल्स** ने समाजषास्त्र को विज्ञान मानने की अपेक्षा एक क्राफ्ट मानने का तर्क दिया है। **राबर्ट बीरस्टीड** का कहना है, ''समाजषास्त्र का उचित स्थान केवल विज्ञानों में ही नहीं है, वरन् मानवीय मस्ति"क को स्वतन्त्र बनाने वाले कला के वि"ायों में भी स्प"ट है।'' स्प"ट है कि समाजषास्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध में विवाद पाया जाता है। कुछ लोग इसे विज्ञान मानते हैं, जबकि कुछ अन्य ऐसा नहीं मानते।
- **समाजशास्त्र एक विज्ञान है** और उसकी प्रवृति वैज्ञानिक है। इतना अवष्य है कि समाजषास्त्र उतना निष्चित विज्ञान नहीं है जितने निष्चित प्राकृतिक या भौतिक

विज्ञान हैं। इसी कारण समाजषास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानकर एक विषुद्ध या सैद्धान्तिक विज्ञान माना जाता है। **स्टीवर्ट** एवं **ग्लिन** ने लिखा है कि समाजषास्त्र में वे सभी विषे"ताएं पायी जाती हैं जो एक विज्ञान के लिए आवष्यक हैं। ये विषे"ताएं है– ज्ञान में वृद्धि, वैज्ञानिक विधि द्वारा ज्ञान का संचय, सामान्य नियमों का प्रतिपादन, नियमों की व्यावहारिकता, नियमों की सहायता से अपने अध्ययन क्षेत्र का विस्तार। ये सभी विषे"ताएं समाजषास्त्र में भी मौजूद हैं, अतः यह भी एक विज्ञान है और इसकी प्रकृति वैज्ञानिक हैं

विद्वानों के उपर्युक्त कथनों से स्प"ट है कि **विज्ञान का सम्बन्ध किसी विशि"ट प्रकार की वि"ाय–सामग्री से नहीं होकर वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किये गये क्रमबद्ध व व्यवस्थित ज्ञान से है।**

- कॉम्टे का प्रत्यक्षवाद केवल 'विज्ञान' ही नहीं 'धर्म' भी है और वह है मानवता का धर्म। यह प्रत्यक्षवादी भावना से प्रेरित मानवता के धर्म के आदर्षो पर आधारित एक नवीन समाज व्यवस्था की स्थापना को अपना प्रमुख उद्देष्य मानता है। प्रत्यक्षवाद से वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है, वास्तविक ज्ञान समाज में बौद्धिक व नैतिक एकता को पनपाने में सहायक होता है और इस प्रकार की एकता से मानव कल्याण सहज हो सकता है। इसी रुप में प्रत्यक्षवाद मानवता का 'धर्म' है क्योंकि धर्म का भी अन्तिम व परम उद्देष्य मानव–कल्याण है।

  स्प"ट है कि प्रत्यक्षवाद का प्रथम और सर्वप्रमुख उद्देष्य धार्मिक तथा तात्विक अवधारणाओं या विचारों से मानव–मस्ति"क को मुक्त करके सामाजिक अध्ययन व अनुसंधान को वैज्ञानिक स्तर पर लाना है। प्रत्यक्षवाद प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति को सामाजिक अध्ययन मे प्रयोग कर सामाजिक विज्ञान को भी उतना ही यथार्थ बनाता चाहता है जितना की प्राकृतिक विज्ञान। इस प्रकार, प्रत्यक्षवाद वह वैज्ञानिक साधन बन जाता है। जिसके द्वारा मानव का बौद्धिक विकास सम्भव और सरल होगा। बौद्धिक विकास के बिना सामाजिक प्रगति भी असम्भव है। अतः प्रत्यक्षवाद सामाजिक प्रगति में भी सहायक होगा क्योंकि सामाजिक तथ्यों के निरीक्षण, परीक्षण तथा वर्गीकरण की व्यवस्थित कार्यप्रणाली के द्वारा सामाजिक प्रगति को सम्भव बनाया जा सकेगा। साथ ही, सामाजिक पुर्ननिर्माण या पुनर्संगठन के लिए एक आधार तैयार कर सकेगा।

" Positivism is that movement in thought which rests all interpretation of the world exclusively on experience."

उपर्युक्त वाक्य Don Mantindale ने अपनी पुस्तक में प्रत्यक्षवाद की चर्चा करते हुए लिखा है जिससे स्प"ट होता है कि प्रत्यक्षवाद वह विचारधारा है जो किसी भी घटना की व्याख्या ,अनुमान या कल्पना के आधार पर नहीं करते बल्कि इसके अर्न्तगत घटनाओं का विषले"ाण अनुभव के आधार पर किया जाता है। स्प"टतः प्रत्यक्षवाद में अनुमान कल्पना या तात्विक विचारों का कोई स्थान नहीं होता है। इसके **घटनाओं का विशले"ाण अनुभव अर्थात अवलोकन परिश्रम एवं वर्गीकरण के आधार पर किया जाता है।** यानि प्रत्यक्षवादी प्रणाली के अर्न्तगत सर्वप्रथम अध्ययन वि"ाय को चुना जाता है। फिर अवलोकन द्वारा उस वि"ाय से संबंधित प्रत्यक्ष होने वाले समस्त तथ्यों को एकत्रित किया जाता है। इन तथ्यों का विष्ले"ाण कर सामान्य विषे"ाताओं के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है। अन्ततः इसके आधार पर वि"ाय सम्बधी नि"क"र्ा निकाला जाता है। स्प"टतः **अवलोकन परीक्षण एवं वर्गीकरण प्रत्यक्षवाद** के आधार स्तम्भ है।

प्रत्यक्षवादी विचाारधारा अनेक प्राचीन दार्षनिकों एवं विचारको की कृतियों में देखने को मिलती है। ग्रीक डेमोक्रीटस से लेकर एवं आदि विद्वानों ने भी इसकी चर्चा की है। Comte, Hume, Kant, Gall एवं Francis Bacon ने प्रत्यक्षवाद की चर्चा की की। पर उनका प्रत्यक्षवादी दृ"टिकोण कारण और प्रभाव पर आधारित न होकर विवेक पर आधारित था। समाजषाास्त्री जगत में प्रत्यक्षवाद का पूर्णरूपेण विकास फ्रान्सीसी विचारक एवं समाजषास्त्र के जनक ।नहनेज ब्वउजम की रचनाओं में हुआ। अपने प्रत्यक्षवादी दृ"टिकोण की चर्चा कॉम्ट ने अपनी कृतियॉ च्वेपजपअम चैपसवेचील एवं Positive Polity में की है।

कॉम्ट द्वारा दी गई प्रत्यक्षवादी की चर्चा बहुत सुक्ष्म और सीमित नहीं है। उसने इस धारणा में ही अपने प्रमुख समाजषास्त्रीय सिद्वान्तों जैसे **ज्ञान के विकास के त्रि–स्तरीय नियम,विज्ञान, का वर्गीकरण, समाजशास्त्र की व्याख्या समाजिक पुनर्निर्माण का सिद्वान्त** आदि की चर्चा की है। इस तरह स्प"ट है कि प्रत्यक्षवाद कॉम्ट की रचनाओं का केन्द्र बिन्दु है।

कॉम्ट औद्योगिक क्रांति के बाद विषे"ाकर फ्रांसीसी राज्य क्राति के बाद जन्म लेने वाले ऐसे विद्वान में से थे जिन्हें तत्कालीन समास्याओं ने विषे"ाकर सामाजिक व्यवस्था ने आकर्"ात किया । औद्योगिक क्रांति के बाद तत्कालिक समाज में जो बिखराव आया , नैतिक मूल्यों में जो गम्भीर परिर्वन हुए और इसके साथ ही साथ सामाजिक सम्बधो में जो परिवर्तन हुए उसे कॉम्ट ने गम्भीर समस्या के रुप में देखा। उसने विष्ले"ाणोपरान्त पाया कि सामन्तवादी व्यवस्था का अन्त हो रहा था और पूंजीवादी व्यवस्था जन्म ले रही है। फलतः समाज में अषान्ति एवं अराजकता फैली हुई थी। **ब्वउजम एवं ैपदज ैपउवद दोनों ने ही इस समस्या से निजात**

पाने के लिये विश्ले"ाण किया तथा योजनाओं रखी। उसी का परिणाम यह प्रत्यक्षवाद है।

इस तरह कॉम्ट का मुख्य लक्ष्य नये समाज के निर्माण का था और उसके सम्पूर्ण रचना का सम्बंध इस लक्ष्य से था। उसका विष्वास था कि जब तक समाजिक समस्याओं का वास्तविक आधार ज्ञात नहीं होगा तब तक समाज का पुनर्निर्माण व्यवहारिक रूप से सफल नहीं हो सकता आगे कॉम्ट जोरदार ढंग से कहता है कि **सामाजिक समस्याओं का खोज प्रत्यक्षवादी ढंग** से ही किया जा सकता है। इस तरह **प्रत्यक्षवाद की चर्चा एक अध्ययन पद्वति के रूप में करता है। तो नये समाज के निर्माण के लिए एक जीवन दर्शन पर भी जोर देता है।**

6.2 कॉम्ट ने अनुसार प्रत्यक्षवादी ज्ञान प्राप्त करने के चार साधन

- **अवलोकन (Observation)**
- **परीक्षण (Experimentation)**
- **तुलना (Comparison)**
- **ऐतिहासिक विधि (Historical)**

प्रत्यक्षवादी विचाारधारा के अन्तगर्त किसी भी चीज का अवलोकन किया जाता है **अवलोकन** द्वारा प्राप्त तथ्यों का परीक्षण किया जाता हैं।**ऐतिहासिक विधि** का प्रयोग वैसी स्थिति में लाभदायक है जब प्राचीन काल की बात जाननी हो ।

ज्पउैमसि ने Historical method" के बारे में लिखा हैं।

" By Historical method Comte meat the Search for general Laws of the Continuous Variation by human openion."

ऐतिहासिक विधि मनु"य के बौद्विक विकास में लगातार हो रहे परिवर्तन को खोजने में मददगार है।

इस तरह हम देखते है कि कॉम्ट का प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक विधि है। प्रत्यक्षवाद का यह मानना है कि किस प्रकार प्राकृतिक घटनाऐं आकस्मिक नहीं होती है। उसी तरह सामाजिक घटनायें भी बिना कारण नहीं होती है। प्रत्यक्षवाद समाज को कुछ निष्चित सामाजिक नियमों से संचालित तथ्य के रूप में स्वीकार करता है। जिसका अध्ययन प्रत्यक्षवादी विधि से किया जाता है।

प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक विधि है। लेकिन एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या यह विधि 'ाुरू से ही थी। कॉम्ट स्प"ट रूप से कहता है नही। इस सम्बंध में Raymond Aron ने अपनी पुस्तक "Main Currents's in Social thought " में लिखा है।**" Positivism can not be a Sportaneous Philosphy, it can only be a later day philosophy"**

प्रत्यक्षवाद आरम्भिक जीवन दर्षन नहीं बल्कि बाद का जीवन दर्षन है।कॉम्ट के अनुसार मनु"य का दिमाग Theological Stage में थे इससे सभी चीजों को अदृष्य ईष्वर की कृपा का फल मानकर सन्तो"ा कर लिया जाता था। बाद का स्तर Metaphysical आता है। जिसमें Super Natural force की Abstract force जगह को विषले"ाण का आधार माना जाता है। तीसरी अवस्था Positive Stage है। जिसे वैज्ञानिक स्तर पर अध्ययन किया जाता है। स्प"टतः प्रत्यक्षवादी विषले"ाण बाद की उपज है। लेकिन Positive Stage में सभीं चीज एक Positive साथ नहीं हो जाती जैसे जैसे वस्तु Complex होता जाता है। उसकी generality घटती जाती है वह विज्ञान बाद में उतना ही च्वेपजपअम हो पाता है।

विज्ञानों की चर्चा करते हुए कॉम्ट ने स्प"टतः कहा है कि सबसे पहले डंजीउंजपबे उसके बाद Astronomy उसके बाद चैलेपबे और फिर ठपव तथा अन्त में ैociology का एक Positive Science के रूप मे उदय हुआ स्प"टतः Positivism जो उससे सामाजषास्त्र के लिए मुख्य रूप से चर्चा की भी बाद की प्रक्रिया है।

प्रत्यक्षवाद एक जीवन दर्शन या मानव धर्म भी है। प्रत्यक्षवाद परार्थ भावना से प्रेरित मानवता के धर्म पर आधारित नवीन समाज व्यवस्था की स्थापना को प्रमुख उद्देष्य के रूप स्वीकार करता हैं। नए सामाजिक व्यवस्था में मनु"य के 'ाारीरिक ,बौद्विक और नैतिक गुणों के उत्क"ार् के लिए प्रत्यक्षवादी षिक्षा दी जाएगी। इसके लिए सामाजिक जीवन को निर्देषित करने वाले कुछ नियमों का संगठन करना आवष्यक है। नैतिक षिक्षा द्वारा व्यक्तियों को उनके कर्तव्यों का एहसास कराया जाता हैं। ताकि वे परार्थ की भावना से प्रेरित होकर कार्य करें। भौतिक षिक्षा मानवीय क्रम पर आधारित है। बौद्विक षिक्षा का सम्बध चिन्तन और विवके से है। नैतिक 'ाक्ति प्रेम पर आधारित होता है। अर्थात नये समाज में प्रेम का काफी महत्व होता है।

कॉम्ट की उपर्युक्त 'ाक्तियां मानवीय क्रियाओं के तीन पक्षों का प्रतीक है। मनु"य की आर्थिक और बौद्विक क्रियाएं उसे भौतिक प्रगति की ओर ले जाती है। लेकिन साथ ही साथ स्वार्थपरकता की ओर भी प्रेरित करती है। फलस्वरूप समाज में 'ो"ाण और

असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस असंतुलन की स्थिति से छुटकारा पाने के लिए नैतिक 'ाक्ति का बहुत बडा महत्व है। यह 'ाक्ति भावना पर आधारित है। अतः परहित की प्रेरणा देती है। अतः कॉम्ट का कहना है। कि क्रिया बुद्वि और नैतिकता का समन्वय ही मानव जीवन की पूर्णताः है। इस तरह हम देखते है। कि प्रत्यक्षवाद जीवन को सुखमय बनाने वाला एक दर्षन भी है। इसमें उद्देष्यों की प्राप्ति के लिए बल या हिसांत्मक कारवाइयों की चर्चा नहीं की गई है।बल्कि षिक्षा और उपदेष के द्वारा ही Positivism के उद्देष्यों को प्राप्त किया जाता है। स्प"टतः Positivism एक समाज के न"ट कर दूसरे समाज का सृजन नहीं किया जाता बल्कि परिवर्तन लाकर सामाजिक पुर्ननिर्माण का ध्यान रखा जाता है।

J.H Bridge ने कॉम्ट द्वारा दिये गये मत को स्प"ट लिखा है।

" Positivism Is A Scientific Doctrins Which Aims At Continuous Increase Of The Material Intellectual And Moral Well Being Of All Human Societies.

इस व्याख्या से स्प"ट है कि इसके दो मुख्य आधार है। एक ओर यह वैज्ञानिक सिद्वांतों पर आधारित है तो दूसरी ओर इसका नैतिक मूल्यो से भी गहरा सम्बन्ध है। इसका उद्देष्य मानव समाज में नैतिक,मानसिक तथा भौतिक विकास लाना हैं। इसका कारण यह है कि कॉम्ट ने सिर्फ भौतिक पक्ष पर ही बल नहीं दिया बल्कि सर्वक्षेत्रीय विकास का मत देते हुए कहा कि भौतिकता और नैतिकता दोनों में समन्वय होना आवष्यक है। इन दोनों में अनूकूलन बनायें रखने के लिए बौद्विकता का होना अनिवार्य है।

6.3 कॉम्ट ने अनुसार प्रत्यक्षवाद (Positivism) के तीन विभाग

- **Philosphy of Sciences,**
- **Scientific Religion or**
- **Positive Politics,**

Philosphy of Science का सम्बंध इस बात से है कि मनु"य को अपनी स्थिति में सुधार लाने के लिए अपनी 'ाक्ति और प्रयासों पर आधारित होना चाहिए। Super Natural force पर आधारित नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार " Philosphy of Science" यह षिक्षा देती है। कि मानव आत्म चिन्तन से ही सभी क्षेत्रों में विकास ला सकता है। यानि मनु"य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। इस संबंध में Comte ने hierarchy of Science की चर्चा की है।

Science Religion or Ethics के क्षेत्र में अपना विचार देते हुए कॉम्ट ने यह बताया है कि Scientific Religion धार्मिक विष्वासों या Super Natural वितबम से सम्बन्धित नहीं होता बल्कि इसे मानवता का धर्म कहा जाता है। इस धर्म का उद्देष्य वैज्ञानिक ढंग से भौतिक मानसिक तथा नैतिक क्षेत्रों में विकास लाना है। साथ ही साथ **Scientific Religion का उद्देश्य प्रेम, सेवा, भलाई की भावना को जाग्रत रखना है।**

कॉम्ट ने जो सामाजिक पुनर्निर्माण का सिद्वांत दिया है। वह इसी नियम पर आधरित है।

Positive Politics की चर्चा कॉम्ट ने अपनी पुस्तक Positive Politics में की है। Positive Politics राज्यों की नीति से भिन्न होता है। इसका उद्देषय युद्व को रोकना होता है। Positive Politics अन्तरा''ट्रीय क्षेत्रों में सहयोग बनाये रखने के लिए कार्य करती है।

6.4 प्रत्यक्षवाद की मूल मान्यताएँ (Basic Assumptions of positivism)

आगस्ट कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद की चर्चा विभिन्न संदर्भों में की है अतः प्रत्यक्षवाद की अवधारणा को स्प''ट रूप से समझने के लिए इससे सम्बन्धित मान्यताओं को जानना आवष्यक हो जाता हैं।

(1) सामाजिक घटनाएँ निश्चित नियमों पर आधारित होती है (Social Phenomena are based on Definite Laws)& कॉम्ट का मत है कि जिस प्रकार प्राकृतिक घटनाओं (पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा, ऋतुओं की आवृत्ति, भूकम्प, ज्वालामूखी का विस्फोट आदि) का संचालन कुछ निष्चित नियमों के द्वारा होता है, उसी प्रकार सामाजिक घटनाएँ भी कुछ नि''चत नियमों में संचालित होती है। जिस प्रकार अवलोकन तथा परीक्षण आदि के द्वारा प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है, उसी प्रकार सामाजिक घटनाओं या तथ्यों से सम्बन्धित नियमों को भी अवलोकन एवं परीक्षण द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। इस प्रकार कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद की पद्धति सर्व प्रथम इस मान्यता पर आधारित है कि सामाजिक घटनाओं का संचालन कुछ निष्चित नियमों के द्वारा होता है जिनका अध्ययन सम्भव है।

(2) वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग (Use of Scientific Method)– कॉम्ट के मतानुसार वैज्ञानिक प्रणाली का उपयोग ही प्रत्यक्षवादी पद्धति का आधार है। उन्होने उन्नीसवीं सदी के समाज को प्रत्यक्षवादी समाज मानते हुए कहा कि आज के युग में अवलोकन, परीक्षण एवं वर्गीकरण जैसी वैज्ञानिक पद्धतियों के माध्यम से समाजिक तथ्यों का संग्रह करने तथा उनके विष्ले''ाण करने का कार्य किया जा रहा है। कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवाद में वैज्ञानिकता

का समावेष होने के कारण पक्षपातपूर्ण चिंतन निरस्त होता चला जाता है। इस प्रकार कॉम्ट प्रत्यक्षवाद को निष्पक्ष एवं पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति के रूप में स्वीकार करते हैं।

(3) वास्तविक ज्ञान (Exact Knowledge)– कॉम्ट का कथन है कि प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध केवल वास्तविक ज्ञान से है जिसे यह अवलोकन एवं परीक्षण के माध्यम से प्राप्त करता है। उनके मतानुसार प्रत्यक्षवादी पद्धति में विष्वास अनुभव या अनुमान के आधार पर घटनाओं का विष्ले''ाण नहीं किया जाता। इस संदर्भ में कॉम्ट ने ईष्वरीय तथा तात्विक स्तर का विवरण देते हुए बतलाया कि जहा ईष्वरीय अथवा धार्मिक स्तर में सामाजिक घटनाओं का विष्ले''ाण विष्वास के आधार पर एवं तात्विक अवस्था में संयोग या अनुमान के आधार पर किया जाता है, वही प्रत्यक्षवाद वह विधि है जिसमें यह विष्ले''ाण वैज्ञानिक चिंतन और अवलोकन के आधार पर वास्तविक तथ्यों के संकलन तथा परीक्षण द्वारा किया जाता है। प्रत्यक्षवाद की यह मान्यता स्प''ट करती है कि प्रत्यक्षवादी चिंतन में कल्पना तथा अनुमान का कोई स्थान नही है। यह पद्धति पूर्ण रूप से परीक्षणों आधारित नि''क''ार्ा प्रस्तुत करती है।

(4) प्रत्यक्षवाद और अनीश्वरवाद (Positivism and Atheism)– आगस्त कॉम्ट ने अपनी पुस्तक 'पाजिटिव पालिटी' में प्रत्यक्षवाद और ईष्वरीय अवस्थाओं में पाये जाने वाले चिंतन के स्तर की भिन्नता को भी स्प''ट किया है। वे यह मानते है कि प्रत्यक्षवादी चिंतन या पद्धति ईष्वरीय चिंतन की पद्धति के विपरीत है किन्तु वे इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि प्रत्यक्षवाद अनीइष्वरवादी है। उनका कथन है कि जब प्रत्यक्षवाद का अलौकिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है तब ईष्वरीय विष्वासों से इन की तुलना करने का कोई औचित्य ही नहीं है। स्प''ट है कि कॉम्ट के लिए प्रत्यक्षवाद पूर्णतः यथार्थ से सम्बन्ध रखने वाली पद्धति है जिसका कल्पनाओं ईष्वरवाद, आषावाद या भाग्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(5) प्रत्यक्षवाद एवं ऐतिहासिक पद्धति (Positivism and Historical Method)– कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवाद मुख्यतः ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित है। इसे स्प''ट करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि समाजषास्त्रीय अध्ययनों में प्रत्यक्षवादी पद्धति तीन चरणों में पूर्ण होती है। इसका पहला चरण अवलोकन (Observation) है तथा दूसरा चरण परीक्षण (Experimentation) है। इन दोनों चरणों को संयुक्त रूप से '' नियंत्रित अवलोकन'' कहा जा सकता है। प्रत्यक्षवादी पद्धति के तीसरे चरण का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने कहा कि इसका सम्बन्ध व्याधिकीय प्रकरणों से है जिसमें सर्तकता से तथ्यों का सम्पादन किया जाता है। सम्पादन की इस प्रक्रिया का कॉम्ट ने तुलनात्मक पद्धति या 'षुद्ध परीक्षण' कहा है। कॉम्ट का कथन है कि अवलोकन, परीक्षण एवं तुलनात्मक पद्धति के आधार पर ही तथ्यों

की ऐतिहासिक विवेचना सम्भव है, अतः प्रत्यक्षवाद ऐतिहासिक पद्धति को मान्यता प्रदान करता है।

अगस्त कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित उक्त मान्यताओं के आधार पर हम कह सकते है कि कॉम्ट की दृ"ट में प्रत्यक्षवाद वह पद्धति है। जिसमें अवलोकन, परीक्षण एवं तुलनात्मक के आधार पर सामाजिक तथ्यों का वास्तविक विष्ले"ाण किया जाता है और यह विष्ले"ाण पूर्णतः नि"पक्ष तथा वैज्ञानिक होता है।

6.5 आलोचनात्मक मूल्यांकन

काम्ट के प्रत्यक्षवाद का सबसे दुर्बल पक्ष यह है कि उसने इसमें धर्म और नैतिकता का समावेष कर दिया है। आरम्भ में तो कॉम्ट ने इसे विषुद्व वैज्ञानिक धारणा के रूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन धीरे–धीरे वह वैज्ञानिकता ही नहीं रहना चाहा बल्कि प्रत्यक्षवादी समाज सुधारक के रूप में भी अपने आप को मानने लगा यही कारण है कि धर्म और विज्ञान को अलग नहीं माना बल्कि धारणा मे दोनो को समावि"ट कर दिया कॉम्ट अनेक प्रषंसक जिसमें मिल के अनुसार बाद का कॉम्ट सिर्फ वैज्ञानिक नहीं रहना चाहा बल्कि प्रत्यक्षवादी समाज सुधारक के रूप में भी अपने आप को मानने लगा यही कारण है कि धर्म और विज्ञान को अलग नहीं माना बल्कि अपनी धारणा में दोनों को समावि"ट कर दिया है। कॉम्ट के अनेक प्रषंसक जिसमें मिल सर्वप्रमुख है। कॉम्ट के इस झुकाव को पतन के रूप में स्वीकार किया है। मिल ने तो यहां तक कहां कि ।

कॉम्ट ने जो अपने प्रत्यक्षवादी सिद्वांत के अन्तगर्त सामाजिक पुननिर्माण की रूप रेखा तैयार की है उसे सही ढंग से समाज में लागू नहीं किया जा सकता है इसका कारण इसमें वैज्ञानिक और ताकिर्कता का अभाव है जैसे पुरू"ा द्वारा स्त्री की पूजा करना या नेता द्वारा पुरोहित से झुकवाना लेना सामाजिक जीवन में व्यवहारिक तौर पर मान्य नहीं है।

ने भी कॉम्ट के राज्य और सरकार सम्बधी सिद्वांत की आलोचना की है।ने कॉम्ट द्वारा मजदूर कलबों की स्थापना को विलासिता का कदम माना है। इनका कहना है। कि जहां तक समाजिक विघटन के कारकों का सम्बन्ध है कॉम्ट के विरूद्व एक प्रमुख आलोचना यह भी की जाती है। कि कॉम्ट के मौलिक चिन्तन का परिणाम प्रत्यक्षवाद नहीं है। कॉम्ट से पहले भी के विचारों में प्रत्यक्षवाद की चर्चा घिर फुट रूप में देखने को मिलती है। अतः कॉम्ट को मौलिक चिन्तक नहीं कहा जा सकता बल्कि कुषल समन्वयकर्ता कहा जायेगा।

प्रत्यक्षवादी पद्धति की चर्चा करते हुए कॉम्ट नैतिकता और बौद्धिकता तथा धर्म और विज्ञान के जाल में कुछ इस तरह से उलझ गये कि कुछ विद्वानों को यह कहने के लिए विवष होना पड़ा कि ''प्रत्यक्षवाद का जन्मदाता ही सर्वाधिक अप्रत्यक्षवादी अथवा अवैज्ञानिक है।'' इस प्रकार कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतों की अनेक आधारों पर कटु आलोचना की गई है। इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि कॉम्ट द्वारा आलोचना के स्तर से ऊपर उठ कर प्रतिपादित विचारों में अनेक कमीया है। लेकिन आलोचना के स्तर से ऊपर उठ कर यदि हम कॉम्ट की उपादेयता का उल्लेख करें तो कॉम्ट का चिंतन समाजषास्त्र में नींव के पत्थर की भॉति दिखाई देता है। यदि हम इस तथ्य पर विचार करें कि जब समाजषास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धांतों का भी कोई वैज्ञानिक अस्तित्व नहीं था, उस समय कॉम्ट द्वारा समाजषास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रति"ठत करनें के लिए कितना आधारभूत योगदान किया गया, निःसन्देह एक समाजषास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट की उपादेयता सिद्ध हो जाती है। समाजषास्त्र में आज प्रकार्यवादी अध्ययनों को एक बड़ी उपलब्धि के रूप में देखा जाता है जबकि यह अध्ययन कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद एवं समाज की सावयवी संरचना जैसी अवधारणाओं की सहायता से ही विकसित हो सके। सच तो यह है कि विज्ञानों के संस्तरण के संदर्भ में कॉम्ट ने 'सरलता से जटिलता' की दिषा में होने वाले परिवर्तन की जिस प्रवृत्ति को स्प"ट किया, वह आज भी अनेक महत्वपूर्ण समाजषास्त्रीय सिद्धांतों का आधार है। इस दृ"टकोण से एक समाजषास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

प्रत्यक्षवादी पद्धति की चर्चा करते हुए कॉम्ट नैतिकता और बौद्धिकता तथा धर्म और विज्ञान के जाल में कुछ इस तरह से उलझ गये कि कुछ विद्वानों को यह कहने के लिए विवष होना पड़ा कि ''प्रत्यक्षवाद का जन्मदाता ही सर्वाधिक अप्रत्यक्षवादी अथवा अवैज्ञानिक है।'' इस प्रकार कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतों की अनेक आधारों पर कटु आलोचना की गई है। इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि कॉम्ट द्वारा आलोचना के स्तर से ऊपर उठ कर प्रतिपादित विचारों में अनेक कमीया है। लेकिन आलोचना के स्तर से ऊपर उठ कर यदि हम कॉम्ट की उपादेयता का उल्लेख करें तो कॉम्ट का चिंतन समाजषास्त्र में नींव के पत्थर की भॉति दिखाई देता है। यदि हम इस तथ्य पर विचार करें कि जब समाजषास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धांतों का भी कोई वैज्ञानिक अस्तित्व नहीं था, उस समय कॉम्ट द्वारा समाजषास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रति"ठत करनें के लिए कितना आधारभूत योगदान किया गया, निःसन्देह एक समाजषास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट की उपादेयता सिद्ध हो जाती है। समाजषास्त्र में आज प्रकार्यवादी अध्ययनों को एक बड़ी उपलब्धि के रूप में देखा जाता है जबकि यह अध्ययन कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद एवं समाज की सावयवी संरचना जैसी अवधारणाओं की सहायता से ही विकसित हो सके। सच तो यह है कि विज्ञानों के संस्तरण के संदर्भ में कॉम्ट ने 'सरलता से जटिलता' की दिषा में होने वाले परिवर्तन की जिस प्रवृत्ति को स्प"ट

किया, वह आज भी अनेक महत्वपूर्ण समाजषास्त्रीय सिद्धांतों का आधार है। इस दृ"टकोण से एक समाजषास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

इस तरह ऊपर की चर्चाओं के आधार पर हम देखते है कि प्रत्यक्षवाद एक अवधारणा है जो निरीक्षण परीक्षण तुलना आदि द्वारा सामाजिक समस्याओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर समाज की भौतिक बौद्विक और नैतिक नियमों की खोज कर एक ऐसी सहानुभूति एवं परोपकार की भावना से ओत प्रोत मानवता का धर्म प्रति"ठत है।

यो तो कॉम्ट ने अपने प्रत्यक्षवादी विचारधारा को बहुत ही व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। फिर भी आलोचकों में कई मुद्दों पर इसकी आलोचना की है कॉम्ट के आलोचकों में उसके प्रमुख प्रषंसक ने भी उनकी आलोचना की है। इस आलोचनाओं के बाद भी यह सही है कि प्रत्यक्षवाद को प्रस्तुत करने का श्रेय कॉम्ट को है। समाजषास्त्र में प्रत्यक्षवाद एक ऐसी अध्ययन पद्वति है जिसे बाद मे समाजषास्त्रियों ने भी स्वीकारा है।

6.6 सारांश–

इस इकाई के अध्ययन से आप जान चुके हैं कि प्रत्यक्षवाद क्या है। प्रत्यक्षवाद का दृ"टकोण वैज्ञानिक है और वह स्वंय 'विज्ञान' है। वह स्वंय–निरीक्षण, परीक्षण व प्रयोग को आधार मानकर वैज्ञानिक दृ"टकोण से अपना अध्ययन–कार्य पूरा करता है। इस तरह हम देखते है कि कॉम्ट का प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक विधि है। प्रत्यक्षवाद का यह मानना है कि जिस प्रकार प्राकृतिक घटनाओं आकस्मिक नहीं होती है। उसी तरह सामाजिक घटनायें भी बिना कारण नहीं होती है। प्रत्यक्षवाद समाज को कुछ निष्चित सामाजिक नियमों से संचालित तथ्य के रूप में स्वीकार करता है। जिसका अध्ययन प्रत्यक्षवादी विधि से किया जाता है।

6.7 पारिभा"िाक शब्दावली–

प्रत्यक्षवाद(च्वेपजपअपेउ) – कॉम्ट के अनुसार, प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक पद्धति हैं। इसके माध्यम से किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन वैज्ञानिक, व्यवस्थित तथा तार्किकता पर आधारित होता है। साथ ही, आगस्त कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवाद समाज का वैज्ञानिक स्तर भी है।

6.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

1. **ऑगस्ट कॉम्टे के अनुसार मानवीय ज्ञान तीन मुख्य अवस्थाओं से गुजरा , जो हैं–प्रत्यक्षात्मक,तत्वमीमांसीय,घर्म 'ास्त्रीय**

   नीचे दिये कूटों का प्रयोग करते हुए इन अवस्थाओं के उदय होने का सही कम चुनिए–

   क. धर्मषास्त्रीय, तत्वमीमांसीय, प्रत्यक्षात्मक

ख. तत्वमीमांसीय धर्मषास्त्रीय प्रत्यक्षात्मक
ग. धर्मषास्त्रीय प्रत्यक्षात्मक तत्वमीमांसीय
घ. प्रत्यक्षात्मक धर्मषास्त्रीय तत्वमीमांसीय

2. **ऑगस्त कॉम्ट में समाज के अध्ययन को विभाजित किया है–**
क. उप संरचना एवं अतिसंरचना में
ख. सामाजिक स्थिति षास्त्र एवं सामाजिक गतिषास्त्र में
ग. अन्तः समूह और बाध्य समूह में
घ. उपरोक्त में से कोई नहीं

3. **कॉम्ट ने समाज विज्ञान को कौन सा नाम दिया था जब तक उसने सोशियोलॉजी 'ाब्द की रचना हीं कर ली थी**
कण् सोषलडियॉलोजी
ख. सोषलबायोलोजी
ग. एन्थ्रोपोलोजी
घ. सोषलफिजिक्स

4. **कॉम्टे की मृत्यु कब हुई**
म. अगस्त 15ए 1851 ई0
ख. सितम्बर 5ए1857 ई0
ग अक्टूबर 25ए1859 ई0
घ. दिसम्बर 29ए1861 ई0

5. **ऑगस्त कॉम्ट को समाजशास्त्र का जनक कहा जाता हैं, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने–**
- समाजषास्त्र की परिभाषा दी

ख. समाजषास्त्र शब्द की रचना की
ग. समाजषास्त्र के अध्ययन का वैज्ञानिक तरीका सुझाया
घ. समाजषास्त्र की पुस्तक लिखी।

6. **ऑगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र 'ाब्द का प्रयोग कब किया?**
क. सन् 1836 ई0
ख. सन् 1846 ई0
ग. सन् 1838 ई0
घ. सन् 1848 ई0

7 **निम्नलिखित में से कॉम्टे के परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुसार सही अनुक्रम कौनसा एक है?**

धर्मषास्त्रीय, प्रत्यक्षवादी,तत्वदार्षनिक

ख. धर्मषास्त्रीय,तत्वदार्षनिक,प्रत्यक्षवादी

ग. तत्वदार्षनिक,धर्मषास्त्रीय,प्रत्यक्षवादी

घ. प्रत्यक्षवादी,तत्वदार्षनिक,धर्मषास्त्रीय

8 **सूची.ए को सूची.ब्ा के साथ सुमेलित कीजिये और सूचियों के नीचे दिये गये कूट की सहायता से सही उत्तर का चयन कीजिएः**

सूची.ए	सूची.ब्ा
क. अगस्त कॉम्ट	1. भौतिकवाद
ख. कार्लमार्क्स	2. विकासवाद

ग. हरबर्ट स्पेंसर 3. प्रत्यक्षवाद
घ. रडक्लिफ ब्राउन 4. प्रकार्यवाद
5. अस्तित्ववाद

कूटः

ंण	।	ठ	ढ	क
	3	1	2	4
इण	।	ठ	ढ	क
	4	2	1	5
बण	।	ठ	ढ	क
	3	2	1	4
कण	।	ठ	ढ	क
	2	1	5	4

9 प्रत्यक्षवाद की चर्चा निम्नलिखित में से किस विद्वान ने की?
क. आगस्ट कॉम्ट
ख. कालमार्क्स
ग. इमाइल दुर्खीम
घ. हरबर्ट स्पेन्सर

10 प्रत्यक्षवाद को किस विद्वान ने अपनी अध्ययन पद्धति बनाया?
क. कालमार्क्स

ख. इमाइल दुर्खीम

ग. हरबर्ट स्पेन्सर

घ. आगस्ट कॉम्ट

11 आगस्त कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का उच्चतम स्तर हैं?
क. तात्विक स्तर
ख. धार्मिक स्तर
ग. वैज्ञानिक स्तर
घ. उपर्युक्त में से कोई नही।

12 आगस्त कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का निम्नतम स्तर है?
क. तात्विक स्तर
ख. धार्मिक स्तर
ग. वैज्ञानिक स्तर
घ. उपर्युक्त में से कोई नही।

उत्तर– 1. क 2. ख. 3.घ 4.ख 5.ग 6.ग 7.ख 8.क 9.क 10.घ 11.ग 12.ख

6.9 संदर्भ ग्रंथ सूची–

(1) शम्भूलाल दोषी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजषासत्रीय सिद्धान्त (1997) रावत पब्लिकेषन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, च. 22.110
(2) एस. एल. दोषी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेषन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, च. 150.280
(3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजषास्त्रीय सिद्धान्त (2012) विवेक प्रकाषन, जवाहर नगर, दिल्ली, च. 30–35
(4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शषी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजषास्त्र (1998), रिसर्च पब्लिकेषन्स, जयपुर, च. 143
(5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, च. 11ण्1ए 12ण्5
(6) डा0 अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दषा एवं दिषा, ल्यूसेंट पटना, च 1. 55

6.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री–

(1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay, Calculta, Madras (1982) —P- 10-55
(2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 1-20

6.11 निबन्धात्मक प्रश्न–

(1) कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित '' प्रत्यक्षवाद के सिद्धांत '' का वर्णन कीजिए।

(2) पत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक पद्धति हैं स्प"ट कीजिये?

इकाई 7– द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
Dialectical Materialism

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 द्वंद्वात्मकता का अर्थ

7.3 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

7.3.1 हीगल के विचार

7.3.2 कार्ल मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

7.4 द्वंद्वात्मकता के नियम

7.4.1 विपरीत की एकता एवं संघर्श का नियम

7.4.2 निशेध का निशेध नियम

7.4.3 मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों मेंपरिवर्तन का नियम

7.5 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग

7.5.1 आदिम साम्यवादी समाज

7.5.2 दास प्रथावादी समाज

7.5.3 सामंतवादी समाज

7.5.4 पूंजीवादी समाज

7.5.5 साम्यवाद समाज

7.6 सारांश

7.7 पारिभाि"ाक 'ाब्दावली

7.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7-10 lgk;d@mi;ksxh ikB~; lkexzh

7-11 fuca/kkRed iz'u

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा–

- द्वंद्वात्मक अवधारणा को समझना,
- भौतिकवाद की अवधारणा की सामाजिकता को स्पश्ट करना,
- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अर्थ को समाज संदर्भ में समझना,
- हीगल के विचारों को जानना,
- कार्ल मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांन्त की व्याख्या करना,
- समाज मं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियमों की व्याख्या करना,
- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियमों द्धारा समाज के इतिहास की अवस्था के विकास को समझना।
-

7.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को समाज संदर्भ में समझाया जायेगा। कार्ल मार्क्स के विचारो को जानने में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को समझना आव"यक हो जाता है। सर्वप्रथम इस प्रस्तुत इकाई में आपको द्वंद्वात्मक शब्द के अर्थ पर ऐतिहासिक दृष्टि से उसके अर्थ को समझाया जायेगा तथा द्वंद्वात्मक तर्क पद्धति जो कि दो या दो से अधिक लोगो के बीच चर्चा करने की विधि है जो किसी विषय पर अलग अलग राय रखते है लेकिन तर्क पूर्ण चर्चा की सहायता से सत्य तक पहुचने का रास्ता है को बताया गया। संक्षिप्त में आपको यह बताया गया कि द्धंद्धात्मकता को एक तर्क–विर्तक की आरोही एवं अवरोही स्वरूपों में एक प्रक्रिया भी कहा गया है। इसके बाद हीगल के विचारो को बताया गया क्योंकि मार्क्स के विचारो को इनके बिना चर्चा करना असंगत प्रतीत होता है। हीगल के अनुसार, द्वंद्वात्मक में संसार में प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी वस्तु अव"य होती है, पहले वाद होता है, उसके बाद प्रतिवाद तब इन दोनो के संधर्ष से संवाद होता है। संवाद एक नई परिस्थिति है जो कि अस्थायी होता है। मार्क्स हीगल के विचारवाद का विरोधी है। द्धन्द्धात्मक भौतिकवाद मार्क्स के लिए वास्तविकता विचार मात्र नही भौतिक सत्य है, विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है, उसका भौतिकवाद विकासवान है लेकिन यह विकास द्धंद्धात्मक प्रकार से होता है। मार्क्स का द्धन्द्धात्मक भौतिकवाद वि"व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ को मानता है जो कि अपने आन्तरिक स्वभाव द्धारा विकसित होकर नाना रूप धारण कर लेता है यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से

ही निहित एक आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें वाद, प्रतिवाद और संवाद ये तीन अवस्थाए होती है। विकास की यह प्रक्रिया सीधी एवं सरल नही है वरन एक बिन्दु पर आकर अकस्मात तीव्र विस्फोट की भाति होती है जिससे समाज व सामाजिक परिवर्तन में क्रान्ति आती है। प्रत्येक क्रान्ति के बाद नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है इससे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का क्रान्तिकारी रूप स्पष्ट होता है और इसी के साथ मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वि"ोषताओं को स्पष्ट करते हुये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों को प्रयोग किया गया जिसमें –विपरीत की एकता एवं संधर्ष का नियम, निषेध का निषेध नियम, मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम को जानने के लिए बताया गया। इसके बाद समाज के विकास अर्थात इतिहास की अवस्थाओं– आदिम साम्यवादी समाज, दासप्रथावादी समाज, सामंतवादी समाज, पूंजीवादी समाज आदि को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर व्याख्या की गयी है। जिसके फलस्वरूप आप मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अच्छी तरह जान सके।

7.2 द्वंद्वात्मकता का अर्थ

यहा पर हम आपको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अर्थ के साथ द्वन्द्वात्मक व भौतिकवाद की अवधारणा को समझाने का प्रयास करते है। द्वंद्वात्मक तर्क पद्धति दो या दो से अधिक लोगो के बीच तर्क वितर्क करने की विधि है जो किसी विषय पर अलग अलग अपना मत रखते है लेकिन यह तर्क पूर्ण चर्चा की सहायता से सत्य तक पहुचने का रास्ता है। पहले हम आपको द्वंद्वात्मक शब्द के अर्थ से अवगत कराते है। द्वंद्वात्मक शब्द का अर्थ वाद–संवाद की बौद्धिक विवेचना पद्धति से लिया जाता है। यह तर्क शास्त्र की एक अवधारणा है जो कि **अरस्तू के अनुसार** यह प्रष्नोत्तर द्वारा तर्क वितर्क के लिए प्रयुक्त किया जाता है। **यूनानी** दा"ार्निक **प्लेटो** ने इस अवधारणा को अपने दा"ार्निक विचारों के संदर्भ में विकसित किया था। दा"ार्निक **सुकरात** ने इस अवधारणा को सभी विज्ञानों की मूल अवधारणाओं के परीक्षण हेतू प्रयुक्त किया था। मध्य काल के अंत तक यह अवधारणा तर्क"ाास्त्र का एक हिस्सा बनी रही। इस अवधारणा की तर्क–वितर्क परम्परा के अनुसार जर्मन दा"ार्निक इमानुएल कॉट ने यूरोप के आधुनिक द"ार्न में इसका प्रयोग किया और कहा कि आनुभाविक धटनाओं को नियंत्रित करने वालें नियमों से गैर आनुभाविक वस्तुओं की व्याख्या नही की जा सकती है।

द्वन्द्ववाद का अंग्रेजी रूपान्तरण Dialectic यूनानी शब्द Dialego से बना है जिसका अर्थ बातचीत करना अर्थात तर्क वितर्क करना होता है। प्राचीन समय में द्वन्द्ववाद तर्क वितर्क के दौरान प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत तर्क या युक्ति में विरोधों को बताकर तथा उनका समाधान करके सत्य तक पहुचने की कला थी। प्राचीन काल मे ऐसे दा"ार्निक थे जिनकी मान्यता थी कि विचारों में विरोधों के प्रकट होने से सत्य तक पहुचा जा सकता है। द्वंद्वात्मकता को एक प्रक्रिया भी माना गया है। यह तर्क–वितर्क की आरोही एवं अवरोही स्वरूपों में एक प्रक्रिया है। द्वंद्वात्मक के आरोही स्वरूप से अध्यात्मिक यर्थाथ के अस्तित्व को द"ार्या जा सकता है। जैसे– ई"वर के स्वरूपों को। द्वंद्वात्मक के अवरोही स्वरूप से आनुभाविक प्रधटना जगत में अध्यात्मिक यर्थाथ की अभिव्यक्ति की व्याख्या की जा सकती है। आप यहा द्वंद्वात्मकता के अर्थ से भलिभाति परिचित हो गये होगें। आइए हम आगे द्वन्द्ववाद के संदर्भ में हीगल व कार्ल मार्क्स के विचारो को समझते है।

7.3 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

7.3.1 हीगल के विचार–

हीगल एक दा"र्निक विचारक थे। मार्क्स जब ि"क्षा ग्रहण कर रहे थे उस समय जर्मनी के बुद्धिजीवियों पर हीगल के द"र्न का वि"ोष प्रभाव था। जिसका प्रभाव मार्क्स पर पडा। हीगल ने द्वंद्वात्मक विचार प्रस्तुत किये और अपने अध्ययन केन्द्र में जगत में विचारो को ज्यादा महत्वपूर्ण बताया न कि पदार्थो को। द्वंद्वात्मक शब्द को यूनानी भाषा के शब्द डायलिगो (Dialego) से ग्रहण किया। जिसका अर्थ है कि वि"व में जड और चेतन सभी पदार्थों में कुछ अन्तर्विरोध पाया जाता है। प्रत्येक वस्तु की आन्तरिक संरचना का निर्माण होता है जिसमें विभिन्न अंगो के बीच जो अन्तर्विरोध अथवा द्वन्द्व पाया जाता है उसी के परिणामस्वरूप उस वस्तु के बाहरी स्वरूप में परिवर्तन आता है। अतः प्रकृति के प्रत्येक भाग में द्वन्द्व की प्रक्रिया अन्तर्निहित रहती है। हीगल का संपूर्ण चिन्तन अराजकतावादी दि"ा में आगे बढा। हीगल के अनुसार, जब हमारे मस्तिष्क में कोई विचार पैदा होता है तब उसी समय उसका एक प्रतिवाद विचार हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होने लगता है। इन दोनो विचारो के बीच द्वन्द्व की प्रक्रिया शुरू हो जाती है जिसका परिणाम एक ऐसे विचार के रूप में होता है जिसे हम समन्वय की द"ा कह सकते है जैसे– जब एक व्यक्ति धन कमाना चाहता है और उसके लिए कठिन परिश्रम करता है तब उसके मस्तिष्क में गलत तरीको से धन कमाने की इच्छा पैदा भी होती है। इन दोनो तरह के विचारों के बीच द्वन्द्व अथवा संधर्ष शुरू होता है। जिस द्वन्द्व के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी तार्किकता और चेतना के आधार पर जिस परिणाम पर पहुँचता है उसी को हम सं"लेषण या समन्वय कहते है। इसी आधार पर हीगल ने समाज के बारे में बताया कि समाज मे जो भी परिवर्तन होते है वे व्यक्तियों के मस्तिष्क में वाद और प्रतिवाद के रूप में होने वाले द्वन्द्व तथा उसके परिणामस्वरूप जन्म लेने वाले समन्वय के आधार पर होते है। जिसे हमनें निम्न चित्र द्वारा भी आपको समझने का प्रयास कराया है।

	प्रारम्भिक विचार	विरोधी विचार	परिणाम
स्थिति	वाद ⟶	प्रतिवाद ⟶	सं"लेषण या समन्वय

चित्र– हीगल के द्वन्द्व विचार

द्वंद्वात्मकता के विचारों में हीगल का मानना है कि द्वन्द्ववादी प्रणाली में बुद्धिसंगत तत्व है उसमें विकास का विचार है, हीगल घटनाओं और घटना प्रवाह को एक–दुसरे के संदर्भ में उनके पारस्परिक संबधों और एक–दुसरे पर निर्भर रहने की पृष्ठभूमि में देखते है। हीगल घटना प्रवाह को उत्थान, परिवर्तन और विना"ा के एक क्रम के रूप में देखते है और कहते है कि इस क्रम के चलते रहने का मुख्य कारण विरोधी शक्तियों का संधर्ष ही है। हीगल के अनुसार, संसार में प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी वस्तु अव"य होती है, सवप्रथम वाद होता है, उसके बाद प्रतिवाद। तब इन दोनो के संधर्ष से संवाद होता है। संवाद में वाद व प्रतिवाद दोनो वस्तुए पायी जाती है। संवाद एक नई परिस्थिति है जो कि अस्थायी होता है क्योंकि प्रगति के दौरान कुछ समय बाद यह वाद का रूप ले लेता है। तब फिर इसका प्रतिवाद होता है तथा संधर्ष के परिणामस्वरूप संवाद जन्म लेता है और यह प्रकिया निरन्तर नये को जन्म लेने के लिए चलती रहती है। जिसे समाज संदर्भ मे हीगल ने लागू किया। यहा आप सभी हीगल के विचारों को समाज के संदर्भ में जानकारी प्राप्त कर चुके है। आइए अब कार्ल मार्क्स के विचारो पर चर्चा करते है–

7.3.2 कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद –

कार्ल मार्क्स का जन्म 05 मई सन् 1818 में राइन प्रान्त के टियर नगर के एक यहूदी परिवार में हुआ था। इनकें पिता पे"ो से वकील थे जिन्होनें बाद में ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। कार्ल मार्क्स की f"ाक्षा एक अच्छे स्कूल जिमनेजियम से होती हुई बोन वि"वविधालय से f"ाक्षा ग्रहण करने के बाद बर्लिन वि"वविधालय में प्रवे"ा लिया यही से इनके जीवन में नया मोड आया। इस वि"वविधालय मे हीगल कें विचारों का काफी प्रभाव था जो कि कार्ल मार्क्स पर भी पडा। कार्ल मार्क्स को अपने डॉक्टरेट की उपाधि अपने शोध प्रबन्धन **"On the Difference between the Natural Philosophy of Democritus and Epicurus"** पर हुई।

कार्ल मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मक विकासवाद की धारणा को तो ग्रहण किया लेकिन हीगल के आत्मा के सिद्धान्त को काल्पनिक व अवैज्ञानिक कहकर इसकी आलोचना की। यह कहना कि वाहय जगत असत्य है या उसकी सत्ता मानव मस्तिष्क के कारण है वास्तव में वाहय जगत की वास्तविकता को अस्वीकार करना है कि क्योंकि वाहय जगत न तो मस्तिष्क पर न ही आत्मा पर आधारित है इनके बिना भी वाहय जगत रहेगा और था। अर्थात वाहय जगत मार्क्स के अनुसार सत्य है और उसका आधार आत्मा या वि"वात्मा जैसी कोई अवास्तविक चीज न होकर अपितु कुछ ठोस व वास्तविक चीज या भौतिक तत्व है। आत्मा अवास्तिवक इसलिए है कि इसको हम प्रत्यक्ष रूप से नही देख पाते है अपितु कल्पना कर पाते है और किसी भी काल्पनिक चीज का अस्तित्व हमारे लिए न के बराबर है। जो वास्तव में है जिसे हम प्रत्यक्ष रूप

में देख सकते है छू सकते है जैसे– मिट्टी, पत्थर, मांस आदि उसी को क्यों न जगत का वास्तविक आधार माना जाये। अतः वाास्तविक भौतिक वस्तुओं को छोडकर हीगल का जो द"र्ान आत्मा जैसे काल्पनिक आधार पर आधारित हैं उसे कैसें स्वीकार कर लिया जाये। इसलिए कार्ल मार्क्स ने हीगल के द"र्ान को अस्वीकार कर अपने द"र्ान को द्वन्द्वात्मक पर आधारित किया। अतः स्पष्ट है कि मार्क्स का द"र्ान हीगल के द"र्ान का विपरीत रूप है। कार्ल मार्क्स ने कैपिटल की भूमिका मे लिखा कि मैनें हीगल के द्वन्द्ववाद को सिर (मस्तिष्क, आत्मा) के बल खडा पाया, मैने उसे पैरों के बल (प्रथ्वी पर, भौतिकता के आधार पर) खडा कर दिया। कार्ल मार्क्स का उददे"य एक ऐसे सुसम्बद्ध और सुसंगत भौतिकवादी वि"वद"र्ान की रचना करना था जो सामाजिक जीवन और प्रकृति दोनो पर लागू किया जा सके।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के विचारों का मूल आधार है। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववादी विचार ग्रहण किये लेकिन उनमें कुछ सं"गोधन किया। मार्क्स के लिए वास्तविकता विचार मात्र नही भौतिक सत्य है, विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है, उसका भौतिकवाद विकासवान है लेकिन यह विकास द्वंद्वात्मक प्रकार से होता है। इस प्रकार मार्क्स हीगल के विचारवाद का विरोधी है लेकिन उसकी द्वंद्वात्मक प्रणाली को स्वीकार करता है। मार्क्स का द"र्ान द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहलाता है क्योकि इसमें प्रकृति के धटनाक्रम को समझने का तरीका द्वन्द्ववादी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार, वि"व का निर्माण आत्मा विचार चिन्तन से नही अपितु भौतिक पदार्थ या वस्तु से हुआ है। चेतना का आधार भौतिक है पदार्थ है पदार्थ में दो विरोधी शक्तिया पायी जाती है जिनके द्वन्द्व या संधर्ष से ही वि"व एवं प्रकृति का निर्माण होता है यह पदार्थ गति"ाील है। निरन्तर प्रवाहमय है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु गति"ाील है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वि"व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ को मानता है जो कि अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर नाना रूप धारण कर लेता है। यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से ही निहित एक आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें वाद, प्रतिवाद और संवाद ये तीन अवस्थाए होती है। विकास की यह प्रक्रिया सीधी एवं सरल नही है विकास की प्रक्रिया पहले मात्रात्मक परिवर्तन व फिर आकस्मिक तीव्र परिवर्तन होकर गुणात्मक परिवर्तन में बदल जाता है। वरन एक बिन्दु पर आकर अकस्मात तीव्र विस्फोट की भाति होती है यही स्थिति सामाजिक परिवर्तन में क्रान्ति लाती है। प्रत्येक क्रान्ति के बाद नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है । प्रत्येक भौतिकपदार्थ अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा ही अपने प्रतिवाद को जन्म देता है जिससे वाद व प्रतिवाद में संघर्ष होकर संवाद होता है और इसी में समस्त परिवर्तन का रहस्य छिपा होता है। यह नियम समाज पर लागू होता है। इससे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का क्रान्तिकारी रूप स्पष्ट होता है।

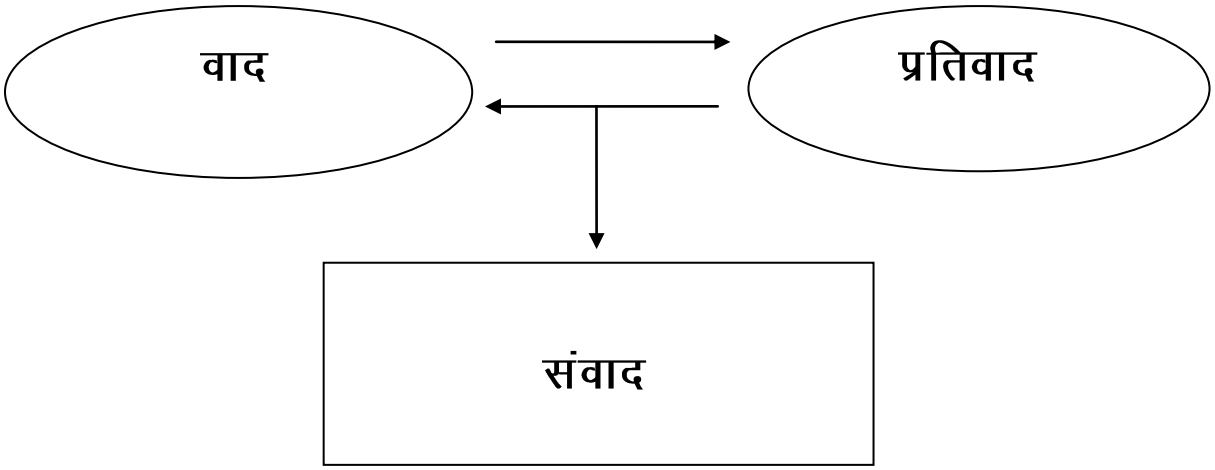

चित्र– मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वि"ोषताऐं–

विभिन्न विद्वानों द्वारा मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वि"ोषताओं को निम्न बताया गया है–

1. मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद प्रकृति को ऐसी वस्तुओं और घटना प्रवाहों का एक आकस्मिक संग्रह कदापि नही मानता जो एक दुसरे से बिल्कुल अलग–अलग असम्बन्धित तथा स्वतन्त्र हो। वह द्वन्द्ववाद जो प्रकृति को एक सुसम्बद्ध तथा पूर्ण समग्रता के रूप में मानता है जिसमें कि विभिन्न वस्तुएं तथा घटनाये सावयवी रूप में एक–दूसरे से संयुक्त तथा निर्भर तथा निधार्रित होती है।
2. तत्व"ाास्त्र के विपरीत मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि प्रकृति एक स्थिर, अगति"ाील, अपरिवर्तन"ाील और चिरन्तन स्थिति नही है प्रकृति तो निरन्तर गति"ाील परिवर्तन"ाील नवीन परिवर्द्धित तथा परिमार्जित स्थिति है। जिसमें कुछ चीजों का सदैव उदभव और विकास होता है। और कुछ की अवनति और विना"ा।
3. तत्व"ाास्त्र के विपरीत मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि विकास की प्रक्रिया एक सरल प्रक्रिया है। जिसमें कि परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन नही होतें है। मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद के अनुसार छोटे से छोटे परिणामस्वरूप परिवर्तन से बडे से बडे गुणात्मक परिवर्तन भी संभव हो सकते है। लेकिन ये परिवर्तन तीव्रता से एकाएक होते है।
4. तत्व"ाास्त्र के विपरीत मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि समस्त वस्तुओं व प्रकृति की घटनाओं में आन्तरिक विरोध स्वाभाविक होतें है क्योंकि इन सबका विलोमात्मक और अनुलोमात्मक पक्ष या

वाद और प्रतिवाद, भुत और भविष्य विना"ोन्मुखता और प्रगति"ाील अर्थात विना"ा और विकास दोनो ही पक्ष होते है। इन दोनो विरोधों के बीच संधर्ष अर्थात पुराने और नये के बीच संधर्ष आन्तरिक अन्तर्वस्तु है। अतः द्वन्द्ववाद के अनुसार विकास आन्तरिक विरोध या संधर्ष द्वारा ही संचालित होता रहता है।

बोध प्रश्न–1

i) द्वन्द्ववाद का क्या अर्थ है

.....

.....

ii) द्वंद्वात्मक तर्क पद्धति क्या है ?

.....

.....

.....

iii) द्वन्द्ववाद की अवधारणा मार्क्स ने किस विद्वान से ग्रहण की ?

.....

.....

.....

iv) कार्ल मार्क्स ने अपने प्रतिपादित सिद्धांत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में वि"व के निर्माण का आधार किसे बताया है।

.....

.....

.....

v) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार क्या प्रत्येक वस्तु गति"ाील है ?

.....

.....

.....

vi) कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में कितनी अवस्थायें पायी जाती है ?

.....

.....

.....

.....

सत्य/असत्य बताइए ?

vii) क्या हीगल का द्वन्द्ववाद व मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक है

.....

.....

.....

viii) कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अपने सिद्धान्त में भौतिक पदार्थो को प्रधानता देता है।

.....

.....

7.4 द्वंद्वात्मकता के नियम

मार्क्स के सहयोगी एंजल्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के **तीन नियम– विपरीत की एकता एवं संघर्श का नियम, निशेध का निशेध नियम एवं मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम** बताये है। जिसमें मार्क्स प्रत्येक वस्तु की व्याख्या पदार्थ के विरोधाभास के रूप में करता है। आइए अब हम इन नियमों को विस्तृत में समझते है–

7.4.1 विपरीत की एकता एवं संधर्श का नियम–

आइए अब हम समाज के संदर्भ में द्वंद्वात्मकता के नियम के अंतर्गत विपरीत की एकता एवं संधर्ष के नियम पर बात करते है। समाज मे प्रत्येक वस्तु परिवर्तन के बहाव में है क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का नियम है।

लेकिन हमें यह भी जानना आव"यक होता है कि इन परिवर्तन के पिछे क्या कारण होते है विपरीत की एकता एवं संधर्ष का नियम भौतिक जगत में विकास तथा शा"वत परिवर्तन के वास्तविक कारणों को जानना होता है। विपरीत की एकता एवं संधर्ष का नियम में वस्तुओं या प्रघटनाओं में आंतरिक प्रवृतियों तथा शक्तिया होती है जो कि परस्पर विरोधी होती है। इन परस्पर विरोधी प्रवृतियों या विरोधाभासों के अभिन्न अंतसम्बन्धित विपरीत की एकता के लिए उत्तरदायी होते है। वि"व की वस्तुओं एवं प्रघटनाओं का यह विरोधाभास सामान्य व सार्वभौमिक प्रकृति का होता है इन परस्पर विरोधी प्रवृतियों अथवा विपरीत में सहअस्तित्व पाया जाता है तथा एक के बिना दुसरे की व्याख्या नही की जा सकती है। इन विपरीत शक्तियों में परस्पर विरोधी प्रकृति इनमें अनिवार्यत संधर्ष पैदा करती है। सभी में संधर्ष अनिवार्य होता है। विपरीत की एकता एवं संधर्ष की एक आव"यक द"ाा है क्योंकि संधर्ष तब ही घटित होता है जब किसी एक वस्तु अथवा प्रघटना में विपरीत शक्तिया अस्तित्व में विघमान होती है। विपरीत का संघर्ष से ही विकास होता है प्राय इन शक्तियों में से एक शक्ति यथास्थिति को बनाये रखना चाहती है और दूसरी शक्ति यथास्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहती है इस संधर्ष के कारण अनेक मात्रात्मक परिवर्तन के प"चात जब भी परिपक्व अवस्थाए अस्तित्व में आती है तो एक नई स्थिति वस्तु प्रघटना या अवस्था या परिवर्तन का जन्म होता है यह क्रांतिकारी परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन है इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन नियमों में तार्किक अंतसंबध देखे जाते है। उन वाह्य प्रभावों की भूमिका की उपेक्षा करना त्रुटिपूर्ण होगा जो कि परिवर्तन लाने के लिए सहायक हो सकते है सभी प्रकार के परिवर्तनों का स्रोत आंतरिक विरोधाभास है। विपरीत तत्वों में कभी समाभाव नही आ पाता है विपरीत तत्वों का समान प्रभाव अस्थायी व सापेक्षिक होता है जबकि उनके बीच संघर्ष हमें"ाा चलता रहता है विपरीत की एकता एवं संधर्ष के नियम के मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम तथा निषेध का निषेध नियम इसके उदाहरण है। विपरीत की एकता एवं संधर्ष के इस अमूर्त नियम को सामाजिक विकास के इतिहास की क्रमिक उत्पादन प्रणाली पर लागू किया जाये तो इसको सरलता से समझा जा सकता है।

7.4.2 निषेध **का** निषेध **नियम**–

समाज के संदर्भ में द्वंद्वात्मकता के नियम के अंतर्गत विपरीत की एकता एवं संधर्ष के नियम के उपरान्त निषेध का निषेध नियम पर बात करते है। हीगल ने निषेध शब्द को द"ान"ाास्त्र में प्रयोग किया जिसमें इसका प्रत्ययवादी अर्थात आर्द"ावादी अर्थ लिया गया है। हीगल के अनुसार निषेध की अवधारणा विचार तथा चिन्तन में उपजती है जबकि **कार्ल मार्क्स ने निशेध की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की।** मार्क्स के अनुसार निषेध यथार्थ के विकास का एक अभिन्न अंग है। किसी भी क्षेत्र में कोई भी तत्व अपने पूर्व के अस्तित्व के स्वरूप को नकारे या निषेध किये बिना विकसित नही हो सकता उदाहरण– के रूप में पृथ्वी

की उपरी सतह अनेक भूगर्भीय युगो से गुजर चुकी है। प्रत्येक नया युग पिछले युग के आधार पर अस्तित्व में आता है और इसप्रकार पुराने युग के निषेध का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा ही प्राणी जगत में भी विघामान होता है प्राणी जगत में भी प्राणियों की प्रत्येक नई किस्म अपनी से पुरानी किस्म के आधार पर पैदा होती है और साथ ही साथ उसके निषेध का भी प्रतिनिधित्व करती है। इसी प्रकार से समाज का इतिहास भी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के नई व्यवस्थता द्धारा निषेधों की एक श्रखला है। रेमण्ड आरों ने कहा कि पूंजीवादी समाज सामन्तवादी समाज का निषेध है तथा समाजवाद पूंजीवाद का निषेध होगा अर्थात समाजवाद निषेध का निषेध है। यहा महत्वपूर्ण बात यह ध्यान देने योग्य है कि निषेध किसी वस्तु या प्रघटना में बाहर से प्रविष्ट नही करता है अपितु यह किसी वस्तु या प्रघटना के आंतरिक विकास का ही परिणाम होता है। वस्तुए या प्रघटनाये स्वयं में निहित आन्तरिक विरोधाभासों के आधार पर ही विकसित होती है वे अपने ही विना"ा की द"ाायें उत्पन्न करती है। ताकि एक नई उच्चतर गुणात्मक स्थिति में परिवर्तित हो सके। निषेध का अभिप्राय वस्तुओ और प्रघटनाओं के आंतरिक विरोधाभासों स्वविकास तथा स्वतः परिवर्तन के माध्यम से पुरानी स्थिति से नयी स्थिति में बदलना है। इस प्रकार समाजवाद पूंजीवाद का स्थान इसलिए लेता है क्योंकि यह पूंजीवादी व्यवस्थता के आंतरिक विरोधाभासों का समाधान करता है। निषेध की मार्क्सवादी व्याख्या का प्रमुख गुण यह है कि यह निरन्तरता को मान्यता प्रदान करती है जो कि विकास में नयें और पुराने के मध्य एक कडी का कार्य करती है यहा यह बात ध्यान रखनी आव"यक है कि कभी भी नयी व्यवस्थता पुरानी को पूरी तरह नही बदलती है। पुरानी अवस्थता में से कुछ को अपने मे नयी व्यवस्थता बनाये रखती है। जैसे– भारत में उपनिवे"ावाद को उखाड फेकने के बाद हमने एक नये राष्ट्र की रचना प्रारम्भ की। इस प्रकिया में हमनें राष्ट्रीय विकास को अवरूद करने वाले सभी उत्पीडिक तत्वों और संस्थाओं को हटाने का प्रयास किया। फिर भी हमने उपनिवे"ावाद द्धारा पिछे छोडे गये शैक्षणिक वैधानिक तथा प्र"ाासन तंत्रीय संरचना तथा यातायात एवं संचार की आधुनिक अधोसंरचना को अपना लिया व उसको बनाये रखा। इन्ही सब कारणों से विकास की अवस्थाओं में क्रमिक परिवर्तन प्रगति"ाील होता है। इस प्रकार प्राचीन से नया परिवर्तन होता है यह विकास की अवस्थता मात्र होती है अन्तिम अवस्थता नही। क्योंकि विकास सदैव सदा चलता रहता है। और जब ये पूर्व द"ाायें तथा नई द"ाायें परिपक्व हो जाती है तो एक बार पुनः निषेध धटित होता है और इसी को निषेध का निषेध कहते है। इसमें बाद वाला निषेध और उच्चतर स्थिति वाला होता है और यह प्रकिया चलती रहती है।

7.4.3 मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम

प्रकृति में प्रत्येक वस्तु निरंतर गति"ाील होती है इस संबध में मार्क्स कहते है कि यथार्थ का नियम परिवर्तन का नियम है आखिर परिवर्तन किस प्रकार का परिवर्तन होता है। परिवर्तन की प्रकिया सरल या क्रमिक नही

होती है अपितु यह अनेक मात्रात्मक परिवर्तनों का परिणाम होती है। जो कि परिपक्व द"ाओं की उपलब्धि होने पर किसी भी नि"चत समय पर अमूर्त गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तित हो जाती है। यह परिवर्तन सदैव सरलता से जटिलता की ओर होता है।

किसी भी नई अवस्था के प्रादुर्भाव तथा किसी भी पुरानी अवस्था की समाप्ति को तार्किक एवं दा"र्निक रूप से गुणात्मक परिवर्तन कहा जा सकता है। जबकि अन्य सभी परिवर्तन जिनमें किसी भी वस्तु के विभिन्न अंग पुनर्व्यवस्थित हो जाते है अथवा घट या बढ जाते है। जबकि उस वस्तु की मूल पहचान नही बदलती है। तब उस स्थिति को मात्रात्मक परिवर्तन कहा जा सकता है। इसको और अधिक सरल रूप में समझा जा सकता है। गुणात्मक परिवर्तनों के दो स्वरूप होते है एक– कोई वस्तु जिसका अस्तित्व नही था लेकिन अब वह अस्तित्व में आ गई। दुसरा– कोई वस्तु जो पहले अस्तित्व में थी लेकिन अब उसका अस्तित्व समाप्त हो गया है। दूसरी और मात्रात्मक परिवर्तन असीमित रूप से व्यापक होते है जैसे– छोटा–बडा, कम–अधिक, गर्म व ठण्डा आदि। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में मात्रात्मक परिवर्तन निरंतर घटित होते रहते है। प्रत्येक प्रक्रिया प्रकृति द्धारा निर्धारित सीमा तक पहुच जाते है तब इनमें अपरिहार्य महापरिवर्तन घटित होते है जब निरंतर परिवर्तन एक सीमा तक पहुच जाता है जिसके परे और अधिक मात्रात्मक परिवर्तन संभव नही है परिपक्वता की स्थिति को द"र्न"ाास्त्र में मापात्मकता की सीमा कहा जाता है। यह महापरिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन होता है जैसे– भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये एक शताब्दी से अधिक समय तक चलता रहा तथा इसमें निरंतर मात्रात्मक परिवर्तन आते रहे और जब वह अपनी सीमा पर पहुँच गया तब 15 अगस्त 1947 को महापरिवर्तन होकर भारत स्वतंत्र हो गया। उपनिवे"ावाद से मुक्ति गुणात्मक परिवर्तन थी। इसी प्रकार एक ओर उदाहरण से इसे हम यहा ओर समझने का प्रयास करते है। व्यक्ति की निरंतर बढती आयु मात्रात्मक परिवर्तनो से गुजरती है और जब वह प्रकृति द्धारा निर्धारित सीमा पर पहुँच जाती है तब व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तब मात्रात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन में अपना स्वरूप बदल लेता है। अतः आप यहा इन नियमों से भली भाति परिचित हो गये होगें।

7.5 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग हम समाज संदर्भ में करते है जिससे मार्क्स के विचारो को ओर अच्छी तरह समझा जा सके। मार्क्स और एंगेल्स के विचारों में बहुत समानता होने के कारण उन्होनें अनेक ऐसे लेख लिखे जिससे द"र्न राजनीति तथा अर्थव्यवस्थता के बारे में उनका उग्र सुधारवाद स्पष्ट होने लगा। सन 1845 में मार्क्स ने अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए द जर्मन आइडियोलॉजी पुस्तक लिखी लेकिन उनके जीवनकाल में इसका प्रका"न नही हो सका। उनकी सर्वप्रथम प्रकाि"त होने वाली पुस्तक द होली फैमिली है।

कार्ल मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को स्पष्ट करने के लिए इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **साम्यावादी घोशणापत्र** के अन्तर्गत मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या भौतिकवादी आधार पर प्रस्तुत की। इस पुस्तक के कवर पृष्ठ पर मार्क्स ने लिखा कि *दुनिया का आज तक का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है।* द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त अथवा नियम प्रकृति वि"व एवं समाज पर समान रूप से लागू होते है। जब इन नियमो को इतिहास पर समाज संदर्भ में लागू किया जाता है तो ये ऐतिहासिक भौतिकवाद का रूप ले लेता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हुये मार्क्स ने समाज के सम्पूर्ण इतिहास को पॉच युगों में विभाजित किया है। मार्क्स कहते है कि सामाजिक विकास से संबधित विभिन्न युग भौतिक द"ाओं के बीच होने वाले द्धन्द्ध का ही परिणाम है। जिसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

7.5.1 आदिम साम्यवादो समाज–

मार्क्स के अनुसार मानव समाज की पहली अवस्था आदिम साम्यवादी समाज है। इस अवस्था में मनुष्य जंगलों में निवास करते हुये कन्दमूल फल आदि पर आश्रित था, यह अवस्था सरलतम तथा निम्नतम स्वरूप की थी। इस अवस्था में व्यक्तिगत संपति का पूर्ण अभाव था तथा नये तथा उन्नत किस्म के औजारों– तीर कमान आदि व उसके बाद आग का विकास हुआ तथा कृषि व प"ुपालन की शुरूआत भी होने लगी। ये परिवर्तन **मात्रात्मक परिवर्तन** के उदाहरण थे। ये सभी उत्पादन के संबध सहकारिता और परस्पर सहायता पर आधारित थे। इसके बाद उत्पादन शक्तिया निरंतर विकसित होने लगी, नये औजार बनाकर कार्य कौ"ाल को बढाया गया जैसे– धातु के औजार बनाना। उत्पादकता के विकास के साथ साथ समाज की सामुदायिक संरचना टुटने लगी तथा निजी संपति की अवधारणा विकसित हुयी और संपति पर परिवारों का स्वामित्व होने लगा। यहा पर उत्पादन के सामुदायिक संबधों तथा शोषक वर्ग के संभावित स्वरूपों के मध्य विरोधाभास के कारण **ग ुणात्मक परिवर्तन** हुआ। जिससे आदिम साम्यवादी निषेध अथवा प्रतिवाद हुआ और उसके परिणामस्वरूप दासप्रथा की एक नई अवस्था सामने आई।

7.5.2 दास प्रथावादी समाज–

यह अवस्था दूसरी अवस्था है जिसमें आदिम समानता का स्थान सामाजिक असमानता ने ले लिया और दासों व मालिको के वर्गो का उदय हुआ। धीर धीरे संम्पूर्ण समाज में दास प्रथा का प्रचलन बढने लगा। और संपूर्ण समाज दो वर्गो मे विभाजित हो गया– मालिक और दास। उत्पादन शक्तियों में और अधिक **मात्रात्मक परिवर्तन** हुए। मार्क्स के अनुसार, दास युग की अंतिम अवस्थता में कृषि का विस्तार होने लगा और समाज में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन की प्रक्रिया होने लगी।

इस अवस्थता मे उत्पादन के संबध मालिको के सम्पूर्ण स्वामित्व पर आधारित थे। मालिको का उत्पादन के साधनों, दासों तथा उनके द्वारा किए गए उत्पादन पर स्वामित्व था तथा इस अवस्थता में मालिक और दासों के मध्य विरोध हुआ जिसकी परिणति निषेध के परिणामस्वरूप **गुणात्मक परिवर्तन** में हुई और सामन्तवादी समाज की अवस्थता ने अपना स्वरूप ले लिया।

7.5.3 सामन्तवाद समाज–

दास प्रथा पहली अवस्था थी जिसमें उत्पादन के संबध मालिक वर्ग द्वारा दास वर्ग के शोषण तथा आधिपत्य पर आधारित थे यह वह अवस्था थी जहा से वर्ग असमानता और वर्ग संधर्ष का इतिहास शुरू हुआ। इस अवस्थता में ही उत्पादन के संबधों में पूर्व अवस्थता की तुलना में मौलिक गुणात्मक अन्तर आये। सामंतवादी अवस्थता मे उत्पादन की शक्तियों में तीव्र **मात्रात्मक परिवर्तन** हुये जिनके अन्तर्गत पहली बार जल वायु ऊर्जा जैसे अजैवकीय साधनों का प्रयोग हुआ। इन उत्पादक शक्तियों के विकास में सामंतवादी उत्पादन के संबधों में सहायता मिली सामंतवादी भूपतियों ने भूमिहीन किसानों को शोषित किया कालान्तर में नगरों का विकास हुआ इस अवस्था में व्यापार बढा। ऐसी स्थिति में सामंतवादी जागीरों से अनेक भूमिहीन किसान नवविकसित नगरों में भाग गये ताकि वे वहा व्यापार कर सके सामंतवादी व्यवस्थायें विपरीतों का संघर्ष अर्थात भूमिहीन किसानों और सामंतवादी भूपतियों के बीच संघर्ष अपनी परिपक्वता पर पहुच गया। सांमतवादी व्यवस्थता का पतन हुआ तथा इसका निषेध पूंजीवादी व्यवस्थता थी।

7.5.4 पूँजीवाद समाज–

इस युग का प्रादुर्भाव म"ाीनों के आविष्कार तथा बडे बडे उद्योग धन्धों के जन्म के फलस्वरूप हुआ इस युग में उत्पादन के साधनों पर पूजींपतियों का अधिकार होता है। उत्पादन कार्य करने वाला दूसरा वर्ग वेतनभोगी श्रमिक व्यक्तिगत रूप में स्वतंत्र होते है इस कारण दासों की भाति उन्हें पूंजीपति लोग बेच या मार नही सकते थे। लेकिन श्रमिकों को अपना श्रम पूंजीपतियों के हाथो बेचना पडता था। जिसके बदले उनको नाम मात्र का वेतन मिलता था। इस प्रकार समाज में दो वर्ग– पूंजीपति व श्रमिक का उदय हुआ। मार्क्स ने पहले वाले को बुजुर्आ तथा दूसरे को सर्वहारा वर्ग कहा। धीरे धीरे समाज में पूंजीवाद का प्रभाव समाज में बढने लगा और दासत्व अवस्थता समाप्त होकर नये वर्ग में रूपान्तिरित होने लगी।

पूंजीवादी समाज में उत्पादन का स्पष्ट सामाजिक स्वरूप होता है फैक्ट्रियों में अधिक संख्या में श्रमिक काम करते है तथा सामाजिक उत्पादन मे भाग लेते है जबकि उत्पादन के साधनों के स्वामियों का एक छोटा सा समूह उनके श्रम के लाभ ले लेता है। यह पूजीवाद का मूलभूत आर्थिक विरोधाभास है ये विरोधाभास

आर्थिक समस्या व बेरोजगारी को जन्म देता है। जो कि दोनो वर्ग के बीच वर्ग संधर्ष का कारण बनती है अर्थात **मात्रात्मक परिवर्तनों** का कारण बनती है। मार्क्स कहता है कि यह क्रान्ति पूंजीवादी उत्पादन के संबधों को समाप्त कर देगी और एक नया **गुणात्मक परिवर्तन** लायेगी। जिसके परिणामस्वरूप नयी सामाजिक संरचना स्थापित होगी।

7.5.5 साम्यवाद समाज–

मार्क्स ने अपनी द्धन्द्धवादी पद्धति का उपयोग आदिम साम्यवादी युग से लेकर पूंजीवादी युग तक के सामाजिक विकास को स्पष्ट करने के लिये किया। मार्क्स कहता है कि जब पूंजीवाद विकास की चरम अवस्था पर पहुंच जायेगा तब सामन्तवाद तथा पूंजीवाद के बीच पैदा होने वाले द्धन्द्ध के परिणामस्वरूप साम्यवाद के रूप में एक नया संश्लेषण सामने आयेगा। इस अवस्था में सर्वहारा वर्ग संगठित होकर उत्पादन के साधनों पर पूरे समाज का अधिकार होगा तथा उत्पादक शक्ति का प्रयोग सभी के लाभ के लिया किया जायेगा। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी कुशलता और क्षमता के अनुसार कार्य दिया जायेगा तथा उसकी आवश्यकता के अनुसार ही उसे सुविधायें प्राप्त होगी।

मार्क्स कहते है कि साम्यवादी युग की स्थापना के लिये श्रमिक वर्ग पूंजीपति वर्ग को उसी हथियार से समाप्त कर देगा जिस हथियार से पूंजीपतियों ने सामन्तवाद को समाप्त कर दिया।अतः स्पष्ट है कि मार्क्स ने भौतिक शक्तियों के बीच चलने वाले द्धन्द्ध के आधार पर इतिहास की विवेचना करके सामाजिक विकास को नये रूप में स्पष्ट किया तथा जिस द्धन्द्धवादी पद्धति की सहायता से भौतिक दशाओं के प्रभाव को स्पष्ट किया वह मार्क्स के चितंन की विशिष्टता को स्पष्ट करती है।

वास्तविकता यह है कि मार्क्स के सभी प्रतिपादित सिद्धान्तों पर उनकी द्धन्द्धवादी पद्धति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अतः आप यहा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा इससे संबधित मार्क्स के विचारो को अच्छी तरह से जान गये होगें। अब आप इन नियमों का प्रयोग समाज को समझने में करे।

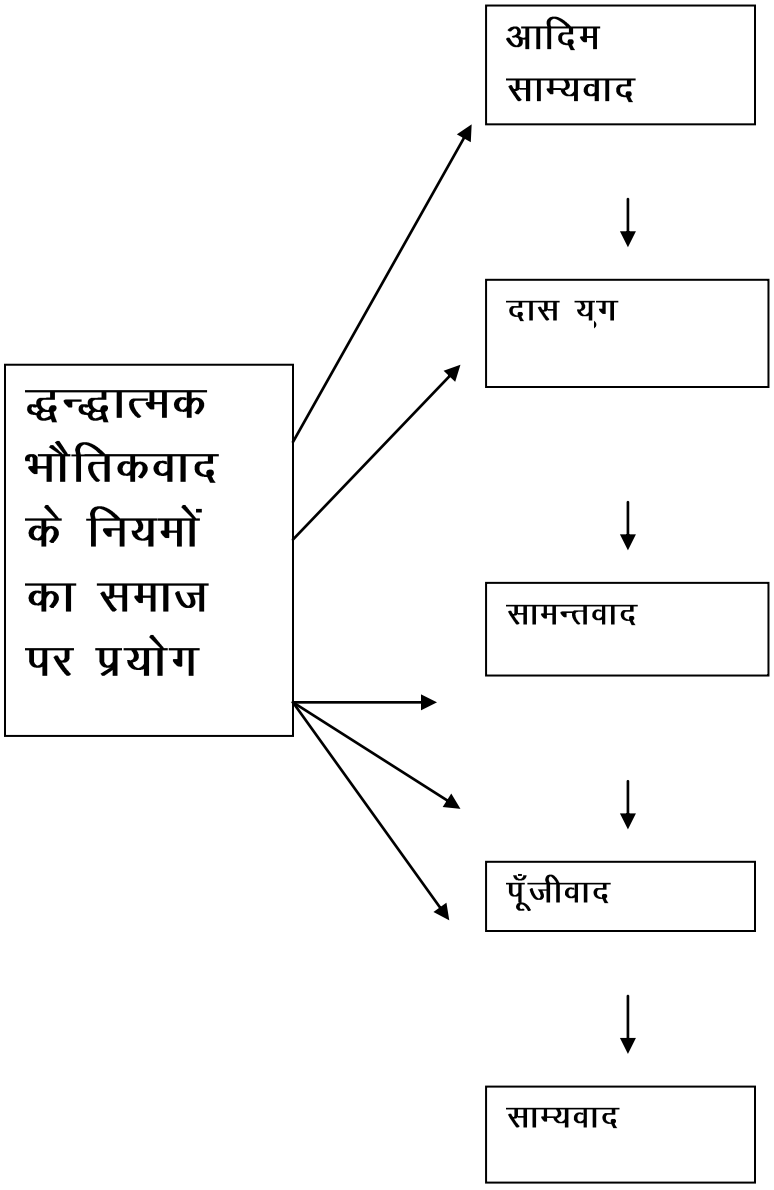

चित्र – मार्क्स के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग

बोध प्रश्न–2

i) हीगल का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त क्या है।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को संक्षिप्त में समझाइयें

.....

.....

.....

.....

.....

iii) मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कोई एक वि"ोषता लिखियें।

.....

.....

.....

.....

iv) द्वन्द्वात्मकता के नियम कौन कौन से है।

.....

.....

.....

.....

iv) द्वन्द्वात्मकता के नियमों का प्रयोग कोन सी समाज की अवस्थाओं में कार्ल मार्क्स करता है।

.....

.....

.....

.....

7.6 सारांश

इस प्रस्तुत इकाई में कार्ल मार्क्स के द्वंद्वात्मक सिद्धान्त के बारे में बताया गया है। जिसका उल्लेख उनकी कृति 'German Ideology' में किया गया है। जर्मनी में जन्में कार्ल मार्क्स (1818–1883) को आधुनिक समाजवादी विचारधारा का पिता माना जाता है। कार्ल मार्क्स के द्वंद्वात्मक सिद्धान्त में द्वंद्वात्मक व सामाजिक परिवर्तन के गंभीर दा"र्शनिक योगदान का अध्ययन किया है। सबसे पहले आपको द्वंद्वात्मकता की अवधारणा से अवगत कराया गया है साथ ही हीगल व कार्ल मार्क्स के विचारो को बताया गया। इसके बाद द्वंद्वात्मकता एवं परिवर्तन के मौलिक नियम बताये गये है। जिसमें बताया गया कि मार्क्स प्रथम व्यावहारिक दा"र्शनिक है जिसने कहा कि ऐतिहासिक घटनाओं पर आर्थिक परिस्थितिया अपना प्रभाव डालती है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के विचारों का मूल आधार है मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववादी विचार ग्रहण किये लेकिन उनमें कुछ सं"ाोधन किया। मार्क्स के लिए वास्तविकता विचार मात्र नही भौतिक सत्य है, विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है, उसका भौतिकवाद विकासवान है लेकिन यह विकास द्वंद्वात्मक प्रकार से होता है। इस प्रकार मार्क्स हीगल के विचारवाद का विरोधी है लेकिन उसकी द्वंद्वात्मक प्रणाली को स्वीकार करता है। मार्क्स का द"र्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहलाता है क्योकि इसमें प्रकृति के धटनाक्रम को समझने का तरीका द्वन्द्ववादी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार, वि"व का निर्माण आत्मा विचार चिन्तन से नही अपितु भौतिक पदार्थ या वस्तु से हुआ है। चेतना का आधार भौतिक है पदार्थ है पदार्थ में दो विरोधी शक्तिया पायी जाती है जिनके द्वन्द्व या संधर्ष से ही वि"व एवं प्रकृति का निर्माण होता है यह पदार्थ गति"ाील है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वि"व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ को मानता है जो कि अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर नाना रूप धारण कर लेता है यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से ही निहित एक आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें वाद, प्रतिवाद और संवाद ये तीन अवस्थाए होती है। विकास की यह प्रक्रिया सीधी एवं सरल नही है वरन एक बिन्दु पर आकर अकस्मात तीव्र विस्फोट की भाति होती है यही स्थिति सामाजिक परिवर्तन में क्रान्ति लाती है। प्रत्येक क्रान्ति के बाद नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है इससे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का क्रान्तिकारी रूप स्पष्ट होता है।

7.7 पारिभाषिक शब्दावली

द्वंद्वात्मक– द्वंद्वात्मक अंग्रेजी के शब्द डाइलेक्टिक का हिन्दी रूपान्तरण है जिसका साधारण अर्थ वाद –विवाद या तर्क–वितर्क करना होता है। द्वंद्वात्मक अर्थात दो परस्पर विरोधी शक्तियों या प्रवृतियों के बीच संघर्ष करना होता है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद– में प्रत्येक वस्तु की व्याख्या परिवर्तन के संदर्भ में करता है यह परिवर्तन पदार्थ में अंतनिर्हित परस्पर विरोधी शक्तियों निरंतर विरोधाभास के कारण होता है।द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कें अनुसार प्रत्येक वस्तु गति"ाील होती है।

निशेध– एक नई अवस्था जो कि गुणात्मक परिवर्तन का परिणाम होती है तथा प्राचीन को प्रतिस्थापित करने के लिये एक प्रगति"ाील परिवर्तन है।

निशध का निशेध– जब कोई वस्तु किसी प्राचीन के निषेध के फलस्वरूप अस्तित्व में आती है तथा दुबारा इस वस्तु का निषेध गुणात्मक परिवर्तन के माध्यम से हो जाता है।

परिवर्तन– किसी भी वस्तु में दो समय में होने वाली भिन्नता ही परिवर्तन कहलाती है।

वर्ग– वे लोग जिनके उत्पादन के साधनों से समान संबन्ध होते है अर्थात अपने समान हितों के प्रति जिनमें समान जागरूकता पायी जाती है। वे एक से वर्ग का निर्माण करते है।

मात्रात्मक परिवर्तन–किसी भी वस्तु में ऐसा छोटा अथवा बडा परिवर्तन जिसमें कि वस्तु की पहचान परिवर्तित नहीं होती है।

गुणात्मक परिवर्तन–नये का प्रादुर्भाव या प्राचीन की विलुप्ति गुणात्मक परिवर्तन है।

7.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

i) द्वन्द्ववाद का अंग्रेजी रूपान्तरण Dialectic यूनानी शब्द Dialego से बना है जिसका अर्थ बातचीत करना अर्थात तर्क वितर्क करना होता है।

ii) द्वंद्वात्मक तर्क पद्धति दो या दो से अधिक लोगो के बीच चर्चा करने की विधि है जो किसी विषय पर अलग अलग राय रखते है किन्तु तर्क पूर्ण चर्चा की सहायता से सत्य तक पहुचने के इच्छुक है।

iii) हीगल नामक विद्वान से

iv) भौतिक पदार्थ

v) हॉ

vi) तीन अवस्थाये– वाद, प्रतिवाद एवं संवाद

vi) असत्य

vi) सत्य

बोध प्रश्न–2

i) हीगल एक दा"र्निक विचारक थे। हीगल ने द्वंद्वात्मक विचार प्रस्तुत किये। हीगल ने जगत में विचारो को ज्यादा महत्वपूर्ण बताया न कि पदार्थो को। हीगल के अनुसार, जब हमारे मस्तिष्क में कोई विचार पैदा होता है तब उसी समय उसका एक प्रतिवाद विचार हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होने लगता है। इन दोनो विचारो के बीच द्वन्द्व की प्रक्रिया शुरू हो जाती है जिसका परिणाम एक ऐसे विचार के रूप में होता है जिसे हम समन्वय की द"ा कह सकते है।

ii) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के विचारों का मूल आधार है मार्क्स के लिए वास्तविकता विचार मात्र नही भौतिक सत्य है, विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है, उसका भौतिकवाद विकासवान है लेकिन यह विकास द्वंद्वात्मक प्रकार से होता है इस प्रकार मार्क्स हीगल के विचारवाद का विरोधी है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वि"व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ को मानता है जो कि अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर नाना रूप धारण कर लेता है यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से ही निहित एक आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें वाद, प्रतिवाद और संवाद ये तीन अवस्थाए होती है। विकास की यह प्रक्रिया सीधी एवं सरल नही है वरन एक बिन्दु पर आकर अकस्मात तीव्र विस्फोट की भाति होती है यही स्थिति सामाजिक परिवर्तन में क्रान्ति लाती है। प्रत्येक क्रान्ति के बाद नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है इससे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का क्रान्तिकारी रूप स्पष्ट होता है।

iii) तत्व"ास्त्र के विपरीत मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि प्रकृति एक स्थिर, अगति"ील, अपरिवर्तन"ील और चिरन्तन स्थिति नही है प्रकृति तो निरन्तर गति"ील परिवर्तन"ील नवीन परिवर्द्धित तथा परिमार्जित स्थिति है। जिसमें कुछ चीजों का सदैव उदभव और विकास होता है और कुछ की अवनति और विना"ा।

iv) विपरीत की एकता एवं संधर्ष का नियम, निषेध का निषेध नियम, मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम

v) आदिम साम्यवादी समाज, दासप्रथावादी समाज, सामंतवादी समाज, पूंजीवादी समाज

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Marx, Karl, (1964) *Selected Writings in Sociology and Social Philosophy*, McGraw Hill, London

Marx, Karl, and Engels Friedrich (1964) *German Ideology*, Frederick Ungar, New York

Menand, Louls, (2016) *Karl Marx, Yesterday and today*, Frederick Ungar,Newyork

Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought,* vol.1 &2, Penguin books, London

Bottomore, T.B., (1969) *Socioloogy: A guide to problem and literature,* Allen and unvin, London

मजूमदार, डी0एन0 और मदान, टी0एन0, (1986) एन इंट्रोडक"ान टू सो"ाल एन्थरोपॉलाजी, ने"ानल पब्लि"िांग हाउस, नई दिल्ली

गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

बोटोमोर, टी0बी0, 1975 मार्क्सवादी समाज"ाास्त्र, (अनुवादकः सदा"िाव द्विवेदी) मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड नई दिल्ली

कोजर लेविस ए 1971 मास्टर्स ऑफ सोि"ायॉलाजिकल थॉट : आइडियाज इन हिस्टारिकल एण्ड सो"ाल कॉनटैक्स्ट, हरकोर्ट ब्रेस जोवैनोवि"व : न्यूयार्क

7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought,* Rawat publication, Jaipur

Giddens, Anthony, (1993) *Sociology,* polity press, Cambridge

Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology,* Routledge & Kegan Paul, London

सिहं जे0 पी0, (2008) समाजशास्त्र–अवधारणाएं एवं सिद्धान्त, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाज में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद क्या है? इसकी सविस्तार व्याख्या कीजिए।
3. हीगल व कार्ल मार्क्स के सिद्धांतो का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संबध में वर्णन कीजिए। सैद्वान्तिक वर्णन कीजिए।

इकाई 8– उत्पादन की विधियां : आदिम साम्यवादी युग से समाजवादी युग तक
Modes of production: From primitive communism to Socialism

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 उत्पादन की शक्तियां एवं संबन्ध
8.3 कार्ल मार्क्स के विचार–
  8.3.1 आर्थिक व्यवस्था एवं समाज
  8.3.2 आर्थिक कारक एवं शक्ति
  8.3.3 उत्पादन की विधियां एवं सामाजिक परिवर्तन
8.4 उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूप
  8.4.1 आदिम साम्यवादी उत्पादन प्रणाली
  8.4..2 दासत्व उत्पादन प्रणाली
  8.4.3 सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली
  8.4.4 पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली
  8.4.5 समाजवादी उत्वादन प्रणाली
8.5 सारांष
8.6 पारिभाषिक शब्दावली
8.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर
8.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.10 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा–

- उत्पादन की शक्तियों एवं संबन्धों को समझना,
- कार्ल मार्क्स के विचारों को उत्पादन प्रणाली के संबन्ध में जानना,
- आर्थिक व्यवस्थता एवं समाज, आर्थिक कारक एवं शक्ति की सामाजिकता को स्पष्ट करना,
- उत्पादन की विधियां एवं सामाजिक परिवर्तन को समाज संदर्भ में समझना,
- कार्ल मार्क्स के विचारो द्धारा उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या करना,

8.1 प्रस्तावना

इस प्रस्तुत इकाई में ऐतिहासिक भौतिकवाद पर विचार करते हुये आपको उत्पादन की विधियों को समाज संदर्भ में समझाया जायेगा कि किस प्रकार उत्पादन की शक्तियां समाज को प्रभावित करती है। सर्वप्रथम आपको उत्पादन की शक्तियां एवं संबन्ध के बारे में बताया जायेगा कि उत्पादन की 'शक्तियां' एवं 'सम्बन्ध' सशक्त रूप से परस्पर जुड़े होते हैं। उसके उपरान्त कार्ल मार्क्स के विचारो को आर्थिक व्यवस्थता एवं समाज तथा आर्थिक कारक व शक्ति तथा उत्पादन प्रणाली को सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में जाना गया है। इसमें बताया गया कि मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की और कहा कि मानव इतिहास में अब तक जो परिवर्तन हुए है वे उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण हुये है अर्थात उत्पादन प्रणाली ही निर्णायक कारक है। इसके उपरान्त मार्क्स के विचारों को उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों जिसमें आदिम साम्यवादी युग, दासत्व, सामन्तवादी, पूंजीवादी व समाजवादी युग में उत्पादन प्रणाली के बारे में बताया जायेगा। जिससे आप उत्पादन प्रणाली व सामाजिक परिवर्तनों को समाज संदर्भ मे मार्क्स के दृष्टिकोण से समझ सके।

8.2 उत्पादन की शक्तियां एवं संबन्ध

यहा पर हम आपको उत्पादन की शक्तियां के बारे में अवगत करायेगें कि किस प्रकार उत्पादन की शक्तियां समाज को प्रभावित करती है। मानव जाति प्रकृति पर नियंत्रण करना चाहती है, लेकिन यह नियंत्रण कितना होगा, इसकी अभिव्यक्ति उत्पान की शक्तियां करती हैं। जितनी अधिक या कम उन्नत उत्पादन शक्तियां होंगी उतना ही अधिक या कम प्रकृति पर मानव का नियंत्रण होता है। इन उत्पादन की शक्तियों को भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त भौतिक तरीकों के रूप में समझा जा सकता है। इसके अंतर्गत तकनीकी जानकारी, उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त उपकरण या उत्पाद आदि आते हैं जैसे– उपकरण, मशीनें, श्रम तथा प्रौद्योगिकी के स्तर आदि सभी उत्पादन की शक्तियां कहलाती हैं।

मार्क्स के अनुसार, उत्पादन की शक्तियों में उत्पादन के साधन व श्रम शक्ति शामिल होती हैं। उत्पादन की शक्तियों के अंतर्गत मशीनों का विकास, श्रम प्रक्रिया में परिवर्तन, ऊर्जा के नए स्रोतों की खोज तथा श्रमिकों की शिक्षा आदि आती है अर्थात विज्ञान व सम्बन्धित कौशल को उत्पादक शक्तियों के अंग के रूप में देखा जा सकता है। कुछ मार्क्सवादियों ने तो भौगोलिक या पारिस्थितिक भू–भाग तक को भी उत्पादन शक्ति के रूप में शामिल कर लिया है। प्रौद्योगिकी, जनांकिकी, पारिस्थितिकी अथवा ''भौतिक जीवन'' में अनचाहे परिवर्तन स्वयं उत्पादन प्रणाली को प्रभावित करते हैं और उत्पादक सम्बन्धों के सन्तुलन को भी काफी सीमा तक परिवर्तित करते हैं लेकिन अनचाहे परिवर्तन, उत्पादन प्रणाली को अनायास ही पुनर्गठित नहीं करते। शक्ति के सम्बन्धों, प्रभुत्व के स्वरूपों और सामाजिक संगठनों के स्वरूपों का कोई भी पुनर्गठन प्रायः संघर्ष का परिणाम होता है। संघर्ष की दशाएं एवं प्रकृति भौतिक जीवन में परिवर्तन द्वारा निर्धारित होती है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन की भौतिक शक्तियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। कभी–कभी यह परिवर्तन कुछ प्राकृतिक तथा पारिस्थितिक प्रघटनाओं के कारण भी होता है जैसे– जनजातीय समाजों में देखो जा सकता है। ऐसा परिवर्तन प्रायः नदियों के सूखने, निर्वनीकरण अथवा भूमि क्षरण जैसी प्रघटनाओं के कारण हेाता है। ज्यादातर यह परिवर्तन प्रायः उत्पादन के उपकरणों में विकास के फलस्वरूप होता है। मानव ने अपने जीवन को बेहतर बनाने तथा अभावों की पूर्ति के सदैव

प्रयास किए हैं। मनुष्य ने अपने श्रम द्वारा प्रकृति पर विजय पाई है तथा इस निरंतर संघर्ष से उत्पादन की शक्तियां विकसित हुई हैं।

इस प्रक्रिया में उत्पादन की शक्तियों का विकास प्रमुख होता है और यह बहिर्जन्य कारक द्वारा प्रभावित होता है। इस कारक का अभिप्राय उस प्रेरक शक्ति से है जो कि उत्पादन की शक्तियों और सम्बन्धों से बाहर होती है। उत्पादन की शक्तियों पर प्रभाव डालती है। प्रेरक शक्ति मनुष्य की तर्कसंगत तथा शाश्वत मानसिक प्रेरणा है। इसके द्वारा मनुष्य उत्पादक शक्तियों का विकास करके कमियों पर काबू पाने और अपनी स्थिति को बेहतर बनाने की कोशिश करते हैं। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो समाज में उत्पादन करता है। मनुष्य अपने श्रम द्वारा प्रकृति पर विजय पाकर यह उत्पादन करता है। उत्पादक शक्तियां प्रकृति को उपयोगी मूल्यों और विनिमय मूल्यों में परिवर्तित कर देती हैं। उत्पादक शक्तियां मनुष्य के मध्य उत्पादक सम्बन्धों की क्रमिक व्यवस्थाओं के विनाश और सृजन को बाध्य करती हैं। उत्पादक शक्तियों की प्रकृति विकासशील होती है और वे प्रकृति पर मनुष्य की विजय और ज्ञान में वृद्धि के साथ–साथ विकसित होती हैं। जहां–जहां ये शक्तियां विकसित होती हैं, नए उत्पादन के सम्बन्ध विकसित होते हैं और विकास के एक बिन्दु पर पहुंच कर उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के मध्य संघर्ष होता है, क्योंकि उत्पादक सम्बन्ध अब नई उत्पादक शक्तियों से सामंजस्य नहीं रख पाते। ऐसी स्थिति में समाज क्रान्ति के युग में प्रविष्ट करता है। मनुष्य वर्ग–संघर्ष की स्थिति को पहचानते हुए इस क्रांति के प्रति जागरूक होते हैं। वर्ग–संघर्ष पुरातन व्यवस्था के संरक्षकों तथा नई आर्थिक संरचना के अग्रणों के मध्य होता है।

उत्पादन के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक संगठन समाज की उत्पादक क्षमता के विकास में योगदान देते हैं अथवा उसे हतोतसाहित करते हैं और उसी के अनुसार ये संगठन उदित अथवा नष्ट हो जाते हैं। ये संगठन मानव इतिास की विशिष्टता रहे हैं। इस प्रकार उत्पादक शक्तियों का विकास मानवीय इतिहास की सामान्य प्रक्रिया की व्याख्या करता है। हमने पहले ही बताया है कि उत्पादक शक्तियों में सिर्फ उत्पादन के साधन (उपकरण, मशीनें, फैक्ट्रियां आदि) ही नहीं होते, अपितु कार्य में प्रयुक्त **श्रमशक्ति**, कौशल, ज्ञान, अनुभव तथा अन्य मानवीय योग्यताएं भी शामिल होती हैं। भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया में समाज के पास जो शक्तियां होती हैं, ये उत्पादक शक्तियां उनको अभिव्यक्त करती हैं। अब हम उत्पादन की शक्तियां को संबन्धों के रूप में समझने की कोि"ा"ा करते है।

भौतिक उत्पादन में उत्पादन की शक्तियां ही एकमात्र कारक नहीं होती। समाज में लोग एक संगठित होकर ही उत्पादन कर सकते हैं। इस अर्थ में श्रम सदैव सामाजिक होता है। मार्क्स के अनुसार, समाज के सदस्य उत्पादन करने के उद्देश्य से परस्पर सुनिश्चित सम्बन्ध में बंध जाते हैं। इन सामाजिक सम्बंधों के अंतर्गत ही उत्पादन किया जाता है। यह आसानी से कहा जा सकता है कि **उत्पादन के सम्बन्ध** उत्पादन की प्रक्रिया में जुटे लोगों के मध्य सामाजिक सम्बंध हैं। ये सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के विकास के स्तर एवं प्रकृति द्वारा निर्धारित होते हैं।(इगनयू इएसओ03ः समाज"ाास्त्रीय सिद्धांत)

उत्पादन की 'शक्तियां' एवं 'सम्बन्ध' सशक्त रूप से परस्पर जुड़े होते हैं। इनमें से किसी भी एक का विकास दूसरे में विरोधाभास अथवा असामंजस्य पैदा कर देता है। वस्तुतः उत्पादन के इन दोनों पक्षों के मध्य विरोधाभास 'इतिहास का संचालक तत्व' होता है (बॉटोमोर 1983:178)। ऐतिहासिक विकास में प्रभावों की श्रृंखला इसी प्रकार चलती है। उत्पादन की शक्तियां उत्पादन के सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं। तथापित इस बात को लेकर काफी विवाद है कि उत्पादन की शक्तियों का उत्पादन के सम्बन्धों पर प्रभुत्व

होता है। जैसाकि हमने पहले बताया कि यहां मार्क्स की इन विभिन्न व्याख्याओं की चर्चा विस्तार से नहीं की जाएगी। मार्क्स की स्वयं की कृतियों में इस मुद्दे पर अस्पष्टता है कहीं वह उत्पादन के सम्बन्धों को प्राथमिक बताता है तो कहीं पर वह उत्पादन की शक्तियों को सामाजिक परिवर्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताता है। उत्पादन के सम्बन्ध किसी भी समाज के उत्पादन के स्तर के साथ–साथ चलते हैं और उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पादक शक्तियों तथा मनुष्य को जोड़ते हैं। ये सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं। पहले सम्बन्ध **तकनीकी सम्बन्ध** होते हैं, जो कि वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया के लिए आवश्यक होते हैं। दूसरे सम्बन्ध, **आर्थिक नियंत्रण के सम्बन्ध** होते हैं जो कि सम्पत्ति के स्वामित्व में वैधानिक रूप से अभिव्यक्त होते हैं। ये उत्पादन की शक्ति और उत्पादों तक मनुष्य की पहुंच को नियंत्रित करते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। इस प्रकार इनके अंतर्गत कामगारों अथवा प्रत्यक्ष उत्पादकों और उनके नियोक्ताओं (employers) अथवा श्रम के नियंत्रकों के परस्पर सम्बन्ध तथा प्रत्यक्ष उत्पादकों के परस्पर सम्बन्ध शामिल हैं।

उत्पादक के सम्बन्ध उत्पादन के साधनों का स्वामित्व मात्र नहीं होते। नियोक्ता का कामगार से सम्बन्ध प्रभुत्व का होता है। जबकि कामगार का अपने सहयोगी कामगार के साथ सम्बनध सहकारिता का होता है। उत्पादन के सम्बन्ध व्यक्तियों के मध्य संबंध होते हैं। जबकि उत्पादन के साधन व्यक्तियों और वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध होते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास की दिशा और गति को प्रभावित कर सकते हैं। उत्पादन के सम्बंध उत्पादक शक्तियों के आर्थिक स्वामित्व में प्रतिबिम्बित होते हैं। उदाहरण के लिए, पूंजीवाद के अन्तर्गत इन सम्बन्धों में सबसे अधिक मूलभूत बात उत्पादन के साधनों का पूंजीपतियों द्वारा स्वामित्व है, जबकि सर्वहारा वर्ग सिर्फ श्रम शक्ति का मालिक होता है। उत्पादन के सम्बन्धों से उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन लाए जा सकते हैं तथा ये सम्बन्ध शक्तियों पर प्रभुत्व भी स्थापित कर सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, पूंजीवादी उत्पादन के सम्बन्ध प्रायः श्रम प्रक्रिया तथा उत्पादन के उपकरणों में क्रान्ति सी ला देते हैं।

8.3 कार्ल मार्क्स के विचार

कार्ल मार्क्स का जन्म 05 मई सन् 1818 में राइन प्रान्त के टियर नगर के एक यहूदी परिवार में हुआ था। इनकें पिता पे"ो से वकील थे जिन्होनें बाद में ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। कार्ल मार्क्स की f"ाक्षा एक अच्छे स्कूल जिमनेजियम से होती हुई बोन वि"वविधालय से f"ाक्षा ग्रहण करने के बाद बर्लिन वि"वविधालय में प्रवे"ा लिया यही से इनके जीवन में नया मोड आया। इस वि"वविधालय मे हीगल कें विचारों का काफी प्रभाव था जो कि कार्ल मार्क्स पर भी पडा। कार्ल मार्क्स को अपने डॉक्टरेट की उपाधि अपने शोध प्रबन्धन **"On the Difference between the Natural Philosophy of Democritus and Epicurus"** पर हुई। कार्ल मार्क्स ने अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किये। यहा पर हम उनके समाज में आर्थिक व्यवस्थता व उत्पादन प्रणाली पर विचार करेगें।

8.3.1 आर्थिक व्यवस्था एवं समाज –

जी0के0अग्रवाल (2012) मार्क्स कहते है कि किसी भी समाज में विद्यमान आर्थिक व्यवस्था ही उस समाज की मूल–संरचना होती है। उस समाज में पाये जाने वाले मूल्य, रीति–रिवाज, संस्कृति, कानून, नियम तथा सामाजिक मानदण्ड आदि वे अधि–संरचनाएँ (Super-structures) होते है। जिनका विकास मूल संरचना

की प्रकृति के अनुसार ही होता है। मार्क्स का कथन है कि समाज की मूल संरचना का निर्माण जिन आर्थिक दशाओं के आधार पर होता है उनमें उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन के तरीकों का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि उत्पादन के साधनों में स्वामित्व तथा श्रम–सम्बन्धों के आधार पर ही समाज की उस अधो–संरचना का निर्माण होता है जिसमें सामाजिक मूल्य, रीति–रिवाज, धर्म, कानून, शिक्षा तथा राजनीतिक आदि का समावेश होता है। इसे स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने बताया कि जब समाज में आदिम साम्यवाद की दिशा विद्यमान थी तब वह मूलतः एक अनुत्पादक समाज था। उस समय व्यक्ति पशुओं की तरह प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं का उपभोग किया करते थे। इस स्तर में हथियार मनुष्य की पहली सम्पत्ति बने जिसका उपयोग शक्तिशाली लोगों ने दुर्बल लोगों का शोषण करने के लिए किया। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि उस समय के हथियार तथा औजार ही उत्पादन के साधन थे, जिन्होंने समाज में, एक विशेष प्रकार की मूल संरचना का निर्माण किया। इनके आधार पर तत्कालीन समाज में जिन सामाजिक मूल्यों के स्थापना हुई वे वर्तमान समाज के मूल्यों से बिल्कुल भिन्न थे।

सामन्वादी अर्थव्यवस्था तथा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन के तरीकों में एक आधारभूत अन्तर देखने को मिलता है। यही कारण है कि इन दोनों तरह की व्यवस्थाओं में समाज की जिस अधो–संरचना का निर्माण हुआ उनका रूप भी एक दूसरे से काफी भिन्न है। सामन्वादी आर्थिक व्यवसथा में बनने वाली समाज की अधो–संरचना में परम्परागत सत्ता अर्ध–दास प्रथा अथवा बन्धुआ मजदूरों का समावेश था। दूसरी ओर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने एक ऐसी अधो–सरंचना का निर्माण किया जिसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के संचय को विशेष महत्व दिया जाने लगा। इस आधार पर मार्क्स ने बतलाया कि प्रत्येक युग के समाज में उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर बनने वाली मूल संरचना तथा उसकी अधो–संरचना के बीच द्वन्द्व होता है। इसी द्वन्द्व के परिणामस्वरूप ऐसी दशा उत्पन्न होती है जिसे हम क्रान्ति कहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता ळै कि प्रत्येक समाज दो मुख्य भागों में विभक्त होता है जिनमें से एक को हम इसकी मूल संरचना और दूसरे को इसकी अधो–संरचना कहते हैं। मूल संरचना का निर्माण आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर होता है जबकि अधो–संरचना में सामाजिक, वैधानिक तथा अन्य सम्बन्धों का समावेश होता है। समाज की इस मूल संरचना और अधो–संरचना के बीच जो अन्तर्विरोध बने रहते हैं उसी के फलस्वरूप क्रान्ति का जन्म होता है।

8.3.2 आर्थिक कारक एवं शक्ति –

शक्ति राजनीतिक व्यवस्था का एक प्रमुख आधार है। बॉटोमोर ने भी शक्ति को 'राजनीति के केन्द्र–बिन्दु' के रूप में स्पष्ट किया है। पार्सन्स शक्ति को एक ऐसे तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं जो शासक और शासितों के बीच सन्तुलन बनाये रखता है। आपके अनुसार शक्ति ही वह आधार है जिसके कारण शासक और शासित दोनों समाज के हित को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं। इन विचारों के ठीक विपरीत, कार्ल मार्क्स ने यह स्पष्ट किया कि शक्ति एक ऐसा तत्व है जिसका उपयोग आर्थिक रूप से प्रभुतासम्पन्न, वर्ग अपने हितों के लिए करता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समाज में शक्ति का स्रोत समाज की आर्थिक मूल संरचना में निहित होता है। इसे स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने बताया कि स्तरों में विभाजित प्रत्येक समाज में उत्पादन की शक्तियाँ कुछ लोगों के हाथ में ही केन्द्रित होती हैं। यही लोग सत्ता वर्ग के प्रतिनिधि भी होते हैं। उत्पादन की शक्तियों के कारण समाज में जिस उच्च वर्ग का निर्माण होता है उसकी प्रभुता अथवा शक्ति का कारण

उत्पादन की शक्तियों पर उनका अधिकार होना ही है। इस दृष्टिाकोण से शक्ति का विवेचना केवल आर्थिक आधार पर ही की जा सकती है। सरल शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जिस वर्ग के पास पूँजी होती है, वही वर्ग समाज में शक्तिशाली होता है। इस आधार पर मार्क्स ने लिखा है कि ''यदि सत्ता को पुनः जनसाधारण में स्थानान्तरित करना है तो जनसामान्य को सामूहिक रूप से उत्पादन की शक्तियाँ अपने हाथों में लेनी होगी। एक पूँजीवादी समाज में सत्ता वर्ग के द्वारा अपनी शक्ति का उपयोग समाज के अन्य वर्गों का शोषण करने के लिए ही किया जाता है। शोषण की इसी प्रक्रिया में बुर्जुआ वर्ग सर्वहारा वर्ग से अधिक से अधिक उत्पादन करवाता है और उसे कम से कम मजदूरी देता है। मार्क्स का कथन है कि शक्तिशाली वर्ग द्वारा किए जाने वाले शोषण बल–प्रयोग (Coercion) का ही एक विशेष स्वरूप कहा जा सकता है। समाज का सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के शोषण के अपने हितों के विरूद्ध होने के बाद भी यदि स्वीकार कर लेता है तो इस दशा में यह स्वीकार करना आवश्यक है कि समाज की अधो–संरचना बल–प्रयोग पर आधारित है। इस दशा को इस रूप में भी समझा जा सकता है कि यदि सामाजिक संरचना द्वारा छिपे तौर पर बल–प्रयोग को मान्यता न दी जा रही हो तो सर्वहारा वर्ग उस शोष्ज्ञण को कभी स्वीकार नहीं करेगा जो बुर्जुआ अथवा प्रभुतासम्पन्न वर्ग द्वारा किया जाता है। मार्क्स ने लिखा है कि यदि बुर्जुआ वर्ग की शक्ति को समाज उसकी वैधानिक शक्ति के रूप में स्वीकार कर लेता है तो इस दशा को केवल एक 'झूठी वर्ग–चेतना' ही कहा जा सकता है। मार्क्स ने यह स्पष्ट किया कि समाज की मूल संरचना अथवा आर्थिक संरचना में शोषण और दमन के रूप में प्रभुत्व के जो सम्बन्ध विकसित होते हैं, वे धीरे–धीरे समाज की अधो–संरचना में स्पष्ट रूप से दिखलायी देने लगते हैं। उदाहरण के लिए, एक पूँजीवादी समाज में नियोजक तथा कर्मचारी के बीच पाये जाने वाले असमानतापूर्ण सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब वहाँ की वैधानिक व्यवस्था में दिखलायी देता है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक पूँजीवाद समाज में विधायिका तथा कानूनों के द्वारा सम्पत्ति के स्वामियों के हितों का ही संरक्षण किया जाता है। मार्क्स के इस कथन से स्पष्ट होता हे कि पूँजीवादी समाज की आर्थिक व्यवस्था में पाये जाने वाले असमानताकारी सम्बन्धों के फलस्वरूप ही एक ऐसी असमानता को प्रोत्साहन मिलता है जिसे वैधानिक मान्यता मिली होती है। इस प्रकार समाज के उच्च वर्ग को जब वैधानिक रूप से जनसामान्य का शोषण करने की अनुमति मिल जाती है जब उसकी शक्ति का विस्तार होने लगता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मार्क्स आर्थिक शक्तियों, अर्थात् उत्पादन की शक्तियों को ही सामाजिक शक्ति का प्रमुख आधार मानते हैं। साथ ही मार्क्स यह भी स्वीकार करते हैं कि आर्थिक आधार पर प्राप्त होने वाली शक्ति ही समाज की अन्य संस्थाओं को भी प्रभावित करती है। यहां पर आप समाज में आर्थिक व्यवस्थता व शक्ति को भलि भाति समक्ष गये होगें।

8.3.3 उत्पादन की विधियां एवं सामाजिक परिवर्तन

मार्क्स का सिद्धान्त वर्तमान समय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी सिद्धान्त माना जाता है मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की और कहा कि मानव इतिहास में अब तक जो परिवर्तन हुए है वे उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण हुये है अर्थात उत्पादन प्रणाली ही निर्णायक कारक है। मनुष्य को जीवित रहने के लिए कुछ भौतिक मूल्यों जैसे– रोटी, कपडा, निवास आदि की आव"यकता होती है इनको पाने के लिए मानव को उत्पादन करना होता है तथा उत्पादन के लिए उत्पादन के साधनों की आव"यकता होती है जिन साधनो के द्धारा व्यक्ति उत्पादन करता है उन्हें प्रौद्योगिकी कहते है। प्रौद्योगिकी में जब परिवर्तन आता है तो उत्पादन प्रणाली में भी परिवर्तन आता है। व्यक्ति अर्थात मानव अपनी आव"यकता की

पूर्ति के लिए किसी न किसी प्रौद्योगिकी को अपनाता है। उत्पादन प्रणाली दो पक्षों से मिलकर बनी होती है एक उत्पादन की प्रौद्योगिकी व श्रमिक तथा दूसरी उत्पादन के संबध। किसी भी उत्पादन के लिए हमें औजार श्रम अनुभव एवं कु"ालता की आव"यकता होती है तथा जो लोग उत्पादन के कार्य में लगे होते है उनके बीच कुछ आर्थिक सम्बन्ध भी पैदा हो जाते है जैसे– किसान कृषि क्षेत्र में उत्पादन करने के दौरान मजदूरों, सुनार, लुहार एवं उसके द्धारा उत्पादित वस्तु के खरीदारों से संबध बनाता है। जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। उत्पादन प्रणाली कभी भी स्थिर नही होती है वह बदलती रहती है। उत्पादन प्रणाली समाज का मूल होती है जिस पर समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक राजनीतिक संरचना, वि"वास, कला, साहित्य, प्रथाएं आदि टिके हुये होते है। जिस प्रकार की उत्पादन प्रणाली होती है समाज की अधिसंरचना अर्थात ऊपरी संरचना जिसमें धर्म, प्रथाएं, राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान, एवं संस्कृति आदि आते है, भी उसी प्रकार बन जाती है। जब उत्पादन प्रणाली बदलती है तो समाज की संस्थाएं बदलती है तथा सामाजिक परिवर्तन आता है। मार्क्स कहते है कि जब हाथ की चक्की से उत्पादन किया जाता था तो एक वि"ोष प्रकार का समाज था और आज जब बिजली की चक्की है तो दूसरे प्रकार का समाज है। पहले जब हल व बैलों से खेती की जाती थी तो अलग समाज था और अब कृषि में ट्रैक्टर एवं वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग हो रहा है तो एक वि"ोष प्रकार का समाज है। अतः स्पष्ट है कि उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने पर ही समाज में परिवर्तन आता है। उत्पादन में लगे लोगो के पारस्परिक संबधों में भी परिवर्तन आता है। आज के युग में पूंजीपति व श्रमिकों में जो संबध पाये जाते है वे कृषि युग के भूस्वामियों एवं मजदूरों के संबधों से इसलिए भिन्न है। मार्क्स का मत है कि उत्पादन के संबधों के संपूर्ण योग से ही समाज की आर्थिक संरचना का निर्माण होता है। जैसे– कृषि युग में जमींदारों, कृषकों एवं कृषि –श्रमिकों के बीच पाये जाने वाले संबधों से एक वि"ोष प्रकार की आर्थिक संरचना का निर्माण हुआ जिसे हम कृषि अर्थव्यवस्था कहते है। वर्तमान समय में पूंजीपतियों कारखानों के स्वामियों एवं श्रमिकों के संबधों से मिलकर बनने वाली आर्थिक संरचना कृषि युग की आर्थिक संरचना से भिन्न है इसे हम औद्योगिक आर्थिक संरचना कहते है।

मार्क्स के अनुसार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है जब उत्पादन के उपकरणों अर्थात प्रौद्योगिकी, उत्पादन के कौ"ाल, ज्ञान, उत्पादन के संबध आदि जो कि आर्थिक संरचना का निर्माण करते है, में परिवर्तन आता है तो संपूर्ण सामाजिक–सांस्कृतिक अधि संरचना में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते है। इसकी पुष्टि के लिए मार्क्स ने समाज के विकास के पांच युगो की चर्चा की है और प्रत्येक युग में पाये जाने वाले दो वर्गो का उल्लेख किया। एक वह जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार है तथा दूसरा वह जो श्रम के द्धारा अपना जीवनयापन करता है। इन दोनो वर्गो के बीच अपने हितो को लेकर संधर्ष रहा है और वर्ग संधर्ष का अन्त नये समाज एवं नये वर्गों के उदय के रूप में हुआ है। मार्क्स कहते है कि वर्गों की रचना एवं प्रकृति ही समाज व्यवस्थता का निर्धारण करती है। (गुप्ता एवं शर्मा : 2014)

बोध प्रश्न–1

i) उत्पादन प्रणाली का क्या अर्थ है

.....

.....

ii) उत्पादन की शक्तिया क्या है ?

.....

.....

.....

iii) अधि संरचना क्या है ?

.....

.....

.....

iv) उत्पादन प्रणाली किन पक्षों से मिलकर बनती है।

.....

.....

.....

v) बुर्जुवा वर्ग व सर्वहारा वर्ग किस युग प्रणाली में पाया जाता है।

.....

.....

.....

vi) किस उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत श्रम"ाक्ति बेची व खरीदी जाती है।

अ) एि"ायाटिक

ब) प्राचीन

स) सामन्तवादी

द) पूंजीवादी

सत्य/असत्य बताइए ?

vii) मार्क्स के अनुसार, किसी भी समाज में विद्यमान आर्थिक व्यवस्था ही उस समाज की मूल–संरचना होती है।

.....

8.4 उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूप

उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूप

आइए अब हम उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों को समाज के विकास के साथ समझने की कोि"ा"ा करते है। किसी भी विशिष्ट समाज में एक नियत बिन्दु पर एक से अधिक उत्पादन प्रणाली प्रचलित हो सकती है। परन्तु समाज के सभी स्वरूपों में उत्पादन का एक निर्धारक प्रकार होता है, जो अन्य सभी परिस्थिति एवं प्रभाव प्रदान करता है। मार्क्स द्वारा मानवीय समाजों के अध्ययन के दौरान बताए गए उत्पादन प्रणाली के निम्न स्वरूपों की यहां चर्चा की गयी है–

8.4.1 आदिम साम्यवादी उत्पादन प्रणाली

मार्क्स के अनुसार, आदिम साम्यवादी युग इतिहास का प्रारम्भिक युग था। इस अवस्था में उत्पादन के साधनो पर किसी व्यक्ति वि"ोष का अधिकार नही था अपितु समुदाय का उन पर अधिकार होता था। समाज में परिस्थितियां ऐसी थी कि सब लोग मिलजुलकर काम करते थे जिससे वे अपना जीवनयापन व भरण पोषण कर सके। अकेले जीवनयापन करना असभंव था। उस समय समाज में पत्थर के औजार व उसके बाद तीर, धनुष आदि उत्पादन के मुख्य साधन हुये जिससे वे लोग फल–फूल एकत्रित करते थे तथा साथ ही प"ाुओं का ि"ाकार करते थे और रहने व खाने आदि जैसे कार्यो में लोग साथ मिलकर काम करते थें तथा अपना जीवनयापन चलाते थे। साथ–साथ मिलकर काम करने के कारण ही उत्पादन के साधनों व उससे प्राप्त वस्तुओ पर सबका अधिकार होता था। भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता था। ये समुदाय नातेदारी संबधित होते थे। व्यक्तिगत अधिकार का अभाव था। इसलिए उस प्रस्थिति के समाज में वर्ग प्रथा का अभाव था। सब समान थे, शोषण जैसी स्थिति नही थी। इसलिए मार्क्स इसे आदिम साम्यवादी अवस्था कहते है।

8.4.2 प्राचीन उत्पादन प्रणाली

समयानुसार भौतिक परिस्थितियों में धीरे–धीरे परिवर्तन हुआ जिससे व्यक्ति प"ाुपालन व कृषि कार्य करने लगा। जिससे समाज में दस्तकारी और श्रमविभाजन पनपा। जिन व्यक्तियों का भूमि व उत्पादन के साधनों पर अधिकार था वे निस्हाय लोगो को दास बनाकर उनसे जबरन अपना कार्य करवाने लगे। इस उत्पादन व्यवस्था का आधार दास प्रथा थी। दास का मालिक से सम्बन्ध दास प्रथा का मूल सार माना जाता है। इस उत्पादन प्रणाली में मालिकों का दासों पर स्वामित्व का अधिकार होता है तथा वह दास श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उपभोग करता है।

संपूर्ण समाज में धीरें–धीरें दास प्रथा का प्रचलन शुरू हो गया था और संपूर्ण समाज दो वर्गो– मालिक व दास में विभाजित हुआ। मालिकों द्धारा दासों का शोषण अपने कार्यो को करवाने के लिए होने लगा तथा दासों को वस्तुओं की भाति खरीदा व बेचा जाने लगा। जिस व्यक्ति के पास जितने ज्चादा दास व उतना ही शक्ति"ाली व प्रतिष्ठित होता था। यदि हम अपनी चर्चा को कृषि सम्बन्धी दासता तक सीमित रखें तो हमें पता चलता है कि शोषण इस प्रकार से होता है कि दास मालिक की भूमि पर कार्य करता है जिससे उसको बदले में जीवन–निर्वाह मिलता है। दास द्वारा किए गए उत्पादन और उपभोग में जो अंतर होता है वहीं मालिक का लाभ बन जाता है लेकिन दास को अपने स्वयं के जनन से वंचित रखा जाता है। किसी भी समाज में दासता का जनन इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज में नए दास प्राप्त करने की उस समाज की क्या क्षमता है। समुदाय के अन्य सदस्यों से दास भिन्न होते हैं क्योंकि उन्हें अपनी सन्तान के अधिकार से वंचित रखा जाता है।

दास प्रथा में श्रम शक्ति की वृद्धि वास्तविक जनांकिकीय शक्तियों से मुक्त होती है। यह प्राकृतिक वृद्धि पर आधारित जनांकिकीय वृद्धि पर निर्भर नहीं करती, अपितु विदेशी व्यक्तियों को पकड़ कर लाने के साधनों पर निर्भर करती है। संचय की संभावना दासों की वृद्धि से होती है, जो कि श्रम की उत्पादकता में वृद्धि से मुक्त होती है। किसी भी दास उत्पादन प्रणाली के प्रभुत्व की परख दासों की संख्या में नहीं होती, अपितु उस सीमा में होती है, जिस सीमा तक अभिजन वर्ग अपनी दौलत पाने के लिए दासों पर निर्भर होते हैं। मार्क्स के अनुसार, दास युग का प्रादुर्भाव वि"व के अनेक समाजों में लगभग एक साथ हुआ। दास युग की अन्तिम अवस्था में ही कृषि का विस्तार होने लगा तथा धीरे धीरे समाज में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन की प्रक्रिया होने लगी जिसका परिणाम सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली में हुआ।

8.4.3 सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली

मार्क्स तथा एंजल्स की प्राथमिक रूप से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की परिभाषा में रूचि थी। इस युग में उत्पादन के साधनों पर राजाओं और सामन्तों का अधिकार हो गया। छोटे किसान सामन्तों से भूमि लेकर उस पर खेती किया करते थे। किसान दास तो नही थे लेकिन उन पर कई प्रकार से नियंत्रण था उन्हें सामन्तों के यहा बेगार में खेती करना व युद्ध के समय उनकी सेना में सिपाही की भूमिका के रूप में लडना होता था। जिसके फलस्वरूप उन्हे सांमन्त जीवन निर्वाह के लिए कुछ वेतन या भूमि देता था। इसमें शोषण ज्यादा होता था और समाज में वर्गसंधर्ष बढता गया। सामंतवादी व्यवस्था में श्रम का प्रचलित रूप क्या था और श्रम के उत्पादकों का उपभोग कैसे किया जाता था इस बारे में भी मार्क्स विचारशील थे।

इस अवस्थता में ही उत्पादन के संबधों में पूर्व अवस्थता की तुलना में मौलिक गुणात्मक अन्तर आये। सामंतवादी अवस्थता मे उत्पादन की शक्तियों में तीव्र **मात्रात्मक परिवर्तन** हुये जिनके अन्तर्गत पहली बार जल वायु ऊर्जा जैसे अजैवकीय साधनों का प्रयोग हुआ। इन उत्पादक शक्तियों के विकास में सामंतवादी उत्पादन के संबधों में सहायता मिली सामंतवादी भूपतियों ने भूमिहीन किसानों को शोषित किया कालान्तर में नगरों का विकास हुआ इस अवस्था में व्यापार बढा। ऐसी स्थिति में सामंतवादी जागीरों से अनेक भूमिहीन किसान नवविकसित नगरों में भाग गये ताकि वे वहा व्यापार कर सके सामंतवादी व्यवस्थायें विपरीतों का संघर्ष अर्थात भूमिहीन किसानों और सामंतवादी भूपतियों के बीच संघर्ष अपनी परिपक्वता पर पहुच गया। सामन्तवादी समाज को मार्क्स तथा एंजल्स के प्राचीन विश्व के दास समाज तथा आधुनिक युग के पूंजीपतियों एवं सर्वहाराओं के मध्य एक माध्यमिक अवस्था माना। सामन्वादी व्यवस्था उद्विकास के कारण

विनिमय का विकास हुआ है। इसने पूंजीवादी उत्पादन के संबधों की नींव डाली, जो कि बाद में इस व्यवस्था का मुख्य विरोधाभास बन गये। इस परिवर्तन की प्रक्रिया ने अपने किसानों को भूमि से खदेड़कर मेहनतकाश मज़दूर बनने के लिए मजबूर कर दिया। अतः सांमतवादी व्यवस्थता का पतन हुआ तथा इसका निषेध पूंजीवादी व्यवस्थता थी।

8.4.4 पूंजीवाद उत्पादन प्रणाली

इसका प्रादुर्भाव औद्योगिक क्रान्ति अर्थात म"ीनों के अविष्कार तथा उधोग धन्धों के फलस्वरूप हुआ। जिसने उत्पादन के साधनों में परिवर्तन ला दिये। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में उत्पादन के साधन के रूप में पूंजी महत्वपूर्ण होती है। पूंजी के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। यह धन के स्वरूप के रूप में हो सकती है अथवा श्रमशक्ति एवं उत्पादन के लिए कच्चे माल के क्रय के लिए ऋण के रूप में हो सकती है। यह भौतिक मशीनरी को खरीदने के लिए धन अथवा ऋण की आवश्यकता भी हो सकती है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में पूंजी के विभिन्न स्वरूपों का निजी स्वामित्व पूंजीपति वर्ग के हाथ में होता है। पूंजीपतियो का स्वामित्व इस प्रकार का होता है कि आम जनता का उस स्वामित्व में कोई हिस्सा नहीं होता। इसे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की मुख्य विशेषता माना जा सकता है। इस युग में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है। जिससे समाज पुनः दो वर्गो में विभाजित हो जाता है पहला वह जो पूजीं पर अधिकार रखता है जिसे मार्क्स **बुर्जुआ** कहता है तथा दूसरा वह है जो पूंजीपतियों के हाथो अपना श्रम बेचता है जिसे मार्क्स **सर्वहारा** वर्ग के नाम से संबोधित करता है। जो कि अपना सब कुछ हार चुका है। पूंजीवादी युग में पूंजीपतियों ने पूंजी का अधिक से अधिक संचय करना शुरू कर दिया। जिससे समाज में दरिद्रीकरण, ध्रुवीकरण व अलगाव की भावना ने जन्म लेना शुरू कर दिया। इस युग में उत्पादन बडी मात्रा में होने लगा छोटे छोटे उधोग धन्धे नष्ट हो गये क्योंकि वे बडे कारखानों में बने माल से प्रतिस्पर्द्धा नही कर सकते थे। अत इन कुटीर उधोगों के श्रमिक भी कारखानों के मजदूरों में सम्मिलित हो गये। जिससे संपति का केन्द्रीकरण पूंजीपतियों के हाथो में होने लगा। समाज के दोनों वर्गो में संघर्ष अपने अपने हितो की पूर्ति के लिये होने लगा जिसकी परिणति अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर समाज में परिवर्तन के रूप में हुयी।

विद्धानों द्धारा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की निम्न विशेषताएं बतायी गयी है। (बॉटोमोर 1983 : 64)

अ) वस्तुएं प्रयोग के लिए नहीं अपितु विक्रय के लिए उत्पादित की जाती हैं।

ब) श्रमशक्ति अथवा उपयोगी कार्य करने की क्षमता को बाजार में बेचा व खरीदा जाता है। किसी विशेष समय अथवा अवधि के लिए (समय दर) अथवा किसी विशिष्ट कार्य के लिए (नग दर) श्रम शक्ति का नकद वेतन के बदले में विनिमय किया जाता है। प्राचीन उत्पादन प्रणाली में श्रमि अपना श्रम देने के लिए बाध्य होते थे। इसके विपरीत, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में श्रमि अपने नियोक्ता से एक अनुबंध ;ब्वदजतंबजद्ध करता है।

स) विनियम के माध्यम से धन का उपयोग किया जाता है। इस प्रक्रिया में बैंकों तथा वित्तीय माध्यमिक संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

द) उत्पादन प्रक्रिया पूंजीपति अथवा उसके प्रबन्धक द्वारा नियंत्रति होती है।

इ) वित्तीय निर्णय पंजीपति उद्यमी द्वारा नियंत्रित होते हैं।

फ) पूंजीपति व्यक्तिगत रूप से श्रम एवं वित्त नियंत्रण के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं।

उत्पादन प्रणाली के रूप में पूंजीवादी सबसे पहले यूरोप में उभरा। इस क्रांति में प्रौद्योगिकी की तीव्र वृद्धि हुई और इसके साथ–साथ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में भी प्रगति हुई। मार्क्स ने पूंजीवाद को एक ऐसी ऐतिहासिक अवस्था माना जिसका स्थान समाजवाद लेगा।

8.4.5 समाजवादी युग–

पूंजीवादी युग में पूंजीपतियों के शोषण के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग एक दिन क्रान्ति करेंगे और पूंजीपतियों को उखाड फेकेगें और अपनी विजयी के प्रतिआ"ावादी होकर विजय होगें तथा सर्वहारा वर्ग समाजवाद की स्थापना करेंगें उत्पादन के साधनों पर राज्य का सामूहिक अधिकार होगा। तब शोषक व शोषित वर्ग नही होगें और वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी। इस युग में व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करना होगा तथा अपनी आव"यकता के अनुसार ही उसको मिलेगा। मार्क्स इतिहास की आर्थिक व्याख्या के आधार पर पूंजीवाद का अन्त और साम्यवाद के आगमन की संभावना व्यक्त करता है मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग में कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जिनके पास उत्पादन के साधन होते है और कुछ साधनविहीन होते है इन दोनो वर्गो में सदैव संधर्ष होता है जो समाजवादी युग के आकर समाप्त हो जायेगा और वर्गविहीन समाज की स्थापना हो जायेगी।

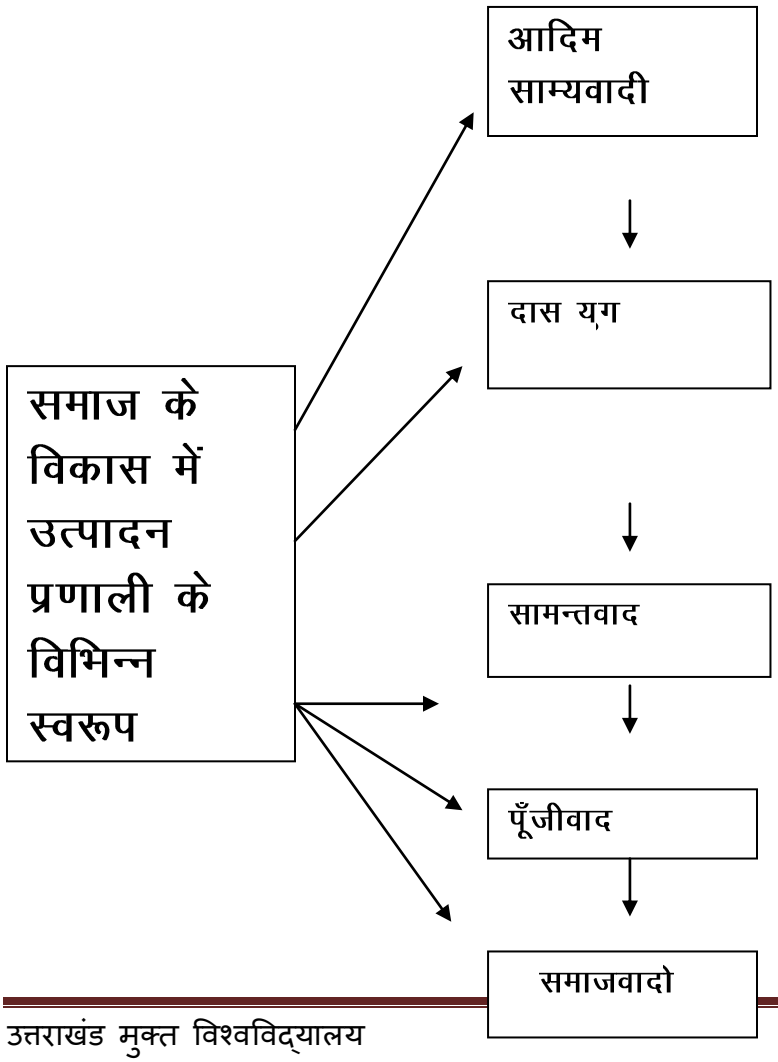

चित्र – माक्स के अनुसार समाज के विकास में उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूप

बोध प्रश्न–2

i) उत्पादन के विभिन्न स्वरूप क्या है।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) कार्ल मार्क्स के पूंजीवादी युग में उत्पादन प्रणाली को संक्षिप्त में समझाइयें।

.....

.....

.....

.....

.....

iii) पूंजीवादी युग में वर्ग संघर्ष का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

iv) आदिम साम्यवादी युग, दासत्व युग व सामन्तवादी युग में उत्पादन प्रणाली को समझाइयें।

.....

.....

.....

.....

.8.5 सारांश

इस प्रस्तुत इकाई में कार्ल मार्क्स के विचारो द्वारा उत्पादन की विधियों को समाज के विकास के संदर्भ में बताया गया जिसमें उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों जिसमें आदिम साम्यवादी युग, दासत्व, सामन्तवादी, पूंजीवादी व समाजवादी युग में उत्पादन प्रणाली के बारे में चर्चा की गयी है। जिससे आप उत्पादन प्रणाली व सामाजिक परिवर्तनों को समाज संदर्भ मे मार्क्स के दृष्टिकोण से समझ सके। जर्मनी में जन्में कार्ल मार्क्स (1818–1883) को आधुनिक समाजवादी विचारधारा का पिता माना जाता है। सबसे पहले आपको उत्पादन की शक्तियों एवं संबन्ध की अवधारणा से अवगत कराया गया है साथ ही आर्थिक व्यवस्थता व समाज तथा आर्थिक कारक व शक्ति को कार्ल मार्क्स के विचारो द्वारा बताया गया। उत्पादन की शक्तियां आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त कच्चे माल व उपकरण और तकनीकों को कहते है।

यहा प्रस्तुत इकाई में उत्पादन प्रणाली को सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में जाना गया है। इसमें बताया गया कि मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की और कहा कि मानव इतिहास में अब तक जो परिवर्तन हुए है वे उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण हुये है अर्थात उत्पादन प्रणाली ही निर्णायक कारक है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है जब उत्पादन के उपकरणों अर्थात प्रौद्योगिकी, उत्पादन के कौ"ाल, ज्ञान, उत्पादन के संबध आदि जो कि आर्थिक संरचना का निर्माण करते है, में परिवर्तन आता है तो संपूर्ण सामाजिक–सांस्कृतिक अधि संरचना में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते है। इसकी पुष्टि के लिए मार्क्स ने समाज के विकास के पांच युगो की चर्चा की जिसमें उत्पादन की विधियों को बताया है और प्रत्येक युग में पाये जाने वाले दो वर्गो का उल्लेख किया। एक वह जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार है तथा दूसरा वह जो श्रम के द्वारा अपना जीवनयापन करता है। इन दोनो वर्गो के बीच अपने हितो को लेकर संधर्ष रहा है और वर्ग संधर्ष का अन्त नये समाज एवं नये वर्गों के उदय के रूप में हुआ है।

8.6 पारिभाषिक शब्दावली

उत्पादन संबध – उत्पादन की प्रक्रिया में उभरने वाले प्रत्यक्ष सामाजिक संबध इन सामाजिक संबधों के अंतर्गत उत्पादन के साधनों के मालिक तथा गैर मालिक दोनों के मध्य संबध शामिल होते है ये संबध उत्पादन पर स्वामित्व की क्षमता एवं नियंत्रण को नि"चित एवं निर्धारित करते है।

उत्पादन प्रणाली– उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबधो के मध्य संबधों को उत्पादन प्रणाली कहा जा सकता है उत्पादन के तरीके उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबधो के मध्य सम्बन्ध में भिन्नता के आधार पर पहचाने जाते है।

ए"ियाटिक उत्पादन प्रणाली– उस समुदाय आधारित उत्पादन व्यवस्थता से सम्बन्धित है जिसमें भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता है और राज्य शक्ति के अस्तित्व की अभिव्यक्ति इन समुदायों की वास्तविक अथवा काल्पनिक एकता से होती है।

प्राचीन उत्पादन प्रणाली– उत्पादन की व्यवस्थता, जिसमें मालिक का दास पर स्वामित्व का अधिकार होता है तथा वह उसके श्रम के उत्पादन को दासता के माध्यम से हडप लेता है और दास को जनन की अनुमति नहीं देता।

सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली– यह एक ऐसी उत्पादन व्यवस्थता है जिसमें भूमिपति किसानों से जमीन के किराये के रूप में उनके अतिरिक्त श्रम को हडप लेता है।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली– यह एक ऐसी उत्पादन व्यवस्थता है जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामी पूंजीपति सर्वहारा वर्ग से लाभ के रूप में अतिरिक्त श्रम करवातें है।

मालिक– दास प्रथा में वह शासक वर्ग जो की दासों पर नियंत्रण रखते है।

भूमिहीन किसान– सामन्तवादी उत्पादन के तरीको में उत्पादकों का वह वर्ग जिनका अतिरिक्त श्रम किराये के माध्यम से हडप लिया जाता है।

दास –उत्पादन प्रणाली में उत्पादको का वह वर्ग जो कि मालिको द्धारा निजी संपत्ति के रूप में सीधे नियंत्रित किया जाता है।

परिवर्तन– किसी भी वस्तु में दो समय में होने वाली भिन्नता ही परिवर्तन कहलाती है।

वर्ग– वे लोग जिनके उत्पादन के साधनों से समान संबन्ध होते है अर्थात अपने समान हितों के प्रति जिनमें समान जागरूकता पायी जाती है। वे एक से वर्ग का निर्माण करते है।

8.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

i) उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबधो के मध्य संबधों को उत्पादन प्रणाली कहा जा सकता है उत्पादन के तरीके उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबधो के मध्य सम्बन्ध में भिन्नता के आधार पर पहचाने जाते है।

ii) उत्पादन की शक्तियों को भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त भौतिक तरीकों के रूप में समझा जा सकता है। इसके अंतर्गत तकनीकी जानकारी, उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त उपकरण या उत्पाद आदि आते हैं जैसे– उपकरण, मशीनें, श्रम तथा प्रौद्योगिकी के स्तर आदि सभी उत्पादन की शक्तियां कहलाती हैं।

iii) मार्क्स कहते है कि किसी भी समाज में विद्यमान आर्थिक व्यवस्था ही उस समाज की मूल–संरचना होती है। उस समाज में पाये जाने वाले मूल्य, रीति–रिवाज, संस्कृति, कानून, नियम तथा सामाजिक मानदण्ड आदि वे अधि–संरचनाएँ (Super-structures) होते है। जिनका विकास मूल संरचना की प्रकृति के अनुसार ही होता है।

iv) उत्पादन प्रणाली दो पक्षों से मिलकर बनी होती है एक उत्पादन की प्रौद्योगिकी व श्रमिक तथा दूसरा उत्पादन के संबध।

v) पूंजीवादी युग उत्पादन प्रणाली

vi) द) पूंजीवादी

vii) सत्य

बोध प्रश्न–2

i) उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों में आदिम साम्यवादी, दासत्व, सामंतवादी, पूंजीवादी व समाजवादी उत्पादन प्रणाली है।

ii) पूंजीवादी एक ऐसी उत्पादन व्यवस्थता है जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामी पूंजीपति सर्वहारा वर्ग से लाभ के रूप में अतिरिक्त श्रम करवातें है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में उत्पादन के साधन के रूप में पूंजी महत्वपूर्ण होती है। इस युग में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है। जब प्रौद्योगिकी में परिवर्तन होता है तो उत्पादन के साधन बदलते है और समाज में परिवर्तन आता है।

iii) पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्थता में समाज पुनः दो वर्गो में विभाजित हो जाता है पहला वह जो पूजीं पर अधिकार रखता है जिसे मार्क्स **बुर्जुआ** कहता है तथा दूसरा वह है जो पूंजीपतियों के हाथो अपना श्रम बेचता है जिसे मार्क्स **सर्वहारा** वर्ग के नाम से जाना जाता है। जो कि अपना सब कुछ हार चुका है। दोनो वर्ग अपने अपने हितो के लिए समाज में संघर्ष करते है। और जब प्रौद्योगिकी में परिवर्तन होता है तो उत्पादन के साधन बदलते है और समाज में परिवर्तन आता है

iv) मार्क्स के अनुसार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है जब उत्पादन के उपकरणों अर्थात प्रौद्योगिकी, उत्पादन के कौ"ाल, ज्ञान, उत्पादन के संबध आदि जो कि आर्थिक संरचना का निर्माण करते है, में परिवर्तन आता है तो संपूर्ण सामाजिक–सांस्कृतिक अधि संरचना में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते है। जो कि मार्क्स ने समाज के विकास में लागू की और कहा कि **आदिम साम्यवादी युग** में इतिहास का प्रारम्भिक युग था। साथ–साथ मिलकर काम करने के कारण ही उत्पादन के साधनों व उससे प्राप्त वस्तुओ पर सबका अधिकार होता था। भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता था। ये समुदाय नातेदारी संबधित होते थे। व्यक्तिगत अधिकार का अभाव था। इसलिए उस प्रस्थिति के समाज में वर्ग प्रथा का अभाव था। सब समान थे, शोषण जैसी स्थिति नही थी। **दासत्व युग** में उत्पादन की व्यवस्थता, जिसमें मालिक का दास पर स्वामित्व का अधिकार होता है तथा वह उसके श्रम के उत्पादन को दासता के माध्यम से हडप लेता है और दास को जनन की अनुमति नहीं देता। **सामन्तवादी व्यवस्थता में** यह एक ऐसी उत्पादन व्यवस्थता है जिसमें भूमिपति किसानों से जमीन के किराये के रूप में उनके अतिरिक्त श्रम को हडप लेता है। इस युग में उत्पादन के साधनों पर राजाओं और सामन्तों का अधिकार हो गया। छोटे किसान सामन्तों से भूमि लेकर उस पर खेती किया करते थे। किसान दास तो नही थे लेकिन उन पर कई प्रकार से नियंत्रण था उन्हें सामन्तों के यहा बेगार में खेती करना व युद्ध के समय उनकी सेना में सिपाही की भूमिका के रूप में लडना होता था। जिसके फलस्वरूप उन्हे सांमन्त जीवन निर्वाह के लिए कुछ वेतन या भूमि देता था। इसमें शोषण ज्यादा होता था और समाज में वर्गसंधर्ष बढता गया।

8.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Marx, Karl, (1964) *Selected Writings in Sociology and Social Philosophy*, McGraw Hill, London

Marx, Karl, and Engels Friedrich (1964) *German Ideology*, Frederick Ungar, New York

Menand, Louls, (2016) *Karl Marx, Yesterday and today*, Frederick Ungar, Newyork

Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought,* vol.1 & 2, Penguin books, London

Bottomore, T.B., (1969) *Socioloogy: A guide to problem and literature,* Allen and unvin, London

गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

बोटोमोर, टी0बी0, 1975 मार्क्सवादी समाज"ाास्त्र, (अनुवादकः सदा"िाव द्विवेदी) मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड नई दिल्ली

कोजर लेविस ए 1971 मास्टर्स ऑफ सो"ियॉलाजिकल थॉट : आइडियाज इन हिस्टारिकल एण्ड सो"ाल कॉनटैक्स्ट, हरकोर्ट ब्रेस जोवैनोवि"व : न्यूयार्क

8.9 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought,* Rawat publication, Jaipur

Giddens, Anthony, (1993) *Sociology,* polity press, Cambridge

Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology,* Routledge & Kegan Paul, London

सिहं,जे0 पी0, (2008) समाजशास्त्र–अवधारणाएं एवं सिद्धान्त, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

8.10 निबंधात्मक प्रश्न

4. कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाज में ऐतिहासिक भौतिकवाद सिद्धांत में उत्पादन की शक्तियों पर विवेचना कीजिए।
5. उत्पादन की शक्तियां, संबन्ध व प्रणाली की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
6. कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाज के विकास में उत्पादन के तरीको के बारे में वर्णन कीजिए।
7. उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या कीजिए।

इकाई–9 : वर्ग संघर्ष एवं अलगाव (Class Conflict & Alienation)

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 मार्क्स का संघर्षवाद
9.2.1 मार्क्स के वर्ग संघर्ष की अवधारणा
9.2.2 वर्ग संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा
9.3 मार्क्स का वर्ग संघर्ष सिद्धांत
9.4 मार्क्स के वर्ग संघर्ष की विशेषताऐं
9.5 अलगाव की अवधारणा
9.6 अलगाव का अर्थ एवं परिभाषा
9.7 अलगाव का सिद्धांत
9.8 अलगाव से सम्बन्धित अन्य विचार
9.9 सारांश
9.10 शब्दावली
9.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
9.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.14 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :–

- ✓ मार्क्स की वर्ग संघर्ष की अवधारणा को समझ पायेंगे।
- ✓ मार्क्स आर्थिक संसाधनो में परिवर्तन को कैसे समाज में परिवर्तन की बात करता है उसे समझ पायेंगे।
- ✓ अलगांव का अर्थ व परिभाषा को समझ पायेंगे।
- ✓ अलगांव की विस्तृत चर्चा को समझ पायेगे।

9.1 प्रस्तावना : (Introduction)

कार्ल मार्क्स ने वर्ग एवं वर्ग संघर्ष की अवधारणा को अच्छी तरह से समझाया है। कार्ल मार्क्स ने वर्ग को आर्थिक आधार पर परिभाषित किया है। मार्क्स ने कहा है जिन लोगो के पास जैसे संसाधन होंगे उनका वही वर्ग होगा। इनहोंने समाज में दो वर्गो का वर्णन किया है (1) श्रमिक (2) पूंजीपति, श्रमिक से तात्पर्य जो लोग अपना श्रम बेचते है, श्रमिक कहलाते है। पूँजीपति से तात्पर्य वो लोग जिनके पास धन होता है और श्रमिको का शोषण करते है। मार्क्स ने बताया कि इन दो वर्गो के बीच वर्ग संघर्ष की बात कही है और वर्ग संघर्ष के द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन होता है। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के द्वारा श्रमिक लोगो के मन मे अलगाव की भावना पैदा होती है कि जिस कार्य को हम कर रहे है इस कार्य का मुनाफा पूँजीपति लोग ले रहे है। इनका श्रमिक को कोई फायदा नही होता है इस स्थिति को अलगाव के रूप में मार्क्स ने परिदर्शित किया है।

9.2 मार्क्स का संघर्षवाद : (Marxism Conflict)

Randle Collivs ने अपनी पुस्तक "Three Sociological Traditions" में लिखा कि कार्ल मार्क्स न तो संघर्षवाद के आविष्कारक हैं और न ही इसको शुरूआत देने वाला परन्तु इस दृष्टिकोण को उन्होंने ऐसे नाटकीय अंदाज में प्रस्तुत किया कि यह दृष्टिकोण सामाजिक विज्ञानों में इतना आर्थिक लोकप्रिय हो गया। प्रकार्यवाद के विपरीत संघर्षवाद किसी समाज का विश्लेषण 2 तत्वों या आयामों से करता है। पहला प्रभुत्व व दूसरा शोषण (Dominance & Exploitation/Inequality) या असमानता।

इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक जिनमें शक्ति होती है (धन, शारीरिक शक्ति, जनसमूह का समर्थन, बौद्धिक क्षमता आदि) दूसरा जिनके पास शक्ति नहीं होती।

शक्तिशाली अपनी शक्ति का प्रयोग शक्तिहीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए करता है, जिससे वह अपने हित में उसका शोषण कर सके। यही असमानता समाज में सभी सम्बन्धों का मूल है जिसके केन्द्र में एक दूसरे का शोषण है। संघर्षवाद की शुरूआत प्राचीन दार्शनिक Openhim के दर्शन में देखा जा सकता है जो मानते हैं कि संसार में सभी जीव अपने से निर्बल पर शासन करते हैं, जिसके कारण संघर्ष होता है और इसीलिए समाज एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होता है।

अरस्तू तथा पोलिबायस मानते हैं कि सभी समाजों में व्यक्ति के मूल्य तथा दृष्टिकोण एक समान नहीं होते जिसके कारण समाज में संघर्ष होता है तथा पुराने के स्थान पर नई सामाजिक व्यवस्थाएँ अस्तित्व में आती हैं।

खाल्दूम मानते हैं कि संघर्ष के बिना समाज में जड़ता आ जाती है। संघर्ष के कारण ही समाज में गतिशीलता आती है, जिससे समाज परिवर्तित होते हैं।

Thomas Hobbes मानते हैं कि मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है तथा सदैव अपनी स्वार्थसिद्धि में लगा रहता है। जब भी सामाजिक व्यवस्था में उसके स्वार्थ सिद्ध नहीं हाते, वह व्यवस्था बदलने के लिए सक्रिय हो जाता है, जिससे व्यवस्था बदलती हैं।

Herbert Speneer समाज पर डार्विनवाद को लागू करते है, जिनके अनुसार सभी जीवों की तरह मनुष्य भी अपने अस्तित्व भोजन एवं प्रजनन के लिए संघर्ष करता है, जिसमें जो सर्वोत्तम होते हैं, उनका अस्तित्व एवं वंश आगे बढ़ता है। जबकि अन्य अपना महत्व खोकर समाज में जीने के लिए संघर्ष करते हैं।

उपरोक्त विचारकों के विचारों के निष्कर्ष के आधार पर संघर्षवादी दृष्टिकोण की निम्नलिखित विशेषताओं की पहचान की जा सकती है–

1. संघर्ष सभी समाजों में अनिवार्य रूप से पाया जाता है, जिसे टाला नहीं जा सकता।

2. यह मानना गलत है कि संघर्ष समाज के लिए क्षतिकारी होता है। संघर्ष से समाज में परिवर्तन एवं विकास होता है।
3. संघर्ष से समाज की समस्याएँ सामने आ जाती हैं जिसका निवारण कर समाज और प्रगति करता है।
4. संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा समान अवधारणाएँ नहीं हैं।
5. जब भी संघर्ष वाह्य समूह से होता है, अन्तःसमूह एकता बढ़ जाती है।

मार्क्स ने उपरोक्त संघर्षवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार किया तथा संघर्ष को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया, जो सामाजिक विज्ञानों के दिशा को बदलने में अत्यन्त सहायक एवं सक्रिय रहा।

9.2.1 मार्क्स के वर्ण संघर्ष की अवधारणा
(Concept of Marxirm Class Conflict)

मार्क्स ने अपने वर्ग संघर्ष सिद्धांत को ऐतिहासिक भौतिकवाद के पूरक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है और इसको उत्पादन प्रणाली में निहित अंतर्विरोध की अभिव्यक्ति के रूप में दर्शाया है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व एवं वंचितता के आधार पर अब तक का मानव समाज परस्पर विरोधी हितों वाले दो वर्गों में विभक्त रहा है।

1. उत्पादन के साधनों का स्वामी वर्ग
2. उत्पादन के साधनों से वंचित वर्ग

स्वामी वर्ग द्वारा सदेव वंचित वर्ग का शोषण किया जाता रहा है और इस शोषण को लेकर दोनों वर्ग परस्पर संधर्षरत रहे हैं। संघर्ष की यह प्रक्रिया दास युग में दास एवं मालिक के बीच सामंत युग में सामंत एवं अर्धदास किसानों के बीच तथा पूंजीवादी युग में पूंजीपति एवं श्रमिकों के बीच चलती रही है इसीलिये मार्क्स कहता है कि अब तक मे मानव समाज का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास रहा है।

मार्क्स ने इस वर्ग–संघर्ष के लिये संपत्ति संबंध (निजी संपत्ति का अधिकार) एवं इसमें निहित शोषण को उत्तरदायी ठहराते हुए कहा है कि इतिहास की पूर्व अवस्था (आदिम साम्यवाद) में उत्पादन शक्तियाँ सरल थीं। इस समय केवल 'जीवन–निर्वाह उत्पादन' होता था और निजी संपत्ति का अभाव था, फलतः न वर्ग था, न शोषण था और न ही वर्ग संघर्ष था। परन्तु उत्पादन की शक्तियों में विकास के साथ 'अतिरिक्त उत्पादन' संभव हुआ और 'निजी संपत्ति' की अवधारणा सामने आयी। फलतः समाज परस्पर विरोधी हितों वाले दो समूहों में विभक्त हो गया दास एवं मालिक और वर्ग शोषण तथा वर्ग संघर्ष का इतिहास आरंभ हुआ। पुनः उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के साथ समाज सामंत युग एवं पूंजीवादी युग के रूप में विकसित हुआ। फिर भी, वर्ग शोषण एवं वर्ग संघर्ष बना रहा क्योंकि युग परिवर्तन के बावजूद निजी संपत्ति का अस्तित्व विद्यमान रहा।

मार्क्स का मानना है कि निजी संपत्ति के अधिकार के कारण ही पूंजीवादी युग में समाज परस्पर विरोधी हितों वाले दो वर्गों मे विभक्त है। पहला, पूंजीपति वर्ग (उत्पादन के

साधनों से वंचित वर्ग)। चूंकि पूंजीपतियों का लाभ श्रमिकों के अतिरिक्त मूल्य के शोषण पर ही निर्भर है।

परन्तु, इतिहास के उद्विकास क्रम में पूंजीवादी समाज की यह अवस्था भी स्थाई नहीं है क्योंकि इसका अंतर्विरोध या इसके विनाश के बीज भी इसी सामाजिक व्यवस्था में निहित हैं। मार्क्स का मानना है कि पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के साथ पूंजी का केन्द्रीकरण होगा और श्रमिकों का आकार बढ़ता जायेगा (सर्वहाराकरण) तत्पश्चात् श्रमिक वर्ग में अपने शोषण के बारे में ''स्वयं में वर्ग'' तथा ''स्वयं के लिये वर्ग'' के रूप में 'वर्ग चेतना' का विकास होगा और श्रमिक एवं वर्ग के रूप में संगठित होकर एक क्रांति (सर्वहारा क्रांति) करेगा और उत्पादन के सभी साधनों पर अधिकार कर लेगा तब मानव समाज और इतिहास अपने उद्विकास क्रम में 'सर्वहारा के अधिनायकत्व' की एक संक्रमणकालीन अवस्था से गुजरते हुए एक नये युग में प्रवेश करेगा; जिसे मार्क्स ने साम्यवाद कहा है। चूंकि इस अवस्था में निजी संपत्ति का उन्मूलन हो जाएगा और उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व होगा, फलतः यहाँ न वर्ग होगा, न वर्ग–शोषण होगा, और न ही वर्ग–संघर्ष होगा। मार्क्स के अनुसार यही अवस्था मानव समाज के इतिहास का अंत है।

9.2.2 वर्ग संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning of Class Conflict of Defination)

मार्क्स का विश्वास है कि वर्ग–संघर्ष ही सामाजिक परिवर्तन को निर्धारित करता है। मार्क्स ने साम्यवादी घोषणापत्र में लिखा है–''मानव समाज का इतिहास वर्ग–वंघर्ष का इतिहास रहा है। वर्ग को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि यह ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो अपनी आजीविका समान तरीकों से कमाते हैं। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग में आजीविका उपार्जन की प्राप्ति के विभिन्न साधनों के कारण व्यक्ति अलग–अलग वर्गों में बंट जाता है और प्रत्येक वर्ग में एक विशेष वर्ग चेतना पैदा हो जाती है। दूसरे शब्दों में, 'वर्ग' का जन्म नए साधनों के आधार पर होता है। जैसे ही भौतिक उत्पादन–प्रणाली में परिवर्तन होता है वैसे ही एक नए वर्ग की उत्पत्ति हो जाती है। जिसके पास अच्छी किस्म के उत्पादन के साधन होते हैं, एक नई ऐतिहासिक युग की रचना करता है। नये युग का सामाजिक परिवर्तन, जो कि दो विरोधी वर्गों के संघर्ष का परिणाम होता है। मानव समाज के इतिहास में प्रत्येक युग में दो परस्पर विरोधी वर्ग रहे हैं। इन्हें समयानुकूल भिन्न नामों से सम्बोधित किया गया; जैसे, दासत्व युग में दो वर्ग–स्वामी और दास, सामन्तवादी युग में दो वर्ग–सामान्त और किसान तथा आधुनिक पूँजीवादी युग में दो वर्ग–पूँजीपति और श्रमिक। शोषण वर्ग थोड़े व्यक्तियों का विशेषाधिकार वाला वर्ग रहा है, जिसका उत्पादन के सभी साधनों पर अधिकार रहा है। इन दो वर्गो–शोषक और शोषित के बीच निरन्तर संघर्ष चलता आया है। इस संघर्ष के अन्त की भविष्यवाणी, मार्क्स साम्यवादी समाज की स्थापना के रूप में करते हैं।

मार्क्स की रूचि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में अधिक रही है। मार्क्स के मत में प्रमुख सामाजिक वर्गों के बीच सम्बन्ध परस्पर निर्भरता और विरोध का होता है। इसीलिए पूँजीवादी समाज में पूँजीपति और श्रमिक एक दूसरे पर पूर्णरूपेण निर्भर हैं। क्योंकि श्रमिक अपना श्रम, खुद के और अपने परिवार के जीविकोपार्जन के लिए पूँजीपतियों को बेचता है। दूसरी ओर, अनुत्पादक पूँजीपति श्रमिकों की श्रम–शक्ति पर निर्भर होता है जिससे कि उत्पादन सम्भव होता है। दोनों वर्गों के बीच इस प्रकार का परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध, बजाय बराबरी और आपसी आदान–प्रदान के एक शोषक और शोषित का सम्बन्ध होता है। एक पूँजीपति किस प्रकार श्रमिकों का शोषण करता है तथा श्रमिकों के बीच किस प्रकार पूँजीपतियों के प्रति विरोध की भावना जागृत होती है; इसकी विवेचना मार्क्स कुछ इस प्रकार करते हैं।

पूँजीपति अधिकाधिक लाभ के लालच में बड़े–बड़े उद्योग–धंधे स्थापित करते हैं और उनमें अधिक से अधिक श्रमिकों को काम पर लगाते हैं। उनसे ज्यादा से ज्यादा काम करवाने की शर्तें रखकर, न्यूनतम मजदूरी देकर उनका खूब शोषण करते हैं और स्वयं अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करते हैं। यह लाभ उन्हें अधिशेष मूल्य के रूप में मिलता है। अधिशेष मूल्य, वस्तु की कीमत तथा दिए गए वेतन के बीच के अन्तर को कहते हैं।

मार्क्स के अनुसर जैसे–जैसे पूँजीवाद बढ़ता है वैसे–वैसे श्रमिकों का शोषण भी बढ़ता जाता है। इससे श्रमिकों की दशा दिन–ब–दिन खराब होती जाती है। श्रमिक इस शोषण के विरोध के बावजूद पूँजीपतियों की इच्छाओं के विरूद्ध नहीं जा पाते क्योंकि आखिरकार पूँजीपति ही रोजगार देकर उनहें भुखमरी से बचाते हैं। इस प्रकार कोई विरोध न पाकर पूँजीपति अपनी मनमानी करते रहते हैं।

पूँजीपति और अधिक धन लगाकर बड़े–बड़े उत्पादन संस्थाओं जैसे फैक्ट्रियों की स्थापना करते हैं जिनमें उत्पादन कार्य बड़े पैमाने पर होता है। मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन से दो दुष्परिणाम सामने आते हैं–प्रथम तो यह कि मशीन स्वयं ही श्रमिकों को रोजगार से निकाल फेंकती है क्योंकि मशीन द्वारा किया गया एक दिन का काम श्रमिकों द्वारा महीनों किए गए काम से भी अधिक होता है। इससे श्रमिकों में बेकारी बढ़ती है और यह बेकारी पूँजीपतियों के विरूद्ध इनके मन में एक असन्तोष की भावना जगाती है। दूसरा यह कि उत्पादन बढ़ने से अकसर अति–उत्पादन की स्थिति आ जाती है जिससे व्यापारिक मन्दी का चक्र आता रहता है। इस मन्दी से न केवल बेकारों की संख्या बढ़ती है वरन् कम हैसियत वाले पूँजीपति या छोटे मिल–मालिकों को व्यापार में भारी हानि होती है और वे अपनी पूँजी की शक्ति को खोकर श्रमिक वर्ग में आ मिलते हैं। इससे एक ओर श्रमिक वर्ग की सदस्य–शक्ति बढ़ती है वहीं दूसरी ओरम कम हैसियत वालों को घाटा होने पर उनकी पूँजी भी ज्यादातर अल्पसंख्यक पूँजीपतियों के पास इकट्ठी हो जाती है। साथ ही, मन्दी काल में श्रमिकों का वेतन भी कम कर दिया जाता है जिससे कि उनकी क्रय शक्ति घटती है और वे

अपनी सामान्य जरूरतों की पूर्ति नहीं कर पाते हैं, फलस्वरूप श्रमिकां में जो असंतोष की भावना पनपती है उससे वर्ग–संघर्ष होता है।

अब यहाँ पर कई ऐसे प्रश्न सामने आते हैं जिनका उत्तर हम मार्क्स के ही लेख से निकालने की कोशिश करते हैं। प्रथम और अहम प्रश्न यह है कि वर्ग–संघर्ष तो हर प्रकार के समाज में हमेशा से रहा है, फिर पूँजीवादी समाज में यह इतना विकराल रूप कैसे धारण कर लेता है? द्वितीय प्रश्न जो कि पहले प्रश्न से ही सम्बन्धित है, वह यह कि मार्क्स जिस क्रान्ति की बात करते हैं, वह क्रान्ति पूँजीवादी समाज में ही होगी, इसका आधार क्या है? कहीं ऐसा तो नहीं कि मार्क्स ने पहले के समाज को देख रहा है और चूँकि उसमें ऐसी कोई घटना हुई नहीं, इसीलिए उन जगहों पर मार्क्स मौन हो गए?

इन सवालों का जवाब कुछ इस प्रकार दिया जा सकता है। किसी भी समाज शोषित वर्ग क्रान्ति के लिए तभी सोच सकता है जब यह वर्ग किसी न किसी माध्यम से कहीं न कहीं एकत्र होकर आपस में विचार–विमर्श करता हो जिससे अपनेपन की जागरूकता आ सके। पहले के समाजों में ऐसा कहीं नहीं दिखायी देता। इसीलिए जब तक यह वर्ग ऐसा था जिसमें अपने ही वर्ग के लोगों के प्रति संवेदना नहीं थी, मार्क्स ने इस वर्ग को स्वतः में वर्ग कहा। जैसे ही लोगों में अपनापन रूपी चेतना जागती है तब यह वर्ग स्वतः के लिए वर्ग बन जाता है।

क्लास–इन–इटसेल्फ और क्लास–फार–इटसेल्फ :–मार्क्स के अनुसार 'क्लास–इन–इटसेल्फ' का तात्पर्य उन सभी सामाजिक वर्गों से है जिनका निर्धारण वस्तुनिष्ठ सत्यता के आधार पर किया जाता है। जैसे–सभी मजदूरों का भू–स्वामियों से बराबर का सम्बन्ध होता है। दूसरी तरफ, सभी भूस्वामियों का भूमि और मजदूरों से बराबर का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार, एक तरफ, मजदूर तथा दूसरी तरफ भूस्वामी दो भिन्न वर्गों को दर्शाते हैं। लेकिन मार्क्स के अनुसार ऐसे 'वर्ग' एक 'पूर्ण वर्ग' नहीं कहे जा सकते, ये केवल 'स्वतः में वर्ग' हैं। इनमें पूर्णता तब आती है जब ये 'स्वतः के लिए वर्ग' में परिवर्तित हो जाते हैं अर्थात् जब एक वर्ग के लोगों में उस वर्ग के प्रति एक चेतना जाग उठती है और उनके अन्दर एक अपनेपन का अहसास हो जाता है।

मार्क्स के अनुसार यह 'स्वतः में वर्ग' से 'स्वतः के लिए वर्ग' रूपी परिवर्तन ही श्रमिकों में जाग्रति लाती है जिससे उन्हें अपने ऊपर हो रहे अत्याचार का वास्तव में पता चलता है तथा वे क्रान्ति के लिए विवश हो जाते हैं।

दो मुख्य वर्गों का ध्रुवीकरण

यह निम्नलिखित रूप से होता है–

(1) मार्क्स कहते हैं कि अधिकाधिक मशीनों के प्रयोग से श्रमिकों में सजातीयता आती है। दूसरे शब्दों में, ये मशीन दक्ष, अर्द्ध दक्ष और अदक्ष श्रमिकों के बीच की विषमताओं को दूर

करते हुए उन्हें एक साथ काम करने पर विवश करते हैं क्योंकि इन मशीनों के प्रयोग हेतु किसी दक्षता या निपुणता की जरूरत नहीं होती।

(2) पूँजीपति अपने लाभ का सर्वाधिक भाग फैक्ट्रियों में लगाते हैं जिसका असीमित लाभ उन्हें ही मिलता है। इस बीच, हालांकि श्रमिकों के जीवन–स्तर में भी सुधार तो आता है तथापि धन के मामले में पूँजीपति और श्रमिक के बीच की खाई बढ़ती ही जाती है, इस प्रक्रिया को अकिंचनता कहते है।

(3) जैसे–जैसे पूँजीवाद बढ़ता है वैसे–वैसे प्रतियोगिता भी बढ़ती जाती है जिससे कम पूँजी वाले पूँजीपतियों की दशा खराब होती जाती है और अन्त में वे अपनी पूँजी की शक्ति खोकर श्रमिकों में आ मिलते हैं जिससे सम्पूर्ण पूँजी पर पूँजीपतियों का एकाधिकार हो जाता है।

ये तीन कारण जब एकत्रित होते हैं तो दो मुख्य वर्गों का ध्रुवीकरण होता है तथा श्रमिकों में अपने वर्ग के प्रति चेतना धीरे–धीरे पनपनी शुरू हो जाती है। चेतनारूपी आग को भड़काने के लिए एक सशक्त जागरूक नेता की आवश्यकता होती है। यह काम कम हैसियत वाले पूँजीपति करते हैं (जो पहले ही श्रमिकों में आ मिले होते हैं)। ये 'पेट्टी बुजफवा' श्रमिकों की चेतना पूर्ण रूप से जाग जाती है अर्थात् वे 'क्लास–फार–इटसेल्फ' में परिवर्तन हो जात हैं। यहीं क्रान्ति का बिगुल बजता है तथा श्रमिक पूँजीपतियों को उखाड़ फेंकते हैं जिससे पूँजीवाद का अन्त होता है ओर साम्यवाद की स्थापना। इस प्रकार वर्ग–संघर्ष हमेशा के लिए श्रमिकों द्वारा लाए गए क्रान्ति की आग में जल कर भस्म हो जाता है। इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करता है तथा आवश्यकता के अनुरूप पारिश्रमिक प्राप्त करता है।

9.3 मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धांत (Marx's Theory of Class Conflict)

प्रत्येक समाज में व्यक्तियों के हितों में परस्पर विरोध पाया जाता है अथवा समाज के विभिन्न वर्गो के हित परस्पर विरोधी होते है। मार्क्स इस संघर्ष का आधार, जोकि भिन्न हितों के कारण उत्पन्न होता है, उत्पादन के साधन मानता है। वर्ग संघर्ष को समझने के लिए पहले वर्ग की अवधारणा को समझना जरूरी है। वर्ग शब्द अंग्रेजी के शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जोकि लैटिन भाषा के शब्द 'Classis' से बना है जिसका अभिप्राय व्यक्तियों की श्रेणी (A division of the people) अथवा शस्त्रधारी समूह (A grpip called to arms) है। रोम में 578–534 ई0 पूर्व इस शब्द का प्रयोग रोमन समाज के विभिन्न वर्गों के लिए किया जाता था। रोम के एक राजा सर्वइस तुलीयस (Servius Tullius) ने सैनिकों को उनकी सम्पत्ति के आधार पर (अर्थात् अपने घोड़ों तथा शास्त्रों के आधार पर) पाँच वर्गों में विभाजित किया। इसके उपरान्त वर्ग शब्द का प्रयोग मानव समाज में व्यक्तियों की विभिन्न श्रेणियों के लिए किया जाता रहा है। परन्तु क्या व्यक्तियों का समूह मात्र वर्ग कहा जा सकता है? कुछ विद्वानों ने समाज में वर्गो के विभाजन का आधार बौद्धिक स्तर बताया है जबकि अन्य लोगों ने आय तथा सम्पत्ति के आधार पर इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है तथा अनत में वर्गों की समाज में स्थिति के आधार पर इन्हें समझने का प्रयास किया गया।

ये ऐसी चींजे है जिन का ज्ञान लिवी, एडम स्मिथ जैसे अनेक विद्वानों को था। मार्क्स का वर्ग ओर वर्ग संघर्ष के क्षेत्र में योगदान अग्रलिखित चार बातों में निहित है–

1. उन्होंने वर्ग के लक्षणों को निर्धारित करने का प्रयास किया।
2. उन्होंने वर्गों की उत्पत्ति का विश्लेषण प्रस्तुत किया।
3. उन्होंने यह दर्शाया कि किसी भी निश्चित समय में, एक वर्ग का हित उत्पादन शक्तियों के विकास के अनुरूप होता है। अतः वे इस नवीन विकास के अनुरूप नई सामाजिक संरचना के लिए उत्साहित और प्रयत्नशील होते है, जबकि अन्य वर्ग परम्परागत रूप से स्थापित संरचना को ही बनाए रखने का प्रयास करते है क्योंकि उनके हित उसी परम्परा में निहित है।
4. उनका विश्वास था कि सर्वहारा वर्ग सभी वर्गों में अन्तिम वर्ग है और इसकी मुक्ति इस बात की माँग करती है कि सभी वर्गों का उन्मूलन कर दिया जाये और एक वर्गविहीन व शासक–विहीन समाज की स्थापना की जाये।

कार्ल मार्क्स, एंजेल्स तथा लेनिन ने वर्ग संघर्ष की व्याख्या करने में भौतिकवाद को महत्वपूर्ण माना है तथा इनका कहना है कि वर्ग संघर्ष पूर्णतः राजनीतिक है। लेनिन के अनुसार वर्ग व्यक्तियों के वे बड़े समूह है जो इतिहास द्वारा निर्धारित सामाजिक उत्पादन की व्यवस्था की दृष्टि से, उत्पादन की दृष्टि से, संबंध की दृष्टि से, जोकि अधिकांशतः निश्चित तथा नियमित श्रम के सामाजिक संगठन में भूमिका की दृष्टि से तथा सामाजिक धन के हिस्से तथा उसे प्राप्त करने की दृष्टि से भिन्न–भिन्न स्थिति रखते हैं। लेनिन की इस परिभाषा में वर्गों का विभाजन प्रमुख रूप से उत्पादन से संबंध के आधार पर किया गया है।

सामाजिक वर्गों का आधार आर्थिक है परन्तु वे आर्थिक समूहों से कुछ अधिक है। सामाजिक वर्ग वैधानिक अथवा धार्मिक रूप में परिभाषित नहीं होते। कार्ल मार्क्स के अनुसार, ''सामाजिक वर्ग ऐतिहासिक परिवर्तन की इकाइयों तथा आर्थिक व्यवस्था द्वारा समाज में निर्मित श्रेणियाँ दोनों ही है। वास्तव में, केवल एक समान आर्थिक स्थिति वाले व्यक्तियों का समूह ही वर्ग नहीं है अपितु यह एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य अपने वर्ग के प्रति अथवा इसके चिह्नों के प्रति मानसिक चेतना रखते हैं तथा चेतना वर्ग की विभिन्न क्रियाओं में देखी जा सकती है। यद्यपि समाज में कितने वर्ग है इसके बार में समाजशास्त्रियों में सहमति नहीं है, फिर भी अधिकांश विद्वान उच्च वर्ग (समाज के अधिकांश स्रोतों के स्वामी), श्रमिक वर्ग (मुख्यतः औद्योगिक श्रमिक) तथा माध्यम वर्ग (अधिकांशतः सफेदपोश तथा व्यवसायों में लगे हुए व्यक्ति) के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

एक खास बात की ओर दशारा किया है, ''यह मार्क्स की ही विशेषता थी कि उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग वर्ग संघर्ष के बारे में लिखने में लगा दिया परन्तु उन्होंने कभी भी यह परिभाषित नहीं किया कि उनका 'वर्ग' से क्या तात्पर्य है। यह प्रश्न उन्होंने पूँजी के तृतीय खण्ड के अन्तिम अध्याय में उठाया परन्तु उसका उत्तर नहीं दिया।'' इस विषय पर विस्तृत विचार व्यक्त करने से पूर्व ही कार्ल मार्क्स की मृत्यु हो गई। उस अन्तिम का शीर्षक ही ''वर्ग'' था।

प्राचीन समाजो में वर्ग नहीं पाये जाते थे क्योंकि शोषण इत्यादि नहीं होता था। मार्क्सवादियों के अनुसार समाज में सर्वप्रथम वर्ग प्राचीन साम्यवादी युग के अन्तिम चरणों में विकसित हुए तथा प्राचीन रोम, मिस्त्र, बेबीलोनिया इत्यादि में इनके उदाहरण मिलते। आर्थिक दृष्टि से वर्ग का विकास अतिरिक्त उत्पादन के कारण हुआ जोकि बाद में निजी सम्पत्ति से जुड़ गया। कैदियों से जब दास युग में दासो की तरह काम लेना शुरू किया गया तो वर्ग की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त, ऋणग्रस्त व्यक्तियों को भी दास की तरह समझा जाता था। पशुपालन के कार्य में लगी जनजातियों का पृथक्करण, कृषि से हस्तदस्तकारी के

पृथक्करण, मानसिक तथा शारीरिक कार्य में अन्तर तथा आर्थिक असमानताओं के आधार पर समाज कुछ श्रेणियों में बँटता चला गया तथा सही श्रेणियाँ आज वर्ग कही जा सकती है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी आधुनिक समाज में तीन प्रमुख वर्ग पाये जाते हैं–केवल श्रम–शक्ति के मालिक (सर्वहारा), पूँजी के मालिक (पूँजीपति) एवं भू–स्वामी। इनमें पहले को मजदूरी मिलती है दूसरे को लाभ तथा तीसरे को भूमि का किराया। इन तीनों में दो ही वर्ग प्रमुख है–पूँजीपति और सर्वहारा क्योंकि भू–स्वामी को उसकी भूमि की क्षमता के अनुसार पहले ही किराया मिल जाता है।

कार्ल मार्क्स को श्रम–विभाजन के महत्व का पता था और उन्हें विभिन्न वृत्तियों जैसे शिक्षक, डाक्टर, वकील व इन्जीनियर आदि पर आधारित वर्गों का भी अहसास था। इन्हें मार्क्स ने मध्यम वर्ग में रखा है। इसमें छोटे पूँजीपति भी शामिल हैं परन्तु उनका कथन है कि ये तो अस्थायी वर्ग होता है। जब दो महान वर्गों में संघर्ष का समय आता है तो यह वर्ग या तो पूँजीपतियों के साथ या सर्वहारा के साथ मिल चुका होता है। वास्तव में, किसी वर्ग का उदय तो वर्ग चेतना से होता है एक वर्ग का जन्म वर्ग संघर्ष में होता है।

मार्क्स का वर्ग संघर्ष सिद्धांत इस प्रस्तावना पर आधारित है कि, ''सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।'' इस दृष्टिकोण के अनुसार जब से मानव समाज प्राचीन तथा अविभिन्नीकृत अवस्था में आगे बढ़ा है तभी से यह वर्गों में विभाजित रहा है जो अपने–अपने वर्ग हितों के लिए परस्पर संघर्ष करते रहे है। उदाहरण के लिए, पूँजीपति समाज में, पूँजीपतियों का केन्द्रीय बिन्दु–कारखाना–शोषण करने वाले (शोषक) तथा शोषित, श्रम को बेचने तथा खरीदने वाले वर्गों में प्रकार्यात्मक सहयोग के स्थान पर इन दोनों वर्गों में परस्पर विरोधाभाष पैदा करता है। मार्क्स के लिए वर्ग के हित तथा शक्ति के लिए संघर्ष सामाजिक तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया के मूल निर्णायक है।

मार्क्स के अनुसार आज तक का सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा स्वतन्त्र तथा दास, कुलीन तथा जनसाधारण, भूमिपति तथा अर्द्धदास, श्रेणीपति तथा वेतन पाने वाले, अत्याचारी और पीड़ित, एक–दूसरे के विरूद्ध खड़े रहे हैं। इन दोनों में कभी प्रत्यक्ष रूप में तो कभी अप्रत्यक्ष रूप में युद्ध तथा संघर्ष सदा चलता रहा है।

मार्क्स की व्याख्या इस बात पर केन्द्रित रहती है कि उत्पादन के साधन किस प्रकार व्यक्तियों के संबंधों तथा सापेक्षिक पदों को निर्धारित करते हैं। उनका कहना है कि असमान पहुँच सभी परिस्थितियों में सक्रिय वर्ग संघर्ष को उत्पन्न नहीं करती अपितु सामाजिक संरचना में विशिष्ट पद व्यक्तियों के सामाजिक अनुभवों के आधार पर अपने सामूहिक भाग्य को सुधारने के प्रयास की क्रियाओं द्वारा वर्ग चेतना विकसित कर देते हैं। इस प्रकार, वर्ग चेतना सामाजिक परिस्थितियों में उन व्यक्तियों के प्रकाशकरण द्वारा विकसित होती है जोकि विशेष सामाजिक पदों पर आसीन है। मार्क्स का कहना है कि, ''भिन्न व्यक्ति तभी वर्ग का निर्माण करते हैं जबकि उन्हें अन्य वर्ग के विरूद्ध सामान्य संघर्ष में जुट जाना पड़ता है अन्यथा वे प्रतियोगियों की तर एक–दूसरे के प्रति केवल बैर मात्र रखते हैं।''

शासक वर्ग के विचार ही उस वर्ग के प्रतिष्ठित और मान्य विचार होते हैं अर्थात् जो वर्ग समाज की भौतिक शक्ति का मालिक है वही समाज का बौद्धिक वर्ग भी होता है। वे अपने युग के विचारों से उत्पादन और वितरण का ाी नियमन करते हैं। उन विचारों के माध्यम से वे अपना पक्ष पोषण करते हैं तथा अपने अधिकारों का औचित्य सिद्ध करते हैं। परन्तु सर्वहारा का शोषण जब चरम सीमा पर होता है और उस वर्ग के अस्तित्व को ही खतरा नजर आता है, तब उसमें वर्ग चेतना मजबूत हो जाती है। शासकों के विचार की असारता तब उन्हें समझ आती हैं उत्पादन की नवीन शक्तियों के अनुरूप एक नई क्रान्तिकारी विचारधारा का जन्म हो जाता है। यह बिन्दु ही सर्वहारा के वर्ग के रूप में विकास का

परिचायक है। मार्क्स ने स्पष्ट लिखा है कि, ''एक विशेष काल में क्रान्तिकारी विचारों की विद्यमानता एक क्रान्तिकारी वर्ग की विद्यमानता की पूर्वमान्यता रखती है।''

वर्ग हित उपयोगितावादी संप्रदाय तथा शास्त्रीय ब्रिटिश राजनीति अर्थव्यवस्था के प्रतिपादकों द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत हितों से पूर्णतः भिन्न है। यह संभावना तभी वास्तविकता में बदल सकती है जबकि एक जैसे पदों पर नियुक्त व्यक्ति सामान्य संघर्ष में कूद पड़ते हैं तथा संचार का एक जाल विकसित हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप वे अपने सामान्य भाग्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं अर्थात् अपने आप में वर्ग अपने लिए वर्ग में बदल जाता है। इसी परिस्थिति में व्यक्ति एक संगठित वर्ग का निर्माण करते हैं। यद्यपि कुछ व्यक्तियों की उत्पादन की क्रिया के सन्दर्भ में एक जैसी स्थिति क्यों न हो वे वर्ग का निर्माण तभी करते है जबकि वे अन्य वर्गो के साथ संघर्ष के परिणामस्वरूप अपने हितों की समानता के बारे में जागरूक हो जाते है।

वर्ग संघर्ष जब अपने निर्णायक दौर में पहुँचता है तब शासक वर्ग का एक समूह उससे अलग होकर क्रान्तिकारी वर्ग के पक्ष में हो जाता है उस वर्ग के पक्ष में जिसके हाथों में उस भविष्य का समाज दिखाई देता है।

क्रान्ति द्वारा प्रत्येक उभरता हुआ नया वर्ग अपने से पिछले शासक वर्ग से अधिक विस्तुत आधार रखता है। साम्राज्यवाद में राज्य में ही शक्ति और वैभव केन्द्रि था, सामन्त युग में शक्ति और वैाव अधिक व्यक्तियों में वितरित हुआ, सामान्तवाद के विनाशकर्ता पूँजीवाद में शक्ति का आधार और भी अधिक व्यापक हो गया है।

मार्क्स की संघर्ष की धारणा उस समय की इंग्लैंड की परिस्थितियों पर आधारित है। उस समय इंग्लैंड के उत्पादन में भारी वृद्धि हो रही थी। पूँजीपति वर्ग दिन–प्रतिदिन धनी होता जा रहा था तथा श्रमिक वर्ग की निर्धनता निरन्तर बढ़ती जा रही थी। पूँजीपति श्रमिकों का शोषण पूरी तरह से कर रहे थे। इस प्रकार जब मार्क्स, जर्मनी तथा फ्रांस से निकाल दिये जाने के बाद इंग्लैंड आये तो उन्होंने वहाँ की पूँजीवादी व्यवस्था की प्राथमिक जानकारी प्राप्त की। पूँजीपतियों का राज सत्ता में पूर्ण प्रभुत्व था तथा वे धन के बल पर सरकार को अपने इशारों पर चलाकर श्रमिकों का बुरी तरह से शोषण कर रहे थे। इस शोषण को देखकर मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था के कट्टर शत्रु बन गये।

मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था में दो वर्गों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है–प्रथम, वह जोकि उत्पादन के साधनों का मालिक है अर्थात् पूँजीपति वर्ग तथा दूसरे, वह जो श्रम का मालिक है अथात् श्रमिक वर्ग। इन दोनें वर्गों के हित परस्पर विरोधी हैं क्योंकि पूँजीपति श्रमिकों का शोषण करके उनसे अधिक कार्य लेना चहाते हैं, जबकि श्रमिक वर्ग अपने कार्य का उचित वेतन चाहते हैं। इन दोनें वर्गों के हित परस्पर विरोधी होने के कारण कोई समझौता नहीं हो पाता। मार्क्स इस बात की आशा करता है कि पूँजीवादी व्यवस्था का विनाश करने के लिए सर्वहारा (श्रमिक) वर्ग क्रान्ति करेगा जिसमें सर्वहारा वर्ग को निश्चित रूप से विजय मिलेगी तथा एक नवीन समाज अर्थात् प्रारम्भिक समाजवाद तथा बाद में सामयवाद की स्थापना होगी। इस व्यवस्था में निजी सम्पत्ति समाप्त हो जायेगी। इस नवीन व्यवस्था में सम्पूर्ण सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार हो जायेगा तथा सम्पूर्ण जनता को समान अधिकार मिल जायेंगे और श्रमिकों का शोषण पूर्णतः समाप्त हो जायेगा। परन्तु इनके यह विचार आज तक फलीभूत नहीं हो पाये है।

वास्तव में, सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति होना एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है। पूँजीवादी समाज लाभ के लिए उत्पादन की शक्तियों का नित नया विकास करता जाता है, आविष्कार आदि होने से उत्पादन के ढंग में परिवर्तन होता है, इससे उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन हो जाता है। स्वयं पूँजीवादी व्यवस्था, इस प्रकार अपने विनाश की शक्तियों को जन्म देती है क्योंकि प्रगति की ओर हम कदम पूँजी को कुछ ही

हाथों में केन्द्रित करता जाता है। दूसरी ओर, सर्वहारा वर्ग एक स्थान बड़ी संख्या में केन्द्रित हो जाता है। प्रतियोगिता के कारण छोटे व्यापारी या उत्पादक बाजार से निकाल दिये जाते हैं तथा वे सर्वहारा वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं।

सर्वहारा क्रान्ति की सफलता सदा के लिए वर्गो का अन्त कर देगी क्योंकि अब तक जो भी आन्दोलन हुए वे अल्पसंख्यकों के द्वारा अल्पसंख्यकों के लिए ही किए गये आन्दोलन थे। सर्वहारा आन्दोलन ही बहुत विशाल बहुसंख्यकों के द्वारा बहुसंख्यकों के लिए किया गया आन्दोलन है। उनके पास रक्षा करने को कोई सम्पत्ति है ही नहीं। अतः उनका पहला कदम निजी सम्पत्ति के अधिकार का उन्मूलन ही होगा। इसलिए वर्गविहीन समाज की स्थापना इस सर्वहारावर्ग के द्वारा होगी, यह उनकी ऐतिहासिक नियति है।

मार्क्स ने वर्तमान समाज के इतिहास को वर्ग संघर्ष का इतिहास बताया है क्योंकि उसके अनुसार आदिम साम्यवाद के बाद से ही समाज के विभिन्न वर्गों में संघर्ष होता रहता है। यद्यपि सामाजिक विकास में संघर्ष की महत्वपूर्ण भूमिका है फिर भी मार्क्स के सिद्धांत में अनेक बातों का स्पष्टीकरण नहीं मिलता।

इस प्रकार मार्क्स ने बतलाया है कि संसार में अभी तक वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो गई है। वर्गों का अस्तित्व रहने के कारण ही अभी तक संसार अपने को संघर्षों से स्वतन्त्र नहीं कर सका है। जब तक वर्ग व्यवस्था रहेगी तब तक समाज में संघर्ष होता रहेगा। इतिहास के पृष्ठ इसीलिए वर्गों के आपसी संघर्ष का उल्लेख करते हैं। मार्क्स ने यह भी बताया कि आज संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँचने की ओर अग्रसर हो गया है। इसमें शोषित वर्ग (सर्वहारा) की वृद्धि होती जा रही है। इस वर्ग का असंतोष इसके मजबूत और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में अभिव्यक्त हो रहा है। इसी संगठन की मजबूती के साथ–साथ उसका पूँजीपति वर्ग से संघर्ष भी बढ़ गया है। अतः यह संघर्ष अपनी चरमसीमा पर क्रांति का रूप लेगा जिसमें समस्त पूँजीपति वर्ग की समाप्ति हो जायेगी एवं समस्त उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य हो जायेगा।

9.4 मार्क्स के वर्ग–संघर्ष के सिद्धांत की विशेषताएँ : (Characteristic of Marxian Theory of Class Conflict)

वर्ग संघर्ष की अपनी इस अवधारणा की भविष्यता पर मार्क्स ने व्यापक रूप से विचार किया है। आधुनिक भारतीय समाज के संदर्भ में यदि विचार किया जाय तो यह भविष्यता हमें सत्य प्रतीत होती है। मार्क्स के इस सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. आदिकालीन वर्ग संघर्ष :– मार्क्स ने लिखा है कि मानव समाज का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास रहा है। मानव समाज में आज दो ही वर्ग हैं–श्रमिक एवं पूँजीपति अर्थात् सर्वहारा व बुर्जुआ समस्त मानव इतिहास को वर्ग–संघर्ष का इतिहास बताने का यही अभिप्राय हुआ कि इतिहास में सामाजिक वर्गो में कभी भी सहयोग नहीं हुआ है। मार्क्स आगे लिखता है कि मानव समाज के इतिहास में सदा से वर्ग रहे हैं और उनमें सदा संघर्ष रहा है। आधुनिक युग में यह संघर्ष अपनी चरमसीमा में विकसित हो गया है।

2. आकस्मिक संघर्ष :– यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि मानव समाज में वर्ग–संघर्ष चला आ रहा है। लेकिन यह संघर्ष आकस्मिक एवं अस्थायी रूप से होता

रहा है, न कि निरन्तर। मानव का स्वभाव हमेशा से ही सहयोगी रहा है। अतः वह सहयोग करता आ रहा है। परन्तु यह सहयोग तब तक ही रहा जब तक कि उत्पादन के साधनों का नवीनीकरण नहीं हुआ। आज यह प्रक्रिया संचालित है। इसलिए वर्ग–संघर्ष प्रक्रिया भी गतिशील हो गई है।

3. वर्ग–संघर्ष का आधार आर्थिक :– मार्क्स के अनुसार संसार में वर्ग आर्थिक आधार पर ही बनते हैं एवं उनमें संघष्र का आधार भी आर्थिक ही होता है। आर्थिक कारण ही सभी संघर्षों का आधार है। प्रजातियों, धार्मिक समूहों, राष्ट्रीय समूहों आदि में पाये जाने वाले संघर्षों की व्याख्या करने में मार्क्स का सिद्धांत आर्थिक संबंधों पर जोर देता है। मार्क्स के अनुसार इन वर्गों का आधार भी आर्थिक है एवं इनमें पाये जाने वाले संघर्षों की व्याख्या भी आर्थिक आधार पर की जा सकती है।

4. द्वन्द्वात्मक परिस्थितियाँ :– मार्क्स के अनुसार संसार में केवल विरोधी वर्ग ही पाये जाते हैं। लेकिन इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। मानव समाज में कई प्रकार के वर्गों का भी आज निर्माण हो रहा है। स्वार्थो के टकराव से इनमें संघर्ष होता है। समाज की प्रगति के साथ–साथ इन वर्गों का विकास होता जायेगा। नवीन अनुसंधानों से भी वर्गों का निम्रण होता है।

5. क्रांति के द्वारा सामाजिक उद्–विकास :– मार्क्स का कथन है कि मानव समाज में परिवर्तन एवं उसमें विकास हमेशा वर्गों के संघर्षों एवं क्रान्तियों द्वारा हुआ है। क्रान्ति के बिना समाज का विकास एवं उन्नति नहीं हो सकती। आज तक जो विकास एवं उन्नति मानव कर पाया है उसका आकरण आपसी घृणा, संघर्ष एवं क्रानित है। हिंसा, संघर्ष एवं क्रांति तो मानव समाज की सामान्य क्रियाएँ है। ये विनाश एवं पतन का कारण बनती है न कि विकास एवं उन्नति का। उन्नति तो निरंतर परिवर्तन एवं संगठन से ही संभव है। इनके बिना मनुष्य के लिए प्रकृति पर विजय पाना उद्योग एवं सैनिक कला में प्रगति करना संभव नहीं होता। यह सभी इस बात से संभव हुआ है कि विनाशात्मक संघर्ष के इस शोरगुल से सत्य के कुछ विचारकों एवं इच्छुकों ने अपनी प्रयोगशाला में एवं अध्ययन में शांतिपूर्वक कार्य किया।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव ने आज जो प्रगति की है, उसके कारण अन्वेषणों को जारी रखना है। यदि संसार के वैज्ञानिक भी इस विनाशात्मक संघर्ष में लग जाते तो आज हम उन्नति के इस शिखर पर नहीं पहुँच सकते थे अतः यह कहा जा सकता है कि संघर्ष सामाजिक विकास एवं उन्नति का सहायक नहीं बल्कि बाधक एवं कभी–कभी विनााक ही है। यही मार्क्स के विचारों की आलोचना का प्रमुख आधार है।

उपरोक्त विशलेषण से स्पष्ट है कि मार्क्स का दर्शन पूर्णतया अवैज्ञानिक एवं अमौलिक है। जो कुछ मार्क्स ने लिखा है कि वह केवल इस क्षेत्र में प्रारम्भिक लेखकों के काय्र की पुनरावृत्ति मात्र है। अन्तर केवल इतना ही है कि मार्क्स ने उन्हीं व्याख्याओं को अतिश्योक्तिपूर्ण रूप से प्रस्तुत कर दिया है।

9.5 अलगाव की अवधारणा : (Concept of Alienation)

'अलगाव' अंग्रजी शब्द Alienation से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है–'स्व' से विरक्ति अर्थात "Self-estrangement"।

अर्थात् अलगांव को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है–''व्यक्ति की एक ऐसी मानसिक अवस्था, जिसमें वह स्वयं से अपना लगाव खो देता है अथवा जैविकीय आवश्यकताओं का अचेतन प्रत्युत्तर देने लगता है, अलगाव कहलाता है।

अलगाव के विषय पर मार्क्स से पूर्व भी अनेक विद्वानों ने अपने विचार दिए है, जिसमें प्रमुख हैं–हीगल, एरिच फ्रॉक, डेविड निज़मैन, थॉमस हॉब्स आदि

हीगल के अनुसार जब व्यक्ति परमात्मा या 'सर्वोच्च शक्ति' में लीन हो जाता है तो उसकी 'स्व' से जुड़ाव या लगाव स्वतः समाप्त हो जाता है, जिसे अलगाव कहते हैं।

डेविड रिज़मैन ने अपनी पुस्तक ''The Lonely Crowd'' में जटिल समाजों के एकांकीपन से जुड़ी हुई विसंगतियों को स्पष्ट करते हुए लिखा कि जटिल समाजों में व्यक्तिवादिता इतनी अधिक है कि किसी के सुख–दुख से किसी को कोई सरोकार नहीं है। इसी कारण व्यक्ति अपने आप से भी सरोकार खो देता है, जिसे हम 'अलगाव' कहते है।

थॉमस हॉब्स के अनुसार कोई ऐसी शासन व्यवस्था जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करता है तथा उसको अपने जीवन को अपने अनुसार जीने की अनुमति नहीं देता, उनमें 'अलगाव' की भावना जन्म ले लेती है।

मार्क्स ने उपरोक्त सभी सिद्धांतों को अवैज्ञानिक एवं अतार्किक कहकर अस्वीकार किया। मार्क्स के अनुसार 'अलगाव' सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में रहा है परन्तु औद्योगिक पूंजीवादी समाज में अलगाव अपने चरम पर है, जिसके दो प्रमुख कारण हैं–

(1) श्रम का अवस्तुकरण
(2) वस्तु पर अनियन्त्रण

मनुष्य स्वभाव से सृजनशील प्राणी है। वह अपने श्रम से वस्तु का सृजन करता है। मार्क्स इसे 'श्रम का वस्तुकरण' कहते हैं। औद्योगिक समाज में व्यक्ति काम तो करता है परन्तु सृजन नहीं करता जिसे मार्क्स ने 'श्रम का अवस्तुकरण' कहा। मार्क्स के अनुसार मनुष्य से सृजन का काय्र मशीनों ने ले लिया है। आज का व्यक्ति अपने श्रम से पेट भरता है, सृजन नहीं करता फलस्वरूप उत्पादन की प्रक्रिया से अलगाव महसूस करता है।

औद्योगिक पूर्व समाज में व्यक्ति जो भी सृजित करता था, उस पर उसका पूर्ण नियंत्रण होता था। वह अपनी इच्छा से उसका उपभोग, विनिमय या वितरण करता था परन्तु औद्योगिक समाज में उत्पादन लाभ या बाजार के लिए होता है इसलिए श्रमिक का वस्तु पर कोई नियंत्रण नही होता इसलिए उसे 'उत्पाद से अलगाव' हो जाता है।

औद्योगिक पूंजीवादी समाज अत्यन्त प्रतिस्पर्धी है। सहकर्मी पदोन्नति के लिए आपस में षड़यन्त्र करते हैं, जिससे वे एक–दूसरे के प्रति–मातृभाव महसूस नहीं करते, जिसके कारण 'सहकर्मियों से अलगांव' हो जाता है।

इस प्रकार अततः अलगाव के विभिन्न चरणों से गुजरते हुए व्यक्ति का 'स्व' से अलगाव हो जाता है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार औद्योगिक पूंजीवादी समाजों में 'अलगाव' चारण चरणों में होता है–

1. उत्पादन की प्रक्रिया से
2. उत्पाद से
3. सहकर्मियों से
4. 'स्व' से

इस प्रकार, मार्क्स ने निष्कर्ष निकला कि 'अलगाव' का स्रोत या कारण पूंजीवादी औद्योगिक समाज है, जिसमें मशीनीकरण लाभ, प्रतिस्पर्धी काग्र की प्रणाली, शोषण आदि जैसे कारक व्यक्ति में 'अलगाव' के कारण हैं तथा इसका अन्त भी पूंजीवादी समाज के विनाश में ही निहित है।

1. मैक्स वेबर मानते हैं कि सृजनहीनता एवं अलगाव में सम्बन्ध है परन्तु इनके अनुसार क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति नियमों से बँधा है इसलिए उसकी सृजनशीलता समाप्त हो जाती है।

2. सी0डब्यू0 मिल्स ने सर्वाधिक अलगाव सेवा क्षेत्र में देखा जहाँ गुणवत्तापूर्ण वस्तुओं का स्थान गुणवत्तपूर्ण व्यक्तियों ने ले लिया है। यही कारण है कि व्यक्ति अपने मानवीय गुणों से दूर हो गया है, जिससे उसमें 'अलगाव' आता है।

3. Herbert Marcuse मार्क्स से सहमत हैं कि सृजनहीनता, अलगाव का कारण है परन्तु इनके अनुसार अलगाव श्रमिकों में ही नहीं, पूंजीपतियों में भी आएगा क्योंकि वे भी कोई सृजनशील कार्य नहीं करते।

4. Robert Blumer ने 'U' वक्र से मशीन तथा अलगांव के बीच सम्बन्ध स्पष्ट किया। इनके अनुसार 'अलगाव' वहाँ अधिक है, जिन उद्योगो में मशीनीकरण अधिक है जबकि कुटीर उद्योगों, हथकरघा उद्योगों आदि में 'अलगाव' कम पाया जाता है।

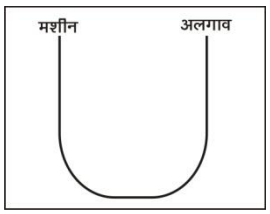

5. Melurin M-Seemen मार्क्स से सहमत नहीं है। इनके अनुसार 'अलगाव' एक आत्मगत प्रक्रिया है जो 5 कारणों से हो सकती है–

1. शक्तिहीनता (Powerlessness)
2. अर्थहीनता (Meaninglessness)
3. प्रतिमानहीनता (Normlessness)
4. पृथकता (Isolation)

5. 'स्व' से पृथकता (Self-Estrangement)

'अलगाव' एक सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो किसी भी समाज में देखा जा सकता है। मार्क्स से पूर्व भी अनेक विद्वानों ने अलगांव को अपने–अपने दृष्टिाकेण से समझने का प्रयत्न किया, जिसमें आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मार्क्स से पूर्व लगभग सभी विद्वानों ने 'अलगाव' को एक व्यक्तिगत अवधारणा माना।

उसके पश्चात् से ही अनेक अध्ययन एवं शोध किए गए, जिसमें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष, अंशतः तथा पूर्णता यह स्वीकार किया गया कि सृजनहीनता से अलगाव का सम्बन्ध होता है।

9.6 अलगाव का अर्थ व परिभाषा (Meaning of Alianation & Defination)

अलगाव का शाब्दिक अर्थ है 'अलग होना'। मार्क्स का अलगाव की अवधारणा से तात्पर्य ऐसे सामाजिक संरचना से हे जिसमें उत्पादन के साधनों से उत्पादक वंचित रह जाता है तथा जिसमें 'निर्जीव श्रम' (पूँजी) का 'जीवित श्रम' (श्रमिक) पर प्रभुत्व होता है।

मार्क्सवादी अर्थ में अलगाव एक ऐसी क्रिया है, जिसके माध्यम से एक व्यक्ति, एक समूह, एक संसाी अथवा एक समाज निम्न के प्रति अलगाव दर्शाता है–

(अ) अपने कार्यो के परिणाम अथवा उत्पादों के प्रति।

(ब) वातावरण के प्रति

(स) अन्य व्यक्तियों के प्रति

(द) स्वयं के प्रति

जब किसी व्यक्ति द्वारा कोई उत्पादन किया जाता है अथवा किसी वस्तु का नव–निर्माण किया जाता है तो वह अपने इस सृजन–कार्य की प्रशंसा सुनना चाहता है क्योंकि अपने उत्पादन में वह अपने आप को देखता है तथा अपने आप को आत्मसात् पाता है। यह एक सामान्य सी मानव प्रवृत्ति है। पूँजीवादी समाज में श्रमिक अपनी ही उत्पादित वस्तु के इस्तेमाल से वंचित तो होता ही है, ऊपर से अपनी इस कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रशंसा से भी दूर कर दिया जाता है, जिससे उसके अन्दर एक प्रकार का परिष्कार, एक प्रकार की हीन भावना घर करने लगती है और वह अलग–थलग रहने लगता है तथा भीतर ही भीतर खोखला होने लगता है। एक श्रमिक के लिए वस्तु का अलग रूप धारण कर लेना और भी गहरा हो जाता है जब कारखानों में उत्पादन प्रक्रिया अलग–अलग हिस्सों में बांट दी जाती है। इन कारणों से व्यक्ति न केवल पुरे परिवार या समाज के प्रति अलगाव महसूस करने लगता है वरन् वह स्वयं के प्रति भी अलगाव की भावना से ग्रस्त हो जाता है।

श्रमिकों के अलगाव में धर्म की भी एक मुख्य भूमिका हैं एम0 हरलम्बोस लिखते हैं–''धर्म मनुष्यों के अलगाव का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य धर्म का निर्माता है न कि धर्म मनुष्य का निर्माता है। फिर भी लोग इस बात को भूल जाते हैं और भगवान को एक स्वतंत्र सत्ता सौंप देते हैं; एक ऐसी सत्ता जिससे उनके क्रिया कलापों का निर्देशन होता है तथा जिससे उनके भागय का निर्धारण किया जाता है। मनुष्य जितना ही इस विश्वास की गहराई में उतरता है उतना ही अधिक नुकसान उठाता है। अन्त में एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य अपनी शक्तियाँ भगवान को समर्पित करके खुद से अलगाव हो

जाता है। इस प्रकार, धर्म एक बाह्य बल के रूप में मनुष्य के भाग्य को नियंत्रित करता हुआ प्रतीत होता है जबकि वास्तव में यह धर्म मानव–निर्मित ही है।

मार्क्स का उद्देश्य अलगाव की मात्र आलोचना करना नहीं है। उनका उद्देश्य एक आमूल क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करना तथा एक ऐसे साम्यवाद को स्थापित करना है जिसे ''व्यक्ति के स्वयं को ओर वापस आने की प्रक्रिया के पुनः एकीकरण या आत्म–अलगाव की विजय'' के रूप में समझा जाय मार्क्स के मत में, केवल निजी सम्पत्ति समाप्त करने से आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का अलगाव दूर नहीं हो सकता। पूँजीवादी उतपादन में अलगाव के कुछ तत्वों की जड़ उत्पादन के साधनों की प्रकृति में तथा इससे सम्बन्धित सामाजिक श्रम के विभाजन में होती है। इसी कारण केवल उत्पादन के प्रबंधन में परिवर्तन से अलगाव दूर नहीं होता है बल्कि उत्पादन की पूरी प्रक्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन ही अलगाव रूपी इस समस्या का समाधान है।

मानवतावादी विचारक कार्ल मार्क्स ने पूंजीवादी समाज के आलोचना के विश्लेषण के क्रम में श्रमिकों के अमानवीय दशाओं के चित्रण करने हेतु अलगाव की अवधारणा को प्रस्तुत किया है और इसे (अलगाव को) एक ऐसी सामाजिक–मनोवैज्ञानिक दशा या स्थिति के रूप में परिभाषित किया है जहां व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन के मूलभूत पक्षों, से यहां तक की स्वयं से कटा हुआ महसूस करता है।

मार्क्स के अनुसार 'कार्य से मनुष्य की वैयक्तिकता, मानवता और मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने का महत्वपूर्ण साधन है जिसके माध्यम से वह न केवल अपनी सृजनात्मक शक्ति का इस्तेमाल करके संतुष्टि पाता है बल्कि सामाजिक आवश्यकताओं को भी पूरा करता है। अतः कार्य केवल व्यक्तिगत कार्य नहीं बल्कि सामाजिक कार्य भी है और कार्य का यही रूप व्यक्ति एवं उसके काय्र के बीच संबंधों का आदर्श रूप है। परन्तु निजी संपत्ति उद्भव के साथ ही मनुष्य और उसके बीच का कार्य का यह आदर्श संबंध समाप्त हो गया है जिसकी चरम परिणति पूंजीवादी व्यवस्थाओं में दृष्टिगत होती है। पूंजीवादी समाज में काय्र की दशाऐं ऐसी होती है कि व्यक्ति का अपने कार्य से अलगाव हो जाता है। चूंकि काय्र एक सामाजिक तथ्य है, अतः कार्य से अपने आप को समाज से भी अलग–थलग कर देता है। इस प्रकार से अपने सहकर्मियों से और अंततः स्वयं से अलगावित हो जाता है।

मार्क्स ने पूंजीवादी समाज के अंतर्गत इस अलगाव के चार स्वरूपों की पहचान की है–

1. सर्वप्रथम, मनुष्य अपने उत्पादन तथा उत्पादन प्रक्रिया से अलगावित हो जाता है क्योंकि यहाँ उसका कार्य उसको रचनात्मक कार्य का संतोष नहीं दे पाता है।
2. दूसरे, वह प्रकृति से भी अलगावित हो जाता है, क्योंकि मशीनों पर काय्र करने के कारण उसका प्रकृति से संबंध टूट जाता है और वह प्रकृति का आनंद नहीं ले पाता।
3. तीसरे, तीव्र प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति उसे अपने सहचरों से अलगावित कर देती है।
4. अंततः वह अपने आप से पराया हो जाता है। विवशता उसके जीवन का प्रमुख पक्ष बन जाती है और संस्कृति, कला, साहित्य के प्रति कोई उसकी अभिरूचि नहीं रह जाती।

मार्क्स ने श्रमिकों की इस अलगाव की स्थिति के लिए पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में निहित जटिल श्रम विभाजन एवं उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को उत्तरदायी बताया है क्योंकि इस व्यवस्था में श्रमिक का उत्पादन संबंधी निर्णय प्रक्रिया पर कोई नियंत्रण नहीं होता है। श्रमिक से यह नहीं पूछा जाता है कि क्या उत्पादन करना है एवं कैसे उत्पादन करना है। इस प्रणाली में उसकी रूचि को भी ध्यान में नहीं रखा जाता है।

उसे किसी कार्य का केवल एक भाग करना होता है फलतः वह किसी कार्य को पूर्णतया नहीं कर पाता है। इस प्रकार वह कार्य का पूर्णतया आनन्द नहीं ले पाता और अपनी सृजनात्मकता का उपयोग नहीं

कर पाता है। उसे अपने द्वारा किये गये कार्य का पूरा लाभ नहीं मिल पाता है क्यांकि पूंजीपतियों द्वज्ञरा अतिरिक्त मूल्य का शोषण कर लिया जाता है।

अधिक समय तक (लगभग 12–16 घंटे) उसे मशीनों पर बंधा–बंधाया काम करना पड़ता है। फलतः वह मशीन का पुर्जा बनकर रह जाता है। यहां इतनी अधिक प्रतिस्पर्धा होती है कि एक का लाभ दूसरे की हानि बन जाताहै और कार्य का सामुदायिक पक्ष समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में उत्पादन का कार्य (श्रम) भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन न होकर स्वयं में साध्य हो जाता है और व्यक्ति अपनी सृजनात्मक की अभिव्यक्ति हेतु न करके केवल अपनी आजीविका हेतु करता है। फलतः उसे कार्य से पूर्ण संतुष्टि नहीं मिल पाती और उसका अपने कार्य से लगाव समाप्त हो जाता है।

मार्क्स अलगाव की इस स्थिति को मानव समाज का अस्थायी लक्षण मानते हुए इस बात की भविष्यवाणी करता है कि जब श्रमिक अपने अलगाव के कारणों के बारे में जागरूक (वर्ग चेतना का विकास) हो जाएगा तब वह सामूहिक क्रांति (साम्यवादी क्रांति) द्वारा इस पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करेगा, जहां उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व होगा और प्रत्येक व्यक्ति को पअनी रूचि के अनुसार सभी कार्य करेगा क्येांकि यहां जटिल श्रम–विभाजन का अभाव होगा। फलतः यहां अलगाव की समाप्ति होगी और कार्य के साथ व्यक्ति का आदर्श संबंध स्थापित हो जाएगा।

9.7 अलगाव का सिद्धांत : (Theory of Alienation)

अलगाव की अवधारणा आज समाजशास्त्री अवधारणाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यद्यपि यह एक प्राचीन आवधारणा है फिर भी इस पर सर्वाधिक वाद–विवाद पूंजीवादी समाजों के सन्दर्भ में ही हुआ है। पिछले कुछ दशकों में आधुनिक समाजों में विकसित संकट, जिसे रीजमैन ने 'एकांकी भीड़' कहा है अथवा जिसे होमन्स ने 'व्यक्तियो का धूल भरा ढेर जिसमें एक–दूसरे से सम्पर्क का अभाव होता है' कहा है, के कारण अलगाव की अवधारणा समाजशास्त्र की केन्द्रीय अवधारणा बन गयी है। हीगल के अनुसार अलगाव व्यक्ति में मुख्यतः सत्य या ईश्वर से विरक्ति के कारण होता है। व्यक्ति भौतिकता से विमुख होकर अंततः स्वयं से भी विरक्त हो जाता है। मार्क्स ने मानवता के इतिहास को वर्ग संघर्ष के इतिहास के साथ–साथ व्यक्ति में अलगाव के बढ़ने का इतिहास भी कहा है। इसी प्रकार के विचार ऐरिक केहलर ने भी व्यक्त किये हैं।

अलगाव शब्द का प्रयोग प्रथमतः लागल या भ्रान्तिचित्त व्यक्ति के लिए किया जाता रहा है। इस शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी शब्द 'Alienado' से हुई है जिनका अर्थ इन भाषाओं में पूर्णतः परकीकृत (स्व से विरक्ति) व्यक्ति है। पिछली शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग 'पागलपन की दशा' के लिए न करके अपने प्रति विरह अथवा पृथक भाव के लिए यिका जाने लगा है। यह वह स्थिति है जिसमें मनुष्य अपने भविष्य के प्रति अनिश्चित और असहाय हो जाता है, उसमें मान्य साधनों व लक्ष्यों के प्रति अनिश्चितता आ जाती है, प्रचलित मान्यताओं व मूल्यें से

आज इस शब्द का प्रयोग अपने लिए परायेपन (अजनबी) की स्थिति के लिए किया जाने लगा है। यह वस्तुतः समाज के प्रति विरक्ति, उदासीनता या विरोध की भावना है जो अन्ततः अपने प्रति लगाव कम करती है।

अतः प्रथमतः अलगाव शब्द का प्रयोग पागलपन की अवस्था के लिए यिका जाता था परन्तु आजकल इस शब्द का प्रयोग चिन्ताग्रस्त मनोदशाओं अथवा असंतुलित मनोदशाओं व प्रवृत्तियों के लिए किया जाता है जो कि व्यक्ति को समाज से, पर्यावरण से तथा स्वयं अपने से उदासीन बना देती है। व्यक्ति अकेला, बेसहारा तथा असुरक्षित महसूस करने लगता है तथा सामाजिक संबंधों के जाल से अपने आपको पृथक् करने का प्रयास करते हैं।

आधुनिक समाजों में अलगाव के बढ़ जाने के कारण सामाजिक वैज्ञानिक निरन्तर इस अवधारणा का अध्ययन कर रहे हैं। इस अवधारणा का प्रयोग प्रमुखतः हीगल, मार्क्स, मिल, वेबर, सिमेल इत्यादि विद्वानों ने किया परन्तु बाद में रीजमैन तथा फॉम ने भी इस अवधारणा को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। समाजशास्त्रीय अन्वेषण में एक शक्तिशाली विश्लेषणात्मक यन्त्र के रूप में इस अवधारणा को प्रयोग करने का श्रेय कार्ल मार्क्स को ही दिया जाता है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार, ''अलगाव व्यक्ति की वह दशा है जिसमें उसके अपने कार्य पराई शक्ति बन जाते हैं, जो कि उसके द्वारा शासित न होकर उससे ऊँची परन्तु उसी के विरूद्ध होती है।''

कार्ल मार्क्स के अनुसार यह पूंजीवादी व्यवस्था की एक विशेषता है जिसमें उत्पादन की प्रक्रिया पर व्यक्ति का नियन्त्रण लुप्त हो जाता है। वह उत्पादन के प्रति, प्रकृति के प्रति, अपने साथियों के प्रति और अन्ततः अपने आप से अजनबी हो जाता है। उसे अपने साहित्य, कला और समाज की सांस्कृतिक विरासत से कोई लगाव नहीं रह जाता। उसके जीवन का ध्येय केवल पेट भरना मात्र रह जाता है। मार्क्स के अनुसार मानवता का इतिहास केवल वर्ग संघर्ष का इतिहास नहीं है अपितु यह बढ़ते हुए अलगाव का भी इतिहास है।

मार्क्स अलगाव से संबंधित इन पूर्ववर्ती धारणाओं की आलोचना करते हैं तथा अलगाव का प्रत्यक्ष संबंध उत्पादन की प्रणाली से जोड़ते है मार्क्स के अनुसार वैसे तो प्रत्येक युग में अलगाव अस्तित्व में रहा है परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में यह अपने चरम पर है। उन्होंने अपनी रचना (Fetisim of Commodation and Money) में अलगाव की विस्तृत व्याख्या की है।

मार्क्स ने अलगाव के दो करण बताए :–

1. (Deobjectification of Labour) श्रम का अवस्तुकरण तथा,
2. (Exploitation of Labour) श्रमिकों का शोषण

मार्क्स ने अलगाव को चार चरणों में देखा :–

3. उत्पादन की प्रक्रिया से – श्रम के अवस्तुकरण के कारण
4. उत्पाद से – शोषण के कारण

5. सहकर्मियों से – प्रतिस्पर्धा के कारण
6. स्वयं से – समेकित कारणों से

मार्क्स के अनुसार श्रम एक सामाजिक क्रिया है। व्यक्ति की संतुष्टि उसकी सृजनशीलता में होती है क्योंकि श्रम या तो समाज के लिए करता है या समूह के साथ करता है।

जैसे पूँजीवादी व्यवस्था से पूर्व एक जूता बनाने वाला मोची, चमड़ा स्वयं काटता है। डिजाइन बनाता है जूते का निर्माण करता है। तथा उसे अन्तिम रूप देता है। इस प्रकार वह जूता उसके श्रम का वस्तुकरण है जो उसे निर्माण को संतुष्टि देता है, परन्तु किसी के रम का वस्तुकरण नहीं हो पता क्योंकि कुछ लोग मात्र चमड़े लोग कार्य करते हैं। परन्तु किसी के श्रम का वस्तुकरण नहीं हो पता क्योंकि कुछ लोग मात्र चमड़े में छेद करते हैं, कुछ लेस लगाते हैं कुछ पेस्टिंग करते हैं, आदि। फलस्वरूप उनकी सृजनशीलता कभी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। फलस्वरूप श्रमिक कभी उत्पादन की प्रक्रिया से नहीं जुड़ पाता क्योंकि उत्पादन की प्रक्रिया को वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र मानता है। इस प्रकार वह उत्पादन की प्रक्रिया से सदैव अलग रहता है।

पूंजीवादी समाज से पूर्व चाहे वह वस्तु कितनी भी महान या विशाल क्यों न हो वह व्यक्ति के नियंत्रण से परे नहीं थी। मनुष्य का उस पर नियंत्रण था। परन्तु पूंजीवादी समाज में अत्यधिक मशीनीकरण एवं लाभ की प्रवृत्ति के कारण श्रमिक का शोषण होता जा रहा है। मशीन श्रमिक से अधिक महत्वपूर्ण है और जिस उत्पाद को श्रमिक ने बनाया है उसी उत्पाद से लाभ कमाकर पूंजीपति श्रमिकों का शोषण करता है। फलस्वरूप श्रमिक का उत्पाद से भी अलगाव हो जाता है।

मार्क्स ने अलगाव का तीसरा कारण सहकर्मियों से देखा। पूंजीवादी समाज से पूर्व श्रम एक सामूहिक प्रक्रिया थी क्योंकि प्रतिस्पर्धा नहीं थी। पूंजीवादी समाज ने प्रोन्नति के सीमित अवसर देकर सहकर्मियों में सहयोग की जगह, षड़यंत्र, अविश्वास को जन्म दिया। फलस्वरूप सहकर्मी एक–दूसरे पर अविश्वास करते हैं उपरोक्त तीनों कारणों का समेकित प्रभाव स्व से विरक्ति (अलगाव) में देखा।

मार्क्स के अनुसार अन्तिम चरण का अलगाव ही अलगाव की चरम अवस्था हैं। जिसमें व्यक्ति मात्र जीवन तो जीता है परन्तु उसका कोइ्र अर्थ नहीं ढूंढ पाता। मशीन के साथ काम करते–करते वह मशीन की तरह ही प्रतिक्रियाएँ देने लगता है। उसकी अपनी संवेदना, भावबोध, जीवन के प्रति उत्साह, आस–पास के प्रति भिन्नता समाप्त हो जाती है। जिसे दर्शन में कहा जाता है, ''ऐसा जीवन जीने वाला व्यक्ति अपने जीवन का मात्र दिन जी पाता है।

अलगाव की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैः–

1. यह व्यक्ति की असन्तुलित मनोदशा है। इसमें व्यक्ति समाज, पर्यावरण तथा कई बार स्वयं अपने प्रति उदासीन हो जाता है। वह अकेला, बेसहारा व असुरक्षित महसूस करने

लगता है।

2. इसमें व्यक्ति के कार्य उसके लिए पराई शक्ति बन जाते हैं। वह अपनी ही बनाई हुई वस्तुओं का दास बन जाता है।
3. अलगाव की दशा में व्यक्ति एकता का अभाव महसूस करता है। इसे सामाजिक व सांस्कृतिक सहभागिता के अपवर्जन (बहिष्कार) के रूप में देखा जा सकता है।
4. इसमें व्यक्ति अपने सामाजिक संबंधों से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता है। वह पृथकता की दशा में रहना चाहता है।
5. अलगाव की दशा में व्यक्ति अपने आप को शक्ति अनुभव करता है।
6. अलगाव की दशा अर्थहीनता से जुड़ी हुई है। इसमें व्यक्ति सामाजिक घटनाओं के संदर्भ में अपने आप को प्रभावहीन मानता है तथा सोचता है कि उसका निर्णय कोई अर्थ नहीं रखता। इसीलिए उसका अपने प्रति लगाव भी कम हो जाता है।
7. अलगाव की दशा में व्यक्ति आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्थापित व मान्य साधनों का अनुपालन नहीं करता। इसीलिए इस दशा को नियमहीनता की स्थिति भी कहा जाता है।

9.8 अलगाव से संबंधित अन्य विचार : (Other ideas related to Alienation)

1. वेबर के अनुसार अलगाव नौकरशाही में विकसित होता क्योंकि इस व्यवस्था में नियमों एवं कानूनों पर अत्यधिक बल दिये जाने के कारण अधिकारियों की सृजनशीलता कम हो जागएी। वह मात्र नियमों का गुलाम बन कर रह जाएगा। फलस्वरूप उसमें अलगाव की भावना जन्म ले लेगी।
2. सी0डब्यू0 मिल्स के अनुसार अलगाव की सर्वाधिक भावना सेवा क्षेत्रकों में पायी जाती है क्योंकि क्षमतावान वस्तुओं का स्थान क्षमतावान व्यक्तियों ने ले लिया है।

अर्थात् अब वस्तु नहीं व्यकित बिकता है और उसे भी अपने व्यवहार को वस्तुओं की तरह करना पड़ता है। जैसेः–होटल उद्योग, एयर–होस्टेस, फ्रंट ऑफिस कर्मचारी, कॉल सेंटर आदि उद्योगों में अलगाव की भावना देखी जा सकती है।

3. मेल्विन सीमैन के अनुसार अलगावं के पांच कारण होते हैं। सीमेल ने अलगाव को आत्मगत प्रक्रिया माना।

(क) प्रतिमानहीनता – जब समाज में मूल्य प्रमिान टूट जाते हैं।
(ख) शक्तिहीनता – जब व्यक्ति किसी को प्रभावित नहीं कर पाता।
(ग) अर्थहीनता – व्यक्ति के जीवन का कोई अर्थ नहीं होता।
(घ) पृथक्करण – व्यक्ति के जीवन का काई अर्थ नहीं होता।
(ड़) स्वअलगांव – व्यक्ति का मन उच्ट जाना। जैसे देवदास।

रॉबर्ट ब्लूमर के अनुसार इंग्लैंड के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उन्होंने मशीनीकरण का प्रत्यक्ष संबंध अलगाव से देखा तथा उसे 'यू वक्र' से समझाने का प्रयत्न किया।

अर्थात् जितना मशीन

का उपयोग होता,

इतना ही अलगाव होगा।

इन्होंने कुटीर उद्योंगो, हथकरघा उद्योंगो में बड़े उद्योगों की अपेक्षा कम अलगाव की भावना देखी, इससे मार्क्स के सिद्धांत को बल मिलता है।

हर्बर्ट मारक्यूज के अनुसार अलगाव की भावना पूँजीवादी व्यवस्था में मात्र श्रमिकों में नहीं आएगी बल्कि विलासी वर्ग या पूँजीपतियों में भी आएगी। क्योंकि उनकी भी सृजनशीलता को अभिव्यक्ति नहीं मिलेगी। एरिकफॉर्म के अनुसार उत्पादन की प्रणाली से प्रत्यक्ष संबंध अलगाव का है। जहाँ भी सृजनहीनता या शोषण अस्तित्व में होगा अलगाव की भावना पाई जाएगी। इन्होंने भी मार्क्स का समर्थन किया।

विस्तृत अलगाव किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज में पाया जाता रहा है। जिसके कारण व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों रहे हैं। समय, स्थान एवं व्यक्ति पर अलगाव की मात्रा या प्रभाव निर्भर करता है। मार्क्स ने मात्र उत्पादन की प्रणाली से इसे जोड़कर संकुचित किया है। मार्क्स का सिद्धांत गौतम बुद्ध, महावीर, देवदास जैसे व्यक्तियों के अलगाव का वर्णन नहीं कर पाता परन्तु उत्पादन के साधन से जिस प्रकार मार्क्स ने अलगाव को जोड़ा वह पूर्ववर्ती सिद्धांतों से अधिक तार्किक, वस्तुनिष्ठ एवं कार्य–कारण संबंधों पर आधारित है।

इस सिद्धांत की समकालीन परिपेक्ष में विवेचना करें तो स्पष्ट है कि औद्योगिक समाजों में वस्तुनिष्ठ शोषण समाप्त हुआ है। परन्तु सृजनहीनता के कारण अलगाव पर्याप्त मात्रा में देखे जा सकते हैं। अरमैती बोस ने गुड़गांव एवं दिल्ली के कॉल सेंटर कार्मियों का अध्ययन किया तथा सृजनशीलता के अभाव में अलगाव देखा।

ऐसा नहीं है कि औद्योगिक समाजों में ही अलगाव पाये जाते हैं। शोषण या सृजनहीनता के कारण ही अलगाव हो सकता है। किसी स्थान पर कोई एक विशेष कारक अधिक प्रभावी होता है। अलगाव समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। जिसे मनोवृत्ति एवं परिस्थिति दोनों से जोड़कर देखा जाना चाहिए।

मार्क्स के वर्ग संघर्ष की तरह अलगाव पर विचार भी समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वास्तव में, अलगाव की प्रवृत्ति बढ़ जाने के कारण सामाजिक वैज्ञानिक निरन्तर इस अवधारणा का अध्ययन कर रहे हैं। यद्यपि मार्क्स से पहले अलगाव की अवधारणा का प्रयोग जर्मनी के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री हीगल ने किया था, परन्तु मार्क्स ने भौतिक जगत के संबंध में अलगाव की धारणा प्रस्तुत करके समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कार्ल मार्क्स के अनुसार अलगाव व्यक्ति की वह दशा है जिसमें उसके अपने कार्य पराई

शक्ति बन जाते हैं जोकि उसके द्वारा शासित न होकर उससे (व्यक्ति से) ऊँची परन्तु उसी के विरूद्ध होती है।

9.9 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ पायेगे कार्ल मार्क्स ने दार्शनिक आधार विरूद्ध रूप से भौतिक है। मार्क्स विचारों से पहले भौतिक पदार्थ ही उत्पत्ति को मानते है। उनके अनुसार ''अनुष्य की चेतना उसे अस्तित्व को निर्धारित नही करती बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निर्धारित करता है।'' मार्क्स भौतिक उन्नति और उतपादन पर जोर देते हुए रोटी कपड़ा और मकान को मनुष्य का एक मात्र ध्यैय मानते है वर्ग संघर्ष किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। सामाजिक जीवन मे वर्ग संघर्ष की भाँति ही वर्ण सहयोग के अनेक उदाहरण पाये जाते है। समाज मे केवल दो वर्ण पाये जाते है, पूंजीपति एवं श्रमिक वर्ग। मार्क्स ने समाज में अलगांव की बात भी कही है। मैक्स बेवर ने अलगाव के लिए नौकरशाही को जिम्मेदार बताया है जिसमे मनुष्य की स्वामिक्ता का दमन है, फलस्वरूप मनुष्य के अन्दर अलगाव की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। मार्क्स ने अलग–अलग कार्ल में अलग वर्मी का वर्णन किया है।

9.10 शब्दावली : (Glossary)

(1) वर्ग संघर्ष :– ऐसे व्यक्तियों के समूहों में हिंसात्मक विरोध को वर्ग संघर्ष माना जाता है जो न्यूनाधिक मात्रा मे स्थाई रूप से सम्बन्धित होते है तथा जिन्हे सार्वजनिक रूप से उनके प्रभिक्षण सुविधाओं से अलग–अलग आता जाता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष अपरिहार्य मतभेद को प्रकट करता है जो अधिकांश समाजों के आर्थिक संगठनों के स्वरूप के कारण उत्पन्न होता है।

(2) अलगाव :– इसका सर्वप्रथम प्रयोग प्रसिद्ध दाशर्निक हीगल की कृतियों मे देखने को मिलता है। अलगाव आत्म विमुखता की एक ऐसी भावना है जिसकी उत्पत्ति अपने कार्य की भूमिका को अर्थहीनता तथा स्वयं की शक्तिहीनता की धारणा मे होती है।

9.11 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर : (Answer Questions of Practice)

1. ''दास कैपिटल'' कृति किसकी है?

(क) मैक्स बेवर (ख कार्ल मार्क्स

(ग) ईमाइल दुर्खीम (घ) अगस्ट कोंट

उत्तर – ब

2. कार्ल मार्क्स ने क्रांति का मूल कारण माना है–

(क) उच्च वर्ग का शोषण

(ख) निर्धनता

(ग) सामाजिक अव्यवस्था के विरूद्ध प्रमुख लोगे का नेतृत्व

(घ) उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन सम्बंधो के बीच असामंजस्य

उत्तर – घ

3. सामाजिक परिवर्तन मे आर्थिक निर्धारणवाद की अवधारणा किस विद्वान ने दी है?

(क) एडम स्मिथ (ख) कार्ल मार्क्स (ग) आगर्वन (घ) सोरोकिन

उत्तर – ख

4. कार्ल मार्क्स ने आधुनिक युग के किन वर्गो में बाटा है–

(क) पूंजीवादी (ख) श्रमिक वर्ग

(ग) 'क' व 'ख' दोनो (घ) इनमे से कोई नही

उत्तर –ग

5. अलगाव का सर्वप्रथम प्रयोग किस समाजशास्त्री ने किया?

(क) हीगल (ख) कार्ल मार्क्स (ग) मर्तन (घ) पारमन्स

उत्तर – क

6. अलगाव से तात्पर्य है?

(क) आत्म विमुखता (ख) आत्म समोहता

(ग) आत्म मुख्ता (घ) इनमे से कोई नही

उत्तर – क

7. द सेन सोसाइटी पुस्तक है?

(क) एरिक फ्राम (ख) मैक्स बेवर (ग) मर्टन (घ) पारसन्स

उत्तर – क

9.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. **लेविस ए0 कोजर (1956)** : मास्टर ऑफ सोशियोलोजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
2. **रेमण्ड ऐरो (1967)** : मेन करेंटस इन सोशियोलोजिकल थॉट्स वाल्यूम–2, पेंगुन बुक्स, लन्दन।

9.13 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. **हरिकृष्ण रावत (2011)** : सामाजिक चिंतक एवं सिद्धांतकार, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

9.14 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष से आप क्या समझते है?
- ✓ कार्ल मार्क्स की वर्ग वैमनस्यता की धारणा को समझाइये।
- ✓ पूंजीवादी उत्पादन रीति और वर्ग संघर्ष के बारे में कार्ल मार्क्स का विश्लेषण समझाइये।
- ✓ कार्ल मार्क्स के अलगाव के सिद्धांत को समझाइये।
- ✓ कार्ल मार्क्स के अलगाव अन्यय समाजशास्त्रियों से कैसे अलग है।
- ✓ अलगाव क्या है?

इकाई–10 : नवमार्क्सवाद की अवधारणा : डेहरनडार्फ एवं क्रोजर (Neo Marxism Concept : Dharendorf & Coser)

इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य
10.2 प्रस्तावना
10.3 नवमार्क्सवाद की अवधारणा
10.3.1 राल्फ डेहरेनडार्फ का सैद्धातिक उपागम
10.3.2 राल्फ डेहरेन्डार्फ का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धांत
10.3.3 राल्फ डेहरेन्डार्फ की समाज की कल्पना
10.4 लेविस कोजर का संघर्ष सिद्धांत
10.4.1 लेविस कोजर का सामाजिक संगठन की कल्पना
10.4.2 लेविस कोजर के सामाजिक संघर्ष का उदगम और उसके प्रकार
10.5 सारांश
10.6 शब्दावली
10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.10 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :–

- नवमार्क्सवाद के सिद्धांत को समझ जायेगे?
- डेहरेन्डार्फ के सत्ता के संघर्ष के सिद्धांत को समझ पायेगे?
- डेहरेनडार्फ के सामाजिक संगठन के उपागम को समझ पायेगे?
- डेहरेन्डार्फ के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को समझ पायेगे?
- लेविस कोजर के संघर्ष सिद्धांत को समझ सकते है?
- लेविस कोजर का सामाजिक संगठन के सिद्धांत को समझ सकते है?
- लेविस कोजर के सामाजिक संघर्ष के सिद्धांत एवं उद्गम के प्रकारो को समझ सकते है?

10.2 प्रस्तावना : (Introduction)

डेहरेनडार्फ ने मार्क्स के वर्ग संघर्ष वाद को नकारा है और इनकी गिनती नवमार्क्सवादी के रूप मे की जाती है। जैसे–डेहरेनडार्क व कोजर है। कार्ल मार्क्स जहाँ समाज में संघर्ष के लिये आर्थिक संसाधनो को उत्तरदायी मानते है।

जबकि डेहरेनडार्क में समाज में संघर्ष के कारणो में सत्ता को मुख्य रूप से उत्तरदायी माना है। समाज में सम्बन्धो के लिए सत्ता उत्तरदायी होती है इसके लिये इन्होंने अपना सैद्धातिक उपागम का निष्कर्ष किया है एवं डेहरेन्डार्फ ने सत्ता के आधार पर समाज की कल्पना का उपागम निर्मित किया है।

लेविस कोजर भी नवमार्क्सवादीयों मे गिने जाते है। ये संघर्ष को एक तरह से प्रकार्यवाद के रूप मे जानने के लिए जाने जाते है इन्होंने संघर्ष के दो प्रकारो का वर्णन किया है जो इनही कारणो के आधार पर सामाजिक संगठन की कल्पना की है।

10.3 नवमार्क्सवाद की अवधारणा : (Concept of Neo-Marxism)

कार्ल मार्क्स जहाँ समाज की संरचना आर्थिक संसाधनो के आधार पर बनाते है एवं कार्ल मार्क्स से पहले हीगल ने समाज की संरचना विचारो पर आधारित होती है परन्तु नवमार्क्सवादी ने हीगल एवं कार्ल मार्क्स को नकार दिया और अपना अलग–अलग विचार रखा है।

परम्परागत मार्क्सवाद को नवीन दिशा देने के लिऐ नवमार्क्सवाद विकसित हुआ जो समाज के वर्गीय चरित्र को तो स्वीकार करता है लेकिन वर्ग संघर्ष को नही। नवमार्क्सवाद मे सर्वप्रथम नाम डेहरेनडार्फ एवं कोजर का नाम प्रमुख है। डेहरेनडार्फ संघर्ष का कारण सत्ता को माना है इनमार्क्सवादी माना जाता है।

वर्तमान में समाजशास्त्र में दो विचारधाराएँ मुख्य हैं एक सन्तुलकारी जिसे संरचनात्मक–प्रक्रियात्मक विचारधारा भी कहते हैं और दूसरी, संघर्षवादी विचारधारा जिसे रेडिकल या आमूल–चल परिवर्तनवादी विचारधारा भी कहते हैं। पोलिविपस इनके अनुसार पशुओं की भाँति मनुष्यों में भी झुण्ड में रहने एवं संषर्घ करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। शासक वर्ग जब बिल्कुल ही अन्यायी और अत्याचारी हो जाता है तो शासित वर्ग उसे संघर्ष के द्वारा निमूर्ल करने हेतु संगठित होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संघर्ष से सम्बन्धित सिद्धान्त का क्रम बहुत पुराना है। लेकिन डार्विन की उद्विकासीय सोच के पश्चात् हरबर्ट स्पेन्सर ने उसे एक वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप जीवित रहने के लिए संघर्ष का सिद्धांत जिसका आधार प्राणिशास्त्रीय है, उभरकर सामने आया।

19वीं शाताब्दी में जिन संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया उनमें हीगल का दार्शनिक सिद्धान्त एवं कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

संघर्ष की परिभाषाएँ : (Defination of Conflict)

- गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, ''संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति या समूह अपने उद्देश्य की प्राप्ति अपने विरोधी को हिंसा की धमकी देकर करते हैं।''
- ग्रनी के अनुसार, ''संघर्ष दूसरे या दूसरों की इच्छा के विरूद्ध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को कहते हैं।''
- ''प्रतियोगिता सदेव नैतिक नियमों से बँधी रहती है जबकि संघर्ष में ऐसी कोई विशेषता नहीं होती।''
- मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''सामाजिक संघर्ष में ही सब क्रियाएँ सम्मिलित हैं, जिनके द्वारा मनुष्य किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक–दूसरे के विरूद्ध कार्य करते हैं।''
- डेविस के अनुसार, ''प्रतिस्पर्द्धा के परिवर्तित रूप को संघर्ष कहा है।''
- मूले के अनुसार, ''संघर्ष और सहयोग पृथक तत्व नहीं हैं बल्कि वह एक ही प्रक्रिया के विभिन्न चरण हैं जिनमें दोनों तत्वों का बराबर समावेश होता है।''

मार्क्स के एक प्रशंसक राल्फ डेहरेन्डॉफ जो कि मार्क्स से बहुत प्रभावित थे, ने अपने ग्रन्थ 'क्लास एंड क्लास कान्फ्लिक्ट इन इंडस्ट्रियल सोसायटी' में मार्क्स की क्रान्ति से सम्बन्धित भविष्यवाणी को झुठलाते हुए बताया कि ऐसा समाज में कभी भी संभव नहीं है। डेहरेनडॉर्फ ने कहा कि 'पूँजीवादी समाज' के काद का समाज पूँजीवादोत्तर समाज' होगा जिसमें निम्नलिखित गुण पाये जायेंगे–

(i) **पूँजी का पृथक्करण** :– पहले पूँजी पर कुछ विशेष लोगों का अधिकार था लेकिन इस समाज में पूँजी का बंटवारा हो जायेगा अर्थात् पूँजी के हिस्सेदार हो जाएंगे जिससे कुछ विशेष लोगों का एकाधिकार समाप्त हो जायेगा तथा निचले स्तर से कई लोग उठकर ऊपर जायेंगे।

(ii) **श्रम का विभेदीकरण** :– कार्यों के वृहद् विशिष्टीकरण की फलस्वरूप श्रम का विभेदीकरण हो जायेगा। एक ही फैक्ट्री में श्रम के भिन्न–भिन्न आयाम देखने को मिलेंगे। इस प्रकार श्रमिकों के एकीकरण का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

(iii) **मध्यम वर्गों का विकास** :– अधिक गतिशीलता के कारण समाज में कई मध्यम वर्ग विकसित हो जायेंगे। श्रमिक संघ ओर ऐसी कई एजेन्सियों के चलते श्रमिकों के जीवन–स्तर में काफी सुधार आ जाएगा। विवादों के निपटारे के लिए विभिन्न संस्थाओं का निर्माण होगा। अतः यदि कोई व्यक्ति या समूह हड़ताल पर जाना चाहो तो वह वैधानिक माना जाएगा और उसको पूरा संरक्षण देते हुए उसकी बात सुनी जाएगी और उचित फैसला किया जाएगा।

इस प्रकार डेहरेनडॉर्फ ने समाज को सत्ता के आधार पर दो वर्गों में विभक्त किया है–

(i) सत्ताधारी अर्थात् जिनके पास सत्ता है और जो अल्पसंख्यक है।

(ii) सत्ताविहीन अर्थात् जिनके पास सत्ता नहीं है और जो बहुसंख्यक हैं।

इन दो वर्गों में विवाद चलता रहता है लेकिन मार्क्स की अवधारणा से परे इनमें विवाद गुप्त रूप से ही होता है।

डेहरेनडॉर्फ का संघर्ष सिद्धान्त मूलतः सत्ता के सम्बन्धों पर आधारित सत्ता संरचना जो प्रत्येक सामाजिक संगठन का अभिन्न भाग होती है, अनिवार्य रूप से स्वार्थ समूह को संगठित करती है और उन्हें निश्चित स्वरूप प्रदान करते है और इस रूप में संघर्ष की सम्भावनाओं को जन्म देती है। वास्तव में समाजिक सत्ता का बटँवारा समान नहीं होता इसलिए संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार डेहरेनडॉर्फ का संघर्ष सिद्धान्त मूलभूत रूप से शक्ति और सत्ता के सिद्धान्त पर आधारित है। डेहरेनडॉर्फ ने शक्ति की असमानता को ही संघर्ष का कारण माना है। डेहरेनडॉर्फ ने मार्क्स

के वर्ग–संघर्ष सिद्धान्त की आलोचना की है। डेहरेनडॉर्फ ने भी संघर्ष को समन्वयकारी तथा संरचनात्मक प्रकार्यत्मक दृष्टि से देखा है।

डेहरेनडॉफ समकालीन समाजशास्त्र में दो प्रकार के सिद्धान्तों में भेद करते है–

(i) समाज के समाजीकरण का सिद्धान्त इस सिद्धान्त को संरचनात्मक प्रकार्यवादी के समरूप माना जाता है।

(ii) समाज के बल प्रमेय का सिद्धान्त यह सिद्धान्त संघर्ष से सम्बन्धित।

डेहरेनडॉफ का संघर्ष सिद्धान्त जबरदस्ती के सिद्धान्त पर आधारित है। डेहरनेडॉर्फ ने संक्षेप में अपने सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

(i) किसी भी आदेशसूचक समन्वित समाज के लोगों में वास्तविक समाज के बारे में जितनी अधिक चेतना होगी उतनी ही अधिक उनकी संघर्ष करने की सम्भावना होगी।

(ii) जितनी आर्थिक तकनीकी राजनैतिक और सामाजिक दशाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति संगठन में होगी उतना ही संघर्ष अधिक तीव्र होगा।

(iii) अधि–कोटि और अधीनस्थ समूहो में जितनी कम गतिशीलता होगी संघर्ष उतना ही तीव्र होगा।

(iv) संघर्ष जितना अधिक गहरा, सघन और हिंसात्मक होगा, उतना ही अधिक सामाजिक परिवर्तन होगा।

राल्फ डेहरेन्डॉफ लेविस कोजर और रेन्डाल कोलिन्स विश्लेषणात्मक संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं की कोटि के समाजशास्त्री हैं। क्योंकि इन तीनों विचारकों का मत है कि संघर्ष सिद्धानत एक वैज्ञानिक समाजशास्त्र के विकास में केन्द्रीय संदर्श है। इतना होते हुये भी ये तीनों विचारक विवेचनात्मक सिद्धान्तवेत्ताओं से भिन्न है। पहला कारण तो यह है कि विवेचनात्मक सिद्धान्तवेत्ता समाज विज्ञान को तात्विक रूप से राजनीति गतिविधि का एक हिस्सा मानते हैं और इस बात को अस्वीकार करते हैं कि तथ्यों और मूल्यों को समाज विज्ञान से पृथक किया जाना चाहिये।

10.3.1 रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ का सैद्धान्तिक उपागम
(Ralf Dahrendorf's Theoretical Approach)

टर्नर ने डेहरेन्डॉफ के सिद्धान्त का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धान्त का नाम दिया है। द्वन्द्वात्मक इसलिये कि किसी भी समाज में दो समूहों में संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। एक समूह वह है जिसके पास अधिकतम शक्ति होती है और दूसरा समूह वह है जिसके पास न्यूनतम शक्ति होती है। किसी भी समूह के हितों की पूर्ति शक्ति से होती है। इसी कारण विभिन्न समूहों में शक्ति के पूनर्बटवारे के लिये संघर्ष चलता रहता है। रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ के अनुसार यह संघर्ष अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिये होता है।

रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ का तर्क था कि समाज के दो चेहरे हैं, एक, सर्वसम्मत और दूसरा, संघर्ष। उनका कहना है कि समाज के सदस्यों पर बराबर दबाव रहता है, संघर्ष होता है और परिवर्तन की दिशायें खुली रहती है। इस तरह सैद्धान्तिक रूप से जहां पारसंस समाज को सर्वसम्मत, एकीकृत और स्थैतिक मानते हैं, वहीं रॉल्फ डेहरेंन्डॉर्फ समाज को तनाव, संघर्ष और परिवर्तन के रूप में देखते हैं।

संघर्ष सिद्धांतकारो का यह विचार था कि एक तरफा प्रकार्यवादी सिद्धांत का विकल्प, एकतरफा संघर्ष सिद्धान्त से देना चाहिये। यह विकल्प भी डेहरेनडॉफ को पूरी तरह स्वीकार नहीं था। उनका तो एकमात्र यही कहना है कि संघर्ष सिद्धान्त प्रकार्यात्मक सिद्धान्त की कमियों, अभावों का पूरक है।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में हमें समाज के उजले चेहरे के साथ–साथ भद्दे चेहरे को भी देखना चाहिये। सर्वसम्मति और संघर्ष दोनों ही समाज के सिक्के के दो पहलू हैं।

सिद्धांत निर्माण के क्षेत्र में डेहरन्डॉर्फ ने मार्क्स को नकारा नहीं है। बाद में चलकर हम देखेंगे कि डेहरेन्डॉफ का संघर्ष सिद्धान्त मार्क्स के संघर्ष सिद्धानत के विश्लेषण को अन्तर्दृष्टि देता है। मार्क्स ही क्यों, डेहरेन्डॉर्फ ने थोड़ा बहुत वेबर से भी उधार लिया है। डेहरेन्डॉर्फ द्वारा प्रयुक्त शक्ति और सत्ता की अवधारणाऐं वस्तुतः वेबर से ली है।

वास्तव में, न डेहरेन्डॉर्फ का द्वन्द्वात्मक सिद्धांत शक्ति पर आधारित है। इसी कारण वे सामाजिक यथार्थता का विश्लेषण शक्ति के संदर्भ में करते हैं। उनका तर्क है कि प्रत्येक समाज की एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति संघर्ष की होती है। वे समूह जिनके पास शक्ति है अपने हितों की पूर्ति करते हैं और वे समूह जिनके पास शक्ति नहीं है वे भी अपने हितों की पूर्ति के लिये भाग–दौड़ करते हैं। इस भाग–दौड़ या संघर्ष में जिनके पास अधिकतम शक्ति है वे अपनी यथास्थिति बनाये रखने में सफल होते है। लेकिन देर–सबेर ऐसा अवसर भी आता है जब न्यूनतम शक्ति वाला समूह शक्तिशाली समूह को उसके खंदक में गिरा देता है और सामाजिक परिवर्तन के रथ के पहिये, डेहरेन्डॉर्फ के अनुसार आगे बढ़ते रहते हैं। संघर्ष की कोख में ही सामाजिक परिवर्तन के बीच रहते हैं। इसी कारण डेहरेन्डॉर्फ मानते हैं कि मानव इतिहास में संघर्ष एक बहुत बड़ी सृजनात्मक शक्ति है।

10.3.2 राल्फ डेहरेन्डॉर्फ का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धान्त

(Ralf Dahrendorf Dialectical Conflict Theroy)

राल्फ डेहरेन्डॉफ का जन्म जर्मनी में 1929 में हुआ था। यूरोप के आधुनिक समाजशास्त्रियों में डेहरेन्डॉर्फ की प्रतिष्ठा बहुत अच्छी है। जिन्हें यूरोप ही नहीं उत्तरी अमेरिका में भी आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उनका युवाकाल राजनीति के घेरे में कटा। वे पश्चिमी जर्मनी में वहां की पार्लियामेन्ट के सदस्य भी रहे। इन राजनैतिक गतिविधियों से हटकर उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा एक शिक्षाविद्, वैज्ञानिक और अनुसंधानकर्ता के रूप में भी स्थापित की है। उनके शैक्षणिक जीवन का बहुत बड़ा भाग जर्मनी के विश्वविद्यालयों में बीता। 1984 में वे कान्सटेंस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन गये थे। जर्मनी के अतिरिक्त डेहरेन्डॉर्फ ने अन्य देश ब्रिटेन व अमेरिका में भी काम किया है।

रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ को प्रतिष्ठा दिलाने वाली उनकी पुस्तक ''क्लास एण्ड क्लास कन्फिलट इन इण्डस्ट्रीयल सोसायटी'' है। इस पुस्तक में उन्होंने संघर्ष सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। संघर्ष सिद्धान्त के बारे में डेहरेन्डॉफ के दो बहुत बड़े सरोकार जुड़े है। पहला तो यह कि उन्होंने समाज की यथार्थता के विश्लेषण के बारे में समान्य सिद्धान्त बताये। इस सामाजिक विश्लेषण में उनका बहुत बड़ा तर्क यह है कि समाज में शक्ति का बहुत बड़ा महत्व है। इस शक्ति से उत्पन्न संघर्ष को कोई नहीं टाल सकता; संघर्ष अपरिहार्य है। दूसरा, मार्क्स की तरह के एक बुनियादी प्रश्न रखते हैं कि संघर्ष को निश्चित करने वाले कौन–कौन से कारक हैं? इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि समाज में कुछ ऐसी संस्थाऐं हैं जो व्यवस्थित रूप से ऐसे मूह को पैदा करती है जिनके हित या स्वार्थ संघर्ष की अवस्था को बढ़ाते हैं। अपने निजी या जातीय हितों वाले ये समूह बराबर इस बात के लिये संघर्ष करते हैं कि शक्ति का फिर से बंटवारा होना चाहिये। शक्ति किसी एक समूह की बपौती नहीं है कि वह समूह को उसकी यथास्थिति बनाये रखने में बराबर योगदान करती रहे। यह स्मरणीय है कि डेहरेन्डॉर्फ ने अपने संघर्ष सिद्धान्त को यूरोप और अमेरिका

के औद्योगिक समाजों के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। मार्क्स के लेखन के समय यूरोप में पूंजीवाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। तब कारखानों के मालिक सामान्यताया पूंजीपति थे। डेहरेन्डॉर्फ जिस औद्योगिक समाज की कल्पना करते हैं उसमें पूंजीवाद का स्वरूप कोरपोरेट व्यवस्था पर आधारित है। अब निजी स्वामित्व का स्थान शेयर होल्डर्स और कोरपोरेट समूह ले लेते हैं। इस तरह मार्क्स और डेहरेन्डॉर्फ दोनों ही पूंजीवादी व्यवस्था पर प्रहार करते हैं, पर दोनों के लिये पूंजीवादी व्यवस्था भिन्न है।

10.3.3 रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ की समाज की कल्पना :

(Society in the imagination of Ralf Dhrindorf)

आधुनिक समाज के बारे में रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ के कुछ निश्चित विचार हैं–एक कल्पना है। लेकिन यह कल्पना ठोस आधारों पर अवस्थित है। समाज में कई संस्थागत ढांचे हैं, यथा परिवार जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राजनैतिक दल और आर्थिक समूह। इन संस्थागत ढांचों में एकाधिक सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य की कई भूमिकाएँ होती है। वास्तव में परिवार में माता की भूमिका निश्चित है–वह गृह कार्य करती है, बच्चों का पालन पोषण करती है और ऐसी ही अनेक भूमिकाएँ निभाती है। पिता और बच्चों की भी अपनी–अपनी परिवार जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राजनैतिक दल और आर्थिक समूह। इन संस्थागत ढांचों में एकाधिक सदस्य होते हैं। प्रतयेक सदस्य की गई भूमिकाएं होती है। वास्त्व में परिवार में माता की भूमिका निश्चित है–वह गृह कार्य करती है, बच्चों का पालन पोषण करती है और ऐसी ही अनेक भूमिकाएँ निभाती है। पिता और बच्चों की भी अपनी–अपनी भूमिकाएँ है। यदि हम इस दृष्टि को आगे बढ़ायें तो धार्मिक सम्प्रदायों, राजनैतिक दलों, ग्रामीण विकास, आर्थिक समूहों आदि में सदस्यों की भूमिकाएं निश्चित होती हैं। ये संस्थायें और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण समाज सदस्येां की इन भूमिकाओं को वैधता देते हैं। वैधता का एक कारण और भी है कि प्रत्येक संस्था में कुछ निश्चित शक्ति होती है। इन्हीं सब तत्वों के आधार पर सामाजिक व्यवस्था चलती है। समाज की इस कल्पना को रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ अवधारणात्मक रूप में रखते है।

रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ कहते है कि समाज में कुछ प्रक्रियाएँ होती है, जो इन संस्थाओं को उनकी निरन्तरता को बांधी रखती है। इसे वे संस्था का रूप देना कहते हैं और इसकी प्रक्रियाओं में कुछ आदेशसूचक प्रक्रियाऐं होती है जिन्हें समन्वित करके समाज का ढांचा बनाया जाता है। इसे रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ आदेश सूचक समन्वित समाज या आसस कहते हैं। आखिर, डेहरेन्डॉफ के अनुसार सामाजिक व्यवस्था है क्या? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे आदेश सूचक यानि कुछ ऐसे दबाव डालने वाले मानवक व मूल्य हैं जिन्हें समन्वित करके ही समाज बनता है। वास्त्व में, समाज या संसाी के सदस्य जो भी भूमिका अदा करते हैं उसके पीछे समाज का आदेश है और इन भूमिकाओं का ताल–मेल ही आसस (ICA) को बनाता है। दूसरे शब्दों में आसस और कुछ न होकर संस्था के विभिन्न सदस्यों की एक गठरी मात्र है।

सदस्यों की ये भूमिकाएं ही वस्तुतः शक्ति सम्बन्ध हैं। इस दृष्टि से समाज की किसी भी छोटी से छोटी इकाई से लेकर, छोटे समूह और औपचारिक संगठन आसस कहलायेंगे। ''आसस'' की यह अवधारणा केवल विश्लेषण के लिये है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि संस्था में सदस्यों की भूमिकाएं शक्ति से बंधी हुई है और इसलिये वे कभी भी समान नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक भूमिका के साथ जो शक्ति है उसका बंटवारा असमान है। बात यह है कि शक्ति हमेशा अपर्याप्त होती है और उसे पाने के लिये कई दावेदार दौड़ में हाते हैं। कुछ ऐसे जैसे एक अनार और सौ बीमार।

उनका कहना है कि सामाजिक संरचना का निर्धारण शक्ति के बंटवारे से होता है। वेबर ने इसकी परिभाषा में लिखा है कि किसी भी सामाजिक समूह में कर्ता दूसरों के विरोध के होते रहते भी अपनी

इच्छाओं को पूरी कर लेता है। इस तरह की परिभाषा में महत्वपूर्ण तथ्य है कि कि जब किसी भूमिका के साथ में शक्ति जुड़ी हुई होती है तो ऐसी सम्भावना है कि समाज इसे वैधता देगा। इस भूमिका को समाज स्वीकृत करता है, मान्यता देता है। यदि कोई जिलाधीश दंगाग्रस्त किसी शहर या कस्बे में कर्फ्यू लगाता है तो उसके इस भूमिका की वैधता कानून सम्मत हैं और यदि लोग कर्फ्यू का पालन नहीं करते तो जिलाधीश उन्हें जेल भी, यानि दण्ड भी दे सकता है। शक्ति तब तक शक्ति है जब तक उसकी समूह द्वारा वैधता है।

शक्ति में जब वैधता आ जाती है, तब उसे वेबर और डेहरेन्डॉर्फ दोनों ही सत्ता मानते हैं। तात्विक रूप से शक्ति में प्रभाव होता है। इस प्रभाव को मानना न मानना संस्था या समाज के सदस्यों में प्रभाव होता है। इस प्रभाव को मानना न मानना संस्था या समाज के सदस्यों पर निर्भर है। जब यह शक्ति किसी व्यक्ति या समूह को विधिवत संस्था से प्राप्त होती है तो यह प्राधिकार का रूप ग्रहण कर लेती है। विश्वविद्यालय में किसी विद्यार्थी को प्रवेश देना, नहीं देना, निष्कासित करना, ये सारे प्राधिकार कुलपति को हैं। उन्हें यह शक्ति विश्वविद्यालय के अधिनियम से प्राप्त है और इसलिये यह उनका प्राधिकार है, और समाज इसे वैधता भी देता है।

अब हम डेहरेन्डॉर्फ के द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धानत को सहज रूप में रख सकते हैं। डेहरेन्डॉर्फ सामाजिक व्यवस्था की कल्पना एक ऐसे ढांचे के रूप में करते हैं जिसे विभिन्न प्रकार के प्राधिकार सम्बन्धों द्वारा एक समूत्र में बांधे रखा जाता है।

प्रत्येक संस्था की भूमिकाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है, एक सत्ताधारी भूमिका समूह और दूसरा शासित भूमिका समूह। अब होता यह है कि वह समूह जो सत्तारूढ़ है, जिसके पास अधिक मात्रा में प्राधिकार हैं उसकी बराबर यही कोशिश होती है कि यथास्थिति बनी रहे। दूसरी और भूमिकाओं का वह समूह जो शासित है, बराबर इस बात के लिये जूझता रहता है कि संस्था की सम्पूर्ण शक्ति या प्राधिकार का नये सिरे से वितरण होना चाहिये। धीरे–धीरे शासक व शासित के समूहों में ध्रुवीकरण होता है। यह दोनों समूह अपने वस्तुगत हितों की पूर्ति के लिए परस्पर टकराते हैं। इस संघर्ष का निदान यह होता है कि संस्था में निहित प्राधिकारों का पुनर्वितरण होता है। अब संस्था पर नये लोग काबिज होते हैं और नये शासित समूह आते हैं प्रत्येक संस्था में परिवर्तन का यह सिलसिला या चक्र बराबर चलता रहता है। पहले भी हमने कहा है कि जब किसी समजा में संघर्ष होता है तो इसका परिणाम अनिवार्य रूप से परिवर्तन होता है।

जिस तरह पारसंस सामाजिक परिवर्तन के लिये प्रकार्यात्मक आवश्यकतओं को आवश्यक समझते हैं, वैसे ही सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण में रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ संघर्ष को आवश्यक समझते हैं, वैसे ही सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण में डेहरेन्डॉर्फ संघर्ष को आवश्यक समझते हैं। इस तरह जब रॉल्फ रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ यह दावा करते हैं कि उनका सिद्धान्त आदर्शलोक के सुनहरे राजपथ को छोड़कर धरती से जुड़े जनपथ पर आ गया है तो हमें रॉल्फ डेहरेन्डार्फ पर संदेह होने लगता है। शायद डेहरेन्डॉर्फ की यह आलोचना जहर से भी अधिक कड़वी है, फिर भी डेहरेन्डॉर्फ का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धान्त सामजिक व्यवस्था की संघर्ष प्रक्रियाओं के विश्लेषण में बहुत आवश्यक व उपयोगी है। सामाजिक यथार्थता द्वन्द्वात्मक संघर्ष के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है और यहीं पर डेहरेन्डॉर्फ और अधिकांश संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता गलत हो जाते हैं। इन सिद्धान्तवेत्ताओं को संघर्ष की प्रक्रियाओं का विश्लेषण अधिक गहराई से करना चाहिए था।

10.4 लेविस कोजर का संघर्ष सिद्धान्त (Conflict of Theory of Cover)

सामाजिक सिद्धान्त में लेविस कोजर का सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेविस कोजर अपने सिद्धान्त को संघर्ष का प्रकार्यवाद कहते हैं। क्योंकि उन्होंने सामाजिक संघर्ष के प्रकार्यात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया है और यह बताया कि सामाजिक संघर्ष केवल विघटनात्मक परिणाम ही उत्पन्न करता है, यह धारणा गलत है। यथार्थ में सामाजिक संघर्ष का संगठनात्मक सिद्धान्त प्रकार्यों पर आधारित है।

लेविस कोजर के अनुसार, ''सामाजिक संघर्ष के दो सम्भावित परिणाम हो सकते हैं, एक तो संगठनात्मक परिणाम और दूसरा विघटनात्मक परिणाम।'' सामाजिक संघर्ष के संगठनात्मक परिणाम उस अवस्था में प्रकट होते हैं जबकि संघर्ष कर रहे विरोधी पक्षों की एक समान आस्था समाज के कुछ आधारभूत मूल्यों में होती है। उदाहरण के लिए लोकतन्त्र के कुछ आधारभूत मूल्यों के आधार पर ही शासक दल और विरोधी दल संसद या विधानसभा के अन्दर या बाहर एक–दूसरे से टकराते है। परन्तु इस प्रकार के टकराव से हानि के स्थान पर लाभ ही होता है क्योंकि टकराव, आलोचना के माध्यम से दोनों ही पक्षों को अपनी–अपनी कमियों का ज्ञान होता है और वे उन्हें दूर करके ऐसे कार्यों को करने का प्रयास करते हैं जिनसे अधिकाधिक लोकहित सम्भव हो। उसी प्रकार किसी बाहरी समूह से संघर्ष होने पर भी समूह के अन्दर सदस्यों में एकता पनपती है क्योकि उनमें एकजुट होकर शत्रु के जवाब देने की समान इच्छा शक्ति उत्पन्न होती है।

लेविस कोजर ने अपनी पुस्तक "The Function of Socil Conflict में संघर्ष को प्रकार्यवादी दृष्टिकोण से देखा है इसलिए इनके सिद्धान्त को संघर्ष का प्रकार्यवाद कहा जाता है।

लेविस कोजर ने संघर्ष को दो भागों में विभाजित किया है–

(i) यथार्थवादी

(ii) अयथार्थवादी

(i) यथार्थवादी संघर्ष :– वे संघर्ष जो कि कुछ लक्ष्यों के आधार पर कुछ परिणामों को प्राप्त करने के लिए उत्पन्न होते हैं अथवा विफल हुए लक्ष्यों को पुनः प्राप्त करने की ओर निर्देशित होते हैं उन्हें यथार्थवादी संघर्ष कहते हैं।

(ii) अयथार्थवादी संघर्ष :– इसके विपरीत अयथार्थवादी संघर्ष में न तो लक्ष्य स्पष्ट होता है और न ही किन्हीं विशिष्ट परिणामों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया जाता है। ऐसे संघर्षों में परिणाम महत्वपूर्ण नहीं होते इनमें स्वयं विरोधी पक्ष पर प्रहार किया जाता है। जब संघर्ष का लक्ष्य विरोधी पक्ष को हानि पहुँचाना हो तो ऐसे संघर्ष को अयथार्थवादी संघर्ष सिद्धान्त दो विरोधी पक्षों के बीच होने वाले टकराव को चरम रूप देकर उन्हें अन्नतः शान्त करता है। नए आदर्शों, नियमों को स्थापित करने या पुराने नियमों को पुनर्जीवित करके अनेक शिकायतों को दूर करने में सहायक सिद्ध होता है।

इस प्रकार जहाँ रॉल्फ डेहरेनडॉफ शक्ति और सत्ता को सामाजिक सम्बन्धों का आधार

मानते हैं, वहीं कॉलिन्स स्त्रोतों को शक्ति का आधार मानते हैं। ये स्त्रोत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हो सकते है। इच्छित वस्तुओं की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए समूहों या सामाजिक स्तरों के बीच निरन्तर प्रतिस्पर्द्धा चलती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति को उसे और उसके प्रतिद्वन्द्वियों को उपलब्ध स्त्रोतों के अनुसार सर्वाधिक उच्च करने का प्रयत्न करता है।

संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं ने प्रकार्यवाद पर यही आरोप दोहराया है कि उसकी समाज की कल्पना दोषपूर्ण है। सर्वसम्मति, एकता और एकीकरण यह सब समाज में व्याप्त नहीं है। समाज का एक पहलू संघर्ष का भी है। पूरे दो दशकों तक इसी तरह के आरोप भी कहा जा सकता है। दूसरी ओर प्रकार्यवाद का जो विकल्प संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं ने दिया है उस प्रकार्यवाद के भी कई पकार है। निश्चित रूप से मार्क्स के संघर्ष का विकल्प डेहरेन्डॉर्फ से भिन्न है, और रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ का संघर्ष लेविस कोजर से भिन्न है। यद्यपि कोजर ने पारसंस के प्रकार्यवाद की आलोचना में बराबर कहा है कि यह प्रकार्यवाद समाज में संघर्ष की गुत्थी को नहीं सुलझा पाया। कोजर ने डेहरेन्डॉर्फ के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की आलोचना भी इसी मुद्दे पर की। फिर भी कोजर अपने विश्लेषण में संघर्ष सिद्धान्त को कोई अर्थपूर्ण संशोधन दे पाये हो, ऐसा नही है।

संघर्ष की प्रक्रिया को टर्नर प्रकार्यवाद इसलिये कहते हैं क्योंकि लेविस कोजर यह मानकर चलते हैं कि संघर्ष्ज्ञ व्यवस्था के एकीकरण और अनुकूलन को बनाये रखता है। वस्तुतः उनका यह अभिमत है कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति संघर्ष द्वारा ही होती है यानि कोजर व्यवस्था को तो बनाये रखना चाहते हैं लेकिन व्यवस्था की इस निरन्तरता में संघर्ष प्रकार्यात्मक भूमिका अदा करता है। इसी कारण टर्नर कोजर के संघर्ष को प्रकार्यवादी मानते हैं। इधर मार्क्स व डेहरेन्डॉर्फ व्यवस्था को बनाये रखने का तर्क नहीं देते। वे तो कहते है कि व्यवस्था सड़–गल गई है और इसके स्थान पर नयी व्यवस्था का निम्रण करना चाहिये।

कोजर का जन्म जर्मनी के बर्लिन शहर में 1913 में हुआ था। वे अपने शैक्षणिक जीवन में सामाजिक नीति और राजनीति में रूचि रखते थे। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान कोजर ने अमेरिका के शिकांगो और ब्रांडीज विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया। उन्होंने अपनी डॉक्टरेट की उपाधि को अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से प्राप्त किया। उन्होंने अपने शैक्षणिक जीवन का बहुत बड़ा भाग ब्रांडीज में बिताया। यहीं पर वे व्याख्याता के पद से प्रोफेसर के पद तक पहुँचे। 1968 के बाद न्यूयार्क विश्वविद्यालय में उन्होंने समाजशास्त्र के प्रोफेसर की तरह विशिष्टता प्राप्त की। अमेरिकी समाजशास्त्र परिषद् के 1975 में वे अध्यक्ष थे।

कोजर की कृतियों में हमें दो बातें बहुत स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है। पहली बात तो यह कि उनकी राजनीति में गहररूचि थी। दूसरी यह कि वे तत्कालीन समाज की प्रकृति के साथ अपने विचारों को बराबर जोड़ते थे। उन्होंने पाया कि अमेरिकन समाज में मिलने

वाला विभेदीकरण और सामाजिक टूटन है। फिर भी उनका दृढ़ विचार था कि किसभी भी अमेरिका जैसे खुले समाज को हर हालत में खुला ही रहने देना चाहिये। कोजर दृढ़तापूर्वक इस तर्क को रखते हैं कि अब सामाजिक विश्लेषण में संघर्ष को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिये। हुआ यह है कि अब तक प्रकार्यात्मक सैद्धान्तिकरण ने शक्ति और हेतु के क्षितिजों को एकदम अनछुआ रखा है। मजेदार बात यह है कि कोजर संघर्ष के विश्लेषण में न तो मार्क्स के अनुयायी हैं और न डेहरेन्डॉर्फ को स्वीकारते हैं। उनके सिद्धानत का दबाव या जो कुछ और है। वे डेहरेन्डॉर्फ के सिद्धान्त में संशोधन करना चाहते हैं और कहते हैं संघर्ष का परिणाम अनिवार्य रूप से हिंसात्मक होता हो, ऐसा नहीं है। डेहरेन्डॉर्फ तो तर्क देते हैं कि संघर्ष द्वारा ही सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलन और एकीकरण आते हैं। कोजर के अनुसार इसलिये, संघर्ष की बहुत बड़ी भूमिका व्यवस्था में अनुकूलन और एकीकरण बनाये रखना है। यदि संघर्ष नहीं हुआ तो व्यवसाी स्वयं बेतरतीब हो जायेगी। इसी कारण संघर्ष व्यवस्था के लिये सकारात्मक प्रकार्य है। अतः कोजर प्रकार्यवाद की आलोचना में कहते हैं कि इसका उपागम प्रत्येक स्थिति में संघर्ष की उपेक्षा करना है।

10.4.1 लेविस कोजर की सामाजिक संगठन की कल्पना :
(Lavis Coser's Image of Social Organisation)

लेविस कोजर के बारे में बहुत विचित्र बात यह है कि वे एक तरफ तो संघर्ष की भूमिका व्यवस्था को बनाये रखने में देखते हैं, वहीं दूसरी ओर वे दुर्खाइम की आलोचना भी करते हैं। दुखाईम को प्रकार्यवाद का जनक कहा जा सकता है। इसी दुखाईम के सिद्धान्त को कोजर दकियानूस और रूढ़िवादी मानते हैं। कोजर का आरोप है कि दखाईम ने हमेशा हिंसा और असहमति को विघटनकारी प्रक्रिया बताया है। मजेदार बात यह है कि कोजर एक ओर तो दुर्खाइम को नकारते हैं तथा दुसरी ओर उनके पद चिन्हों पर चलते हैं। जिस प्रकार दुर्खाइम समाज की तुलना सावयव से करते हैं, उसी तरह कोजर भी हिंसा को शरीर पर होने वाले दर्द की तरह मानते है। जैसे शरीर को कोई धाव शरीर को दर्द देता है, वैसे ही कोजर के तर्क में हिंसा समाज रूप शरीर को दर्द देती है। एक और दृष्टांन्त है जिसमें कोजर असहमति को सामाजिक शरीर की बीमारी मानते हैं। इन सब मान्यताओं से स्पष्ट है कि दुर्खाइम का विरोध करते हुये भी कोजर सावयवाद को नकारते नहीं है।

अपनी पुस्तक ''द फंक्शन्स ऑफ सोशल कन्फ्लिक्ट'' को समाज की एक कल्पना भी की है। उसकी एक प्रतिमा बनाई है। इसे हम निम्न बिन्दुओं में रखेंगे।

1. सामाजिक दुनिया को हम पारस्परिक रूप से जुड़े हुए विभिन्न भागों की एक व्यवस्था की तरह देख सकते हैं। इस व्यवस्था में आर्थिक क्रियाएं, राजनीतिक दल, शिक्षा पद्धति, विभिन्न व्यवसाय नगर–शहर समुदाय आदि परस्पर रूप से जुड़े हुए हैं। यही सामाजिक दुनिया है।
2. सभी सामाजिक व्यवस्थाएं किसी न किसी तरह असाम्यानुकूलन, तनाव और संघर्ष के शिकार हैं। ये तनाव व संघर्ष, सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों में देखने को मिलते हैं।
3. सामाजिक व्यवस्थाओं में ऐसी प्रक्रियाएं काम करती हैं जो एकीकरण व अनुकूलन को बढ़ाने के लिये सामाजिक परिवर्तन का प्रयास करती हैं।
4. सामाजिक व्यवस्था में काम करने वाली कई प्रक्रियाएं हिंसा, असहमति, विचलन और संघर्ष जो

समाज को विघटनकारी बनाती हैं, उन्हें समाज की बुनियाद को सुदृढ़ करने वाली अनुकूलन और एकीकरण प्रक्रियाओं के रूप में देखा जाना चाहिये। मतलब हुआ कि हिंसा, असहमति, संघर्ष आदि व्यवस्था के लिये केवल टूटन पैदा करने वाली प्रक्रियाएं ही नहीं है, बल्कि कुछ निश्चित दशाओं में ये प्रक्रियाएं व्यवस्था में अनुकूलन व एकीकरण लाने वाली भी हो सकती हैं।

इस भांति लेविस कोजर समाज में संघर्ष का होना अपरिहार्य तो मानते हैं, लेकिन साथ में उनका यह तर्क भी है कि संघर्ष की इन प्रक्रियाओं द्वारा व्यवस्था के साथ ताल–मेल बिठाया जा सकता है। ताल–मेल बिठाने वाली ये प्रक्रियाएँ अनिवार्य रूप से अनुकूलन व एकीकरण है। समाज या सामाजिक व्यवस्था की इस स्थिति को स्वीकार करते हुए लेविस कोजर ठीक रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ की तरह कुछ प्रस्ताव रखते हैं। इन प्रस्तावों में वे यह बताते हैं कि किन्हीं विशेष दशाओं में संघर्ष समाज में असहमति और विघटन पैदा करता है। उदाहरण के लिये यह सही है कि गांवों के लोग जब रोजगार के लिये शहर में आते हैं तो उनके पारम्परिक परिवार टूट जाते हैं। यह भी सही है कि आज समाज की जो दशाएं हैं उनमें जाति व्यवसाी टूट रही है, यानि संघर्ष व तनाव से परिवार व जाति में विघटन हो रहा है।

लेविस कोजर के विश्लेषण को हम कुछ इस तरह देख सकते हैं (1) व्यवस्था के विभिन्न भागों में जब असंतुलन आता है, एकीकरा टूटता है, तब (2) व्यवस्था के विभिन्न भागों में कई तरह के संघर्ष देखने को मिलते हैं, (3) इसके परिणामस्वरूप व्यवस्था में एक प्रकार का एकीकरण लाया जाता है, जिससे (4) व्यवस्था की संरचना में लचीलापन आ जाता है। कोजर की समाज के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना दिखने में बहुत साफ–सुथरी है, लेकिन जब खुलासे से इस व्यवस्था का निर्वचन होता है तो हमारे समाने व्यवस्था के विश्लेषण की समस्याएं आती हैं। जिसे कोजर अनुकूलन व एकीकरण कहते हैं, वास्तव में वे व्यवस्था की आवश्यकताएँ हैं। सच में देखा जाये तो यह व्यवस्था की स्वाभाविक प्रकृति है कि वह साम्यानुकूलन की अवस्था में आ जाये। किसी भाग दौड़ में यह मर्टन का दृष्टान्त है, छिपकली पीठ के बल उल्टी हो जाती है। यह संघर्ष की अवस्था है, लेकिन बिना किसी सहारे के छिपकली पेट के बल होने के लिये हर से जूझती है। इस तरह के संघर्ष तो व्यवस्था में अपने आप जुड़े होते हैं। और हर व्यवस्था की यह क्षमता होती है कि वह व्यवस्था को अपनी यथास्थिति में बनाये रखें, लेकिन यहां हम रूकंगे। आगे चलकर हम लेविस कोजर के सिद्धान्त पर खुलकर विचार करेंगे। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि संघर्ष की उपयोगिता कोजर के लिये, व्यवस्था में एकीकरण और अनुकूल लाने की है।

10.4.2 लेविस कोजर के सामाजिक संघर्ष का उद्‌गम और उसके प्रकारः

(Origin and Types of Social Conflict of Lavis Coser)

लेविस कोजर की एक विशेषता है कि जब वे संघर्ष के उद्‌गम की चर्चा करते हैं तो इस तथ्य पर अधिक जोर देते हैं कि संघर्ष का मूल कारण लोगों के संवेग हैं। इस बारे में वे सीमेल से सहमत है कि लोगों में आक्रामणशील या शत्रुतापूर्ण आवेग होते हैं। और इस तरह जिन व्यक्तियों के साथ लोगों के निकट सम्बन्ध होते हैं उन्हें वे प्यार व घृणा की दृष्टि से देखते हैं। बात यह है कि वे लोग जो हमारे बहुत नजदीकी होते हैं उनसे असहमति, संघर्ष या स्नेह के सम्बन्ध विकसित करना बहुत स्वाभाविक है। इस प्रकार के घृणा और प्रेम के आवेग किसी तरह यह नहीं बताते कि हमारे अपने नजदीकी लोगों के साथ सम्बन्ध टूट गये हैं। इस कारण सीमेल और संघर्ष से स्वरूपों को उनकी आवृत्ति को सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक भूमिकाओं के संदर्भ में देखना चाहिये। इसका बहुत अच्छा दृष्टान्त देते हुये कोजर कहते हैं कि विभिन्न देशों में बच्चे

अपने माता–पिता से विभिन्न प्रकरणों व प्रसंगों में लड़ते हैं। माता–पिता व बच्चों के बीच की यह आक्रमणशीलता टाली नहीं जा सकती। बच्चे घड़ी में माँ–बाप से लड़ते हैं और घड़ी में स्नेह से निपट जाते हैं। भाई–बहिन भी इसी तरह नोक–झोंक करते रहते हैं। इस तरह की आक्रमणशीलता को परिवार यानि माता–पिता और बच्चों के संदर्भ में देखा जाना चाहिये।

कोजर ने बुनियादी रूप में संघर्ष के दो प्रकार बताये हैं :– (1) वास्तविक और अवास्तविक। वास्तविक संघर्ष में, प्रायः लोग संघर्ष को अपनी इच्छाशक्ति का सशक्त साधन मानते हैं यदि उनकी इच्छा बिना संघर्ष किये पूरी हो जाये तो वे तुरन्त संघर्ष छोड़ देंगे। इस दृष्टि से संघर्ष को अपनाने का कारण तार्किक है–काई आवेग या संवेग नहीं। जब श्रमिक संगठन या छात्र संघ किसी संघर्ष का आह्वान करते हैं तो उसके पीछे निश्चित मांगें होती है। इन मांगों के पीछे तर्क होते हैं और इसी कारण इस प्रकार के संघर्ष को कोजर वास्तविक संघर्ष कहते हैं। इस संघर्ष का संदर्भ संस्थागत होता है।

अवास्तविक संघर्ष किसी मांग या इच्छा की पूर्ति का साधन न होकर केवल यही बतताा है कि लोग तोड़–फोड़ कर सकते हैं। इस तरह के अवास्तविक संघर्ष में प्रायः लोग अपनी दबी हुई भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हैं। ये एक तरह के लोगों के मन का रोष है। साम्प्रदायिक दंगें, प्रदर्शन आदि अव0ास्तविक संघर्ष के दृष्टान्त हैं।

कोजर जब सामाजिक संघर्ष का विश्लेषण करते हैं तब बार–बार कहते हैं तर्क देते है कि संघर्ष का परिणाम अन्ततोगत्वा सामाजिक परिवर्तन होता है। संघर्ष के कारण नवीनीकरण भी आता है। नये–नये हथियारों का आविष्कार संघर्ष की तैयारी के कारण ही होता है। हमारे देश में जमीन से जमीन पर मार करने वाले ''अग्नि'' प्रक्षेपास्त्र आविष्कार को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिये। कोजर ने संघर्ष के सिद्धानत को बराबर इस तरह विकसित किया है कि इसकी भूमिका समाज की सुदृढ़ता को बनाये रखने में है। इससे कोजर का यह मतलब नहीं है कि किसी भी समूह के जीवित रहने के लिये संघर्ष का होना अनिवार्य है। वे दृढ़तापूर्वक केवल यही कहना चाहते हैं कि यदि संघर्ष की विघटनकारी भूमिका है तो निश्चित रूप से इसकी एक सशक्त सकारात्मक भूमिका समाज या समूह के सदस्यों को एक सत्र में बांधे रखना भी है।

कोजर ने संघर्ष का दोहरा वर्गीकरण एक–दूसरे संदर्भ में भी किया है। इसमें पहला प्रकार बाहरी संघर्ष्ज्ञ का और दूसरा आंतरिक संघर्ष का है। बाहरी संघर्ष वह है जो समाज या समूह के बाहर से आता है। यदि हमारा देश किसी दूसरे देश के आक्रमण को झेलता है, जूझता है तो यह देश यानि समाज या समूह के बाहर का संघर्ष है। बाहरी संघर्ष्ज्ञ समूह को सुदृढ़ करता है, समूह की शिनाख्त बनाये रखता है। कोजर का इस प्रकार का कथन न केवल सीमेल के साथ जुड़ा है, बल्कि मार्क्स से भी जुड़ा हुआ है। मार्क्स भी कहते हैं कि संघर्ष वर्ग के लोगों को सामाजिक चेतना देता है। यह संघर्ष ही है जो एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग कर देता है। सीमेल और मार्क्स की तरह कोजर का भी तर्क है कि बाहरी संघर्ष प्रायः समूह को सुदृढ़ता देता है। यह समूह के सदस्यों में इस बात की चेतना देता है कि उनके समूह की अपनी एक विशेष पहचान है और वह बनी रहनी चाहिये।

जब कोजर आंतरिक संघर्ष की चर्चा करते हैं तब वे दुखाईम, मीड़ और यहां तक कि मार्क्स का अनुसरण करते हैं। जब समूह का कोई सदस्य बुरी संगत में पड़ जाता है, समूह के मानवक व मूल्यों को नहीं मानता, इस तरह से जब विचलन हो जाता है वो सम्पूर्ण समूह को यह स्पष्ट हो जाता है कि समूह के मानकों की अवहेलना करना जोखिम से खाली नहीं है। जाति व्यवस्था में कुछ ऐसे विचलन होते हैं, जिनके करने पर सदस्य को बहिष्कार या दण्ड भुगतना होता है। हुक्का–पानी बन्द कर देना, जाति से निकाल देना, यह सब जाति द्वारा दिये गये दण्ड हैं। कोजर की मान्यता है कि आंतरिक संघर्ष समूह के जीवित रहने की शक्ति को बढ़ा देता है। यही आंतरिक संघर्ष समूह को सुदृढ़ता व स्थायित्व देता है।

10.5 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ पायेंगे :–

हीगल के संघर्ष के सिद्धांत के साथ कार्ल मार्क्स ने किस तरह से समाज के परिवर्तन के तरह वर्ग संघर्ष को उत्तरदायी माना है। ये वर्ग को अलग इतिहास के अलग–अलग वर्गो को माना है। इन्होंने हर समाज के इतिहास मे दो वर्गों को माना है जैसे आधुनिक युग के पूंजीपति एवं श्रमिक वर्ग को वर्ग के सम के देखा है।हर समाज की संरचना इन दो वर्गो के रूप में होती है और इन वर्गो मे संघर्ष होता है। यह संघर्ष ही समाज में परिवर्तन का कारण बनता है। नवमार्क्सवादियों में डेहरेन्डार्फ की गिनती होती हे जो समाज में संघर्ष के लिये सत्ता के सम्बोधो को उत्तरदायी मानते है एक जिनके पास सत्ता होती और एक वो जिनके पास सत्ता नही होती है।

लेकिन कोजर भी नवमार्क्सवादियो मे गिने जाते है कोजर ने सत्ता और शक्ति की बात रही है संघर्ष के लिए वे कहते है कि समाज मे संघर्ष प्रकार्य का काम करता है। इसमे पदके संघर्ष को सिर्फ तोड़ फोड़ माना जाता था।

10.6 शब्दावली : (Glossary)

(1) सत्ता :– सत्ता से तात्पर्य एक ऐसी शक्ति से है जिसको वैधानिक शक्ति प्राप्त होती है। इसको मैक्स बेबर ने अच्छी तरह से समझाया है।

(2) नवमार्क्सवाद :– नव मार्क्सवाद से तात्पर्य वह विचारधारा या सिद्धांत है जो मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत से समाज की संरचना को नकारता है। डेहरेन्डार्फ संघर्ष के लिए सत्ता के संघर्ष की बात करते है और कोजर समाज में संघर्ष को ही प्रकार्यवाद के रूप में देखते है।

10.7 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर : (Answer Questions of Practice)

8. डेहरेनडार्फ संघर्ष के लिए किसे उत्तरदायी मानते है?

(क) जीवन स्तर (ख) सत्ता एवं शक्ति सम्बन्ध

(ग) आर्थिक सम्बन्धो की संरचना (घ) उपरोक्त सभी

उत्तर – ख

9. निम्नलिखित में कौन संघर्षवादी विचारक है?

(क) कोजर (ख) कॉलिस (ग) डेहरेनडार्फ (घ) ये सभी

उत्तर – घ

10. किसने समाज में सत्ता एवं शक्ति वितरण के आधार पर संघर्ष को सहमति (एकीकरण) तथा उत्पीड़न (बाध्यता) के रूप में प्रस्तुत किया।

(क) डेहरेनडार्फ (ख) कॉलिस

(ग) मार्क्स (घ) कोजर

उत्तर – क

11. कोजर के अनुसार संघर्ष कितने प्रकार का होता है?

(क) दो (ख) तीन (ग) तीन (घ) चार

उत्तर – क

12. कोजर ने किसके विचारो को आगे बढ़ाया?

(क) कालिन्स (ख) पारसन्स
(ग) सिमेव (घ) ये सभी
उत्तर – ग

13. संघर्ष का प्रकार्यवादी सिद्धांत किसका है?
(क) मार्क्स (ख) पेंज (ग) कोजर (घ) पारसन्स
उत्तर – ग

14. 'द फंक्शन्स ऑफ सोशल कॉनफ्लिक्ट' पुस्तक किसकी है?
(क) कोजर (ख) पेज
(ग) कालिस (घ) मार्क्स
उत्तर – क

15. कोजर आन्तरिक संघर्ष को क्या मानते है?
(क) आनन्द की दया (ख) सेफ्टी पंचर
(ग) सेफ्टी वाल्व (घ) सेफ्टी प्रेशर
उत्तर – ग

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. **रोमो ओरो (1959)** : ''मेन करेन्टस ऑफ सोशोलॉजिकल थॉट''
2. **हरिकृष्ण रावत (2014)** : ''समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धांतकार'', रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

10.9 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. **राल्फ डेहरेन्डार्फ (1959)** : ''क्लास एण्ड क्बास कन्फिलट इन इण्डस्ट्रीयल सोसायटी''
2. **लेविस कोजर (1956)** : 'द फंक्शन ऑफ सोशल कन्फ्लिक्ट'

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ राल्फ डेहरेन्डार्फ का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धांत से आप क्या समझते है?
- ✓ डेहरेन्डार्फ के सिद्धांत उपागम से आप कया समझते है?
- ✓ डेहरेन्डार्फ के सिद्धांत में समाज की क्या कल्पना है?
- ✓ डेहरेन्डार्फ ने समाज में संघर्ष के लिये किसे उत्तरदायी माना है?
- ✓ समाज की कल्पना सत्ता एवं शक्ति के आधार पर किसने दी है?
- ✓ कोजर का प्रकार्यवाद से आप क्या समझते है?
- ✓ कोजर के अनुसार सामाजिक संघर्ष मे क्या परिणाम हो सकते है?
- ✓ कोजर ने संधर्ष के कितने प्रकारो का वर्णन किया है?

इकाई–11 : सामाजिक तथ्य : समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम (Social Fact : Rules of Sociological Method)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम
11.2.1 असामाजिक तथ्यों की अवधारणा
11.2.2 सामाजिक तथ्यों का अर्थ एवं परिभाषा
11.3.3 सामाजिक तथ्यों की विशेषताऐ
11.3 सामाजिक तथ्यो के प्रकार
11.4 सामाजिक तथ्यो के अध्ययन के नियम
11.5 सारांश
11.6 शब्दावली
11.7 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
11.8 सन्दर्भ गन्थ की सूची
11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
11.10 निबंधात्मक प्रश्न

11.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :–

- ✓ समझ पायेंगे की दुर्खीम के समाजशास्त्रीय पद्वति के नियम क्या है।
- ✓ सामाजिक तथ्य क्या है उसके विशेषताऐं एवं प्रकार को समझ पायेंगे।
- ✓ सामाजिक तथ्यों के अवलोकन में नियम को समझ पायेंगी।

11.1 प्रस्तावना : (Introduction)

समाज शास्त्र के अध्ययन में दुर्खीम का एक विशेष स्थान है। दुर्खीम ने भी सामाजिक घटना के अध्ययन के लिये एक पद्वतिशास्त्र का विकास किया है जिसे समाजशास्त्रीय पद्वति के नियम के नाम से जाना जाता है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को एक वस्तु के रूप में देखने को कहा एवं इसे वैज्ञानिक पद्वति के रूप में रखा। दुर्खीम का किसी भी सामाजिक घटना के अध्ययन में सामाजिक तथ्यों का विशेष स्थान है वे प्रत्येक घटना को तथ्य के रूप मे देखते है इन्होने आत्महत्या को भी तथ्य के रूप मे देखा है एवं उनके प्रकारो को बताया है। सामाजिक तथ्यों की विशेषताओं एवं प्रकारों का वर्णन किया है एवं सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमो को भी बताया है।

11.2 समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम : (Rules of Sociological Method)

समाजशास्त्र के अध्ययन में दुर्खीम का एक विशेष स्थान कोंत के उत्तराधिकारी के रूप में आरक्षित है। अपने पद्वति–शास्त्र के निरूपण में वह अपने पूर्ववर्ती विचारों से काफी प्रभावित थे जिसमें कोंत की विचारधारा ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया। कोन्त की भाँति दुर्खीम ने भी पद्धतिशास्त्र को निश्चित किया तथा सर्वप्रथम यह स्वीकार किया कि सामाजिक तथ्यों पर वस्तुओं के रूप में विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार दुर्खीम अपने पूर्ववर्ती विचारकों की पद्धतियों को दोषपूर्ण पाते हैं क्योंकि उन लोगों ने सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के रूप में स्वीकार नहीं किया था। दुर्खीम सामाजिक तथ्यों को वैज्ञानिक पद्धति से देखना चाहते हैं। इसी आधार पर उन्होंने एक स्वस्तरीय प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो पूर्व के उपयोगितावादी प्रत्यक्षवाद के विपरीत हैं। अतः जहाँ दुर्खीम के प्रत्यक्षवादी के केन्द्रीय विषय–वस्तु सामाजिक तथ्य हैं, वहीं उपयोगितावाद में केन्द्रीय तथ्य व्यक्ति हैं। वस्तुतः दुर्खीम उपयोगितावाद के साथ–साथ व्यक्तिवाद का भी घोर विरोध करते हैं क्योंकि समाज व्यक्ति विशेष से नहीं बल्कि व्यक्ति समाज से है।

उपयोगितावाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ हैं जो दूसरे व्यक्तियों से भिन्न होती है। इस प्रकार के भिन्न साध्यों को व्यक्ति भिन्न साधनों से प्राप्त करने की कोशिश करता है। उपयोगितावादी चाहे मार्शल हों या दुर्खीम, तथ्य को देखते हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में तथ्यों (पदार्थों) को देखते हैं उसी प्रकार दुर्खीम भी उपयोगितावाद की इस व्यवस्था को अपनाते हैं जिससे उनके सामने काफी परेशानियाँ आती हैं जैसे कि उपयोगितावाद गुणात्मक तथ्यों की व्याख्या नहीं कर पाता। इस कारण दुर्खीम उपयोगितावाद की सामाजिक विज्ञानों में काफी सीमित भूमिका पाते हैं जिसकी विवशता से प्रेरित होकर दुर्खीम ने सामजिक तथ्यों के नाप–तौल का अलग तरीका निकाला है। दुर्खीम प्रत्यक्षवादी तो हैं, लेकिन उपयोगितावाद के व्यक्तिवादी नहीं। उनका कहना है व्यक्ति की अपेक्षा सामाजिक तथ्य जो समाज के ही अंग हैं, प्रत्यक्षवादी हैं।

11.2.1 सामाजिक तथ्यों की अवधारणा : (Concept of Social Fact)

दुर्खीम की पद्धतिशास्त्रीय विवेचना में सामाजिक तथ्यों का स्थान महत्वपूर्ण है। इसे स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने बताया है कि सामाजिक तथ्य, सामाजिक क्रिया, विचार आदि है।

ईमाइल दुर्खीम द्वारा अनुभूति का व्यावहारिक पक्ष हैं। ये मनुष्य की सामूहिक चेतना (Collective conscience) से सम्बन्धित हैं। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की व्याख्या दिन–प्रतिदिन की घटनाओं के मद्देनजर की है। वे कहते हैं कि बाह्म कारकों का व्यक्ति पर केवल प्रभाव ही नहीं होता बल्कि इनमें शक्ति भी होती हैं जो व्यक्ति को उसकी इच्छाओं के विरूद्ध अपने सामने झुकने पर मजबूर करती है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य को परिभाषित करते हुए लिखा है–''एक सामाजिक तथ्य कार्य करने का वह निश्चित या अनिश्चित तरीका है जो व्यक्ति पर बाह्म दबाव डालने की क्षमता रखता हो।''

दुर्खीम ने एक अन्य रूप में सामाजिक तथ्य की परिभाषा दी है–''ये कार्य करने, सोचने या अनुभव करने के वे तरीके हैं जिनमें व्यक्तिगत चेतना से बाहर भी अस्तित्व को बनाए रखने की उल्लेखनीय विशेषता होती है।''

समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र व विशिष्ट विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले विद्वानों में दुर्खीम सबसे प्रमुख विद्वान् हैं। अगस्त कॉम्टे व हरबर्ट स्पेन्सर के विचारों के विपरीत उनका मत था कि समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों का मात्र योग नहीं है अपितु एक स्वतंत्र विज्ञान है और इसलिए समाजशास्त्र का अध्ययन–क्षेत्र भी स्पष्ट व सुनिश्चित होना चाहिए। जहाँ तक समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु का प्रश्न है, यद्यपि दुर्खीम ने इसकी अलग से कहीं चर्चा नहीं की है फिर भी उनके ग्रन्थों से स्पष्ट मत है कि समाजशास्त्र समस्त मानवीय क्रियाओं का अध्ययन नहीं करता है अपितु सामाजिक तथ्य ही समाजशास्त्र की वास्तविक अध्ययन–वस्तु है।

सामाजिक तथ्यों के सम्बन्ध में दुर्खीम स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ''सर्वप्रथम यह बताना चाहते हैं कि हमारे शोध से यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि सामाजिक तथ्यों की उत्पत्ति में प्रमुख कारण प्रभाव है जिसे टार्डे अनुकरण से सम्बद्ध करते हैं। निसन्देह प्रत्येक सामाजिक तथ्य का अनुकरण किया जाता है। इसमें सामान्य होने की प्रवृत्ति होती है किन्तु ऐसा इस कारण है कि यह सामाजिक है अर्थात् अनिवार्य है। इसके विस्तार की शक्ति इसके सामजशास्त्रीय स्वरूप का कारण नहीं वरन् परिणाम है। फिर सामाजिक तथ्यों से यह परिणाम उत्पन्न होता है तो अनुकरण उनकी व्याख्या नहीं कर सकता, कम–से–कम उनकी परिभाषा करने में सहायक हो सकता था परन्तु यह व्यक्तिगत व्यवस्था जो कि प्रभावों की एक सम्पूर्ण शृंखला उत्पन्न करती है वस्तुतः व्यक्तिगत ही रहती है। इसके अलावा यह प्रश्न किया जा सकता है कि अनुकरण शबद वस्तुतः उस प्रभाव को बनाने के लिए उचित है जो एक दमनात्मक प्रभाव के कारण उत्पन्न हुआ हो।

दुर्खीम यद्यपि ऑगस्त कॉम्ट के अनुयायी माने जाते हैं फिर भी ऑगस्त कॉम्ट के विपरीत इन्होंने समाजशास्त्र की सीमाएँ (विषय–वस्तु) निर्धारित करने का प्रयास किया जिसमें उन्हें काफी सफलता भी मिली। दुर्खीम का कहना है कि समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक तथ्यों की वैज्ञानिक विधि द्वारा व्याख्या करना है।

सामाजिक तथ्य की अवधारणा को स्पष्ट करने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि किन तथ्यों को साधारण सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में रखा जाता है। प्रत्येक समाज में घटनाओं का एक विशिष्ट समूह होता है जोकि उन तथ्यों से भिन्न होता है जिनका अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान करते हैं। सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में कार्य करने, सोचने तथा अनुभव करने के वे तरीके आते हैं जिनमें व्यक्तिगत चेतना से बाहर भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने की उल्लेखनीय विशेषता होती हैं।

11.2.2 सामाजिक तथ्यों का अर्थ एवं परिभाषा :
(Meaning of Social Fact & Defination)

दुर्खीम के अनुसारः–सामाजिक तथ्य व्यवहार (विचार, अनुभव या क्रिया) का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैषयिक तौर पर सम्भव है और एक विशेष ढंग से व्यवहार को बाध्य है।

दुर्खीम के अनुसार समस्त मानव सामाजिक तथ्य है। श्री सिन्हा क्लोस्ट रमायर ने दुर्खीम के सामाजिक तथ्य की अवधारणा को अत्यन्त ही संक्षिप्त एवं सरल रूप में व्यक्त करते हुए लिखा है कि ''सामाजिक तथ्य सामाजिक वास्तविकता के तत्व हैं।''

सामाजिक तथ्य कार्य करने, साचने तथा अनुभव करने के वो तरीके है, जिनमें व्यक्तिगत चेतना से बाहर भी अस्तित्व बनाए रखने की उल्लेखनीय विशेषता होती है। इस प्रकार के विचार तथा व्यवहार व्यक्ति के बाह्म मात्र ही नहीं होते अपितु अपनी दबाव शक्ति के कारण वे व्यक्ति की इच्छा से स्वतन्त्र अपने आपको उस पर लागू भी करते हैं। दुर्खीम के अनुसार, ''सामाजिक तथ्यों को श्रेणी में कार्य करने, सोचने तथा अनुभव करने के तरीके शामिल है जो व्यक्ति के लिए बाहरी होते हैं तथा जो अपनी दबाव की शक्ति के माध्यम से व्यक्ति को नियंत्रित करते हैं।''

इस परिभाषा से दो बातें स्पष्ट होती हैं–प्रथम, सामाजिक तथ्य कार्य करने (चाहे वह संस्थागत है या नही), सोचने तथा अनुभव करने के तरीके हैं तथा दूसरे, इन तरीकों में व्यक्तिगत चेतना से बाह्यता और दबाव की शक्ति की दो प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती है। बाह्यता का अर्थ है कि सामाजिक तथ्यों का स्रोत व्यक्ति नहीं होता, अपितु समाज होता है चाहे वह पूर्ण राजनीतिक समाज हो या उसका कोई आंशिक समूह, जैसे धार्मिक समुदाय, राजनीतिक, साहित्यिक तथा व्यावसायिक संघ इत्यादि। दबाव की शक्ति का अर्थ है कि सामाजिक तथ्य व्यक्ति के व्यवहार पर नियंत्रण रखते हैं। जब हम कोई ऐसी बात करना चाहते हैं परंतु दूसरे उसे पसंद नहीं करते तथा न ही उसके करने की प्रशंसा करते हैं तो व्यक्ति वह कार्य सामान्य रूप से नहीं करता। व्यक्ति तब दबाव महसूस करता है जब वह किसी कार्य को करना चाहता है परन्तु कर नहीं पाता क्योंकि दूसरे व्यक्ति ऐसा नहीं चाहते।

इस प्रकार, दुर्खीम समाजशास्त्र के क्षेत्र को एक निश्चित रूप में परिभाषित एवं परिसीमित करते है। वह सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के रूप में विचार करने पर बल देते हैं। अपनी पुस्तक समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम के प्रथम अध्याय के अन्त में दुर्खीम सामाजिक तथ्य की परिभाषा इन शब्दों में देते हैं–''एक सामाजिक तथ्य काम करने का वह प्रत्येक ढंग है जो निर्धारित अथवा अनिर्धारित है और जो व्यक्ति पर एक बाहरी दबाव डालने के योग्य है अथा काम करने का वह प्रत्येक तरीका है जो निर्दिष्ट समाज में सर्वत्र सामान्य है, और साथ ही व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से स्वतन्त्र वह अपना अस्तित्व बनाए रखता है।

सामाजिक तथ्य के सम्बन्ध में दुर्खीम का विचार है कि ''सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के समान समझना चाहिए।'' (Consider Social Facts as things) इस सम्बन्ध में दुर्खीम ने लिखा है कि ''सामाजिक तथ्यों के अध्ययन पद्धति के सम्बन्ध में जानने के पूर्व यह जानना जरूरी है कि किन तथ्यों को सामान्यतया सामाजिक कहा जाता है, यह सोचना और भी अधिक जरूरी हो गया है क्योंकि सामाजिक विश्लेषण का प्रयोग अधिक अनिश्चित रूप में होता है। वर्तमान में इस शब्द का प्रयोग समाज में घटित होने वाली किसी भी घटना के लिए किया जाता है। चाहे उसकी सामाजिक चाह कितनी ही सीमित क्यों न हो, पर ऐसी कोई भी मानवीय घटनायें नहीं हैं जिन्हें कि सामाजिक न कहा जा सके। प्रत्येक व्यक्ति भोजन करता है, नींद लेता है तथा विचार करता है तथा यह समाज के हित में होता है कि यह सभी कार्य एक व्यवस्थित ढंग से किया जाये। यदि इन सभी तथ्यों को सामाजिक तथ्य मान लिया जाय तो समाजशास्त्र की अलग से कोई विषय–वस्तु नहीं होगी तथा मनोविज्ञान एवं प्राणिशास्त्र के क्षेत्र में एक भ्रान्ति उत्पन्न हो जायेगी।

सामाजिक तथ्य के सम्बन्ध में दुर्खीम का मत है कि ''सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के समान समझना चाहिए'', यद्यपि इस कथन का वास्तविक अर्थ उनके रचनाओं से अधिक स्पष्ट नहीं होता है।

इसका मुख्य कारण यह है कि 'वस्तु' शब्द का प्रयोग दुर्खीम ने चार अलग–अलग अर्थों में प्रयोग किया है। ये चार अर्थ निम्नलिखित हैं–

1. सामाजिक तथ्य एक ऐसी वस्तु है जिसमें कुछ विशेष गुण होते हैं जिन्हें (गुणों को) बाहरी तौर पर देखा जा सकता है।
2. सामाजिक तथ्य एक ऐसी वस्तु है जिसे केवल अनुभव के द्वारा देखा जा सकता है।
3. सामाजिक तथ्य एक ऐसी वस्तु है जिसका अस्तित्व मानव पर बिल्कुल ही निर्भर नहीं है।
4. सामाजिक तथ्य एक ऐसी वस्तु है जिसको केवल बाहरी तौर पर देखकर ही जाना जा सकता है।

'वस्तु' शब्द का प्रयोग अलग–अलग अर्थ में हो सकता है और चूँकि सामाजिक तथ्य 'वस्तु' के समान हैं इसलिए सामाजिक तथ्यों का अर्थ भी बदल सकता है। इस दृष्टिकोण से सामाजिक तथ्य कोई स्थिर धारणा नहीं, अपितु गतिशील धारणा है। सामाजिक तथ्यों की इस विशेषता पर किसी को आपत्ति नहीं होगी क्योंकि सामाजिक तथ्य सामाजिक परिस्थितियों के अत्यधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं तथा सामाजिक परिस्थितियाँ समय–समय पर बदलती रहती हैं। इस कारण सामाजिक तथ्यों के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। बाद फिर किसी एक व्यक्ति विशेष का नहीं रह जाता वह इस अर्थ में कि इसे एक स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में अनुभव किया जाता है मौटे तौर पर दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की अवधारणा को वैयक्तिक चेतना और सामूहिक चेतना के भेद पर आधारित किया है। दुर्खीम के अनुसार यदि हम वैयक्तिक चेतना के स्वरूप और संगठन का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि वैयक्तिक चेतना का मूल आधार संवेदनायें हैं। संवेदनायें विभिन्न स्नायुकोषों की अन्तःक्रिया का प्रतिफल है। किन्तु विभिन्न कोषों द्वारा उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं की अपनी विशेषतायें होती हैं जो संगठन अथवा उत्पत्ति के पहले स्नायुकोषों में से किसी में भी विद्यमान नहीं थी। सम्मिलन में ऐ नवीन वस्तु का जन्म होता है जिसे दुर्खीम 'Synthesis and Suigeneris' कहा है। कार्ल मार्क्स के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का सिद्धान्त भी यही कहता है। यह प्रक्रिया निरन्तर गतिशील रहती है, रूकती नहीं है। इस स्तर पर विभिन्न प्रकार की वैयक्तिक चेतनाओं में सम्मिलन और संगठन से एक नवीन चेतना का जन्म होता है जिसे दुर्खीम ने सामूहिक चेतना का नाम दिया है।

दुर्खीम का मत है कि जस प्रकार वैयक्तिक विचारों का मूलभूत आधार स्नायुमण्डल के विभिन्न कोष हैं, उसी प्रकार सामाजिक विचारों का मूल आधार समाज में सम्मिलित व्यक्ति होते हैं। सामूहिक चेतना का विकास वैयक्तिक चेतना के सम्मिलन तथा संगठन से होता है अर्थात् वैयक्तिक विचारों का जब संगठन होता है तो एक नये प्रकार के विचार सामूहिक विचार का विकास होता है जिसकी अपनी विशेषतायें होती हैं। दुर्खीम का कथन है कि सामूहिक विचार की उत्पत्ति सीमित स्थानों के कुछ ही व्यक्तियों से नहीं बल्कि अनेक व्यक्तियों के सहयोग से हुई है जिन्होंने पारस्परिक सहयोग द्वारा अपने विचारों और भावनाओं को संग्रहित किया है, अनेक पीढ़ियों ने अपने अनुभव और ज्ञान को इकट्ठा किया है। अतः इन विचारों में एक विशेष प्रकार की बौद्धिक प्रक्रिया निहित है जो व्यक्ति को बौद्धिक प्रक्रिया से कहीं अधिक पूर्ण और विषम है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार विकसित विचारों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। इनमें परस्पर आकर्षण और निषेध की शक्ति होती है। सामाजिक संगठन एवं पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर इनमें अनेक प्रकार के सम्मिश्रण की शक्ति भी होती है। वास्तव में ये सामूहिक विचार व्यक्ति की परिधि से स्वतंत्र अपनी सत्ता रखते हैं। उदाहरणार्थ, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के संयोग से एक नवीन वस्तु पानी का निर्माण हो जाता है। पानी की अपनी एक विशेषता होती है जो न तो ऑक्सीजन में है न हाइड्रोजन में। सामान्य भौतिक विधियों द्वारा पानी को विभाजित करके ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को

अलग नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों की चेतना के विशेष संगठन योग से जब नये चेतना का विकास होता है तो उसे पुनः विभाजित करके व्यक्तियों की चेतनायें प्राप्त नहीं की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि किस रूप में सामाजिक तथ्य वैयक्तिक चेतना से अलग एक अद्वितीय वास्तविकता है। दुर्खीम हमेशा इस बात पर जोर देते रहे कि जिस प्रकार विज्ञान अनेक मस्तिष्कों के सहयोग का प्रतिफल है और किसी एक व्यक्ति की मानसिक क्षमता व शक्ति से महान हे, उसी प्रकार सामाजिक तथ्यों का निर्माण भी विभिन्न वैयक्तिक विचारों के सहयोग से अवश्य होता है किन्तु वे व्यक्ति से अलग, पूर्ण व महान होते हैं।

11.2.3 सामाजिक तथ्यों की विशेषताऐं :
(Characterstic of Social Facts)

दुर्खीम नें अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन में सामाजिक तथ्यों को महत्व दिया है। सामाजिक तथ्य की अवधारणा दुर्खीम के पद्धतिशास्त्रीय चिन्तन की मूल प्रतिस्थापन है। उनके अनुसार सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के समान समझना चाहिए।

दुर्खीम की समाजशास्त्रीय पद्धति के अनुसार वैज्ञानिक को सामजिक तथ्यों का वास्तविक निरीक्षण करने की स्वतंत्रता तो है परन्तु उसके विषय में किसी भी प्रकार की भावना को मस्तिष्क में स्थान देने की तनिक भी छूट नहीं है। वह तो सामाजिक वस्तु के रूप में वैसे ही देखता है जैसा की वास्तव में है। इसी वैज्ञानिक वैषयिकता को दुर्खीम ने अपनी समाजशास्त्रीय पद्धति का मुख्य आधार माना है। उनका कहना है कि इसके बिना कोई भी अध्ययन वैज्ञानिक हो ही नहीं सकता।

दुर्खीम ने स्पष्ट किया है कि सामाजिक तथ्य सामाजिक क्रिया विचार तथा अनुभूति के व्यवहारिक पक्ष है। अतः समाजशास्त्रीय को अपना अध्ययन तथ्यों से आरम्भ करना चाहिए ने कि अवधारणाओं के आधार पर। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के सम्बन्ध में दो बातों को स्पष्ट किया है–

1. सामाजिक तथ्य में वास्तविकता का तथ्य होता है। इसकी उत्पत्ति का आधार व्यक्ति न होकर सामाजिक सहचर्य है। इसका अस्तित्व व्यक्तिगत विचारों से नही होता। यह सामाजिक चेतना से सम्बन्धित है।
2. सामाजिक तथ्य का विकास सामूहिक चेतना से होता है। इसकी शक्ति व्यक्तिगत चेतना से अधिक होती हैं लोग सामाजिक तथ्य के दबाव के अनुरूप व्यवहार करते हैं।

दुर्खीम का कथन है कि सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के समान समझा जाना चाहिए। लेकिन उनका यह कथन उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से प्रगट नहीं होता क्योंकि दुर्खीम ने इन सामाजिक तथ्यों को निम्नलिखित चार अर्थों में अलग–अलग प्रकार से प्रयोग किया है–

1. सामाजिक तथ्य वह वस्तु है जिसके विशेष गुणों को अनुभव के आधार पर ही देखा जा सकता है।
2. सामाजिक तथ्य वह वस्तु है जो मनुष्य से परे अपना अस्तित्व रखती है।

सामाजिक तथ्य वह वस्तु है जो केवल बाहरी तौर पर ही देख कर जानी जा सकती है। उपरोक्त चार अर्थों में जो प्रयोग किया गया है उसमें प्रथम दो तो बिल्कुल स्पष्ट है किन्तु अन्तिम दो को सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। तीसरे अर्थ को इसलिये नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि सामाजिक तथ्य सामाजिक होते हुए मानवीय अन्तः क्रियाओं से परे कैसे हो सकते हैं। इसी प्रकार सामाजिक तथ्य का चौथा अर्थ भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर उपयुक्त नहीं माना जा सकता क्योंकि

इसके द्वारा सामाजिक तथ्यों को केवल बाहरी निरीक्षण तक ही सीमित कर दिया गया है। जबकि वास्तविकता यह है कि जीवन के अनेक पक्ष होते हैं जिनका मूर्त निरीक्षण संभव नहीं है और जिनका प्रयोग सिद्ध तर्कों के आधार पर अधिक सुविधापूर्वक समझा जा सकता है।

इमाईल दुर्खीम ने अपनी पुस्तक Rules of Sociological Method में सामाजिक तथ्यों की विशेषताओं का वर्णन किया है।

(क) सामाजिक तथ्य में बाह्यता (Externality) होती है।

(ख) सामाजिक तथ्य में बाध्यता (Constraint) होती है।

(ग) सामाजिक तथ्य में स्वतन्त्रता (Independence) होती है।

(घ) सामाजिक तथ्य व्यापक (General) होती है, तथा

(1) बाहयता से अर्थ व्यक्तिगत चेतना से बाहर। व्यक्तिगत चेतना और सामूहिक चेतना में सामूहिक व्यक्ति को प्रभावित करती है और परिणामस्वरूप सामूहिक चेतना एक प्रकार से व्यक्तिगत चेतना बन जाती है। व्यक्ति एक समाज में पैदा होता है जिसका पहले से ही एक ढांचा है। इसमें मूल्य, आदर्श, विश्वास, कार्य करने के तरीके आदि पहले से विद्यमान हैं जो मनुष्य को उसके जन्म लेते ही बनें बनाए मिल जाते हैं और जिसे वह सामाजीकरण द्वारा धीरे–धीरे सीखता है। चूँकी ये सामाजिक तथ्य मनुष्य के जन्म से पूर्व विद्यमान होते हैं तथा इसका एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ (Objective Reality) होता है, निश्चित तौर पर ये तथ्य व्यक्ति विशेष से परे हैं।

सामूहिक सम्बन्ध, जो समाज का निमार्ण करते हैं, में एक व्यक्ति केवल एक व्यक्ति (तत्व) है। इसका अस्तित्व उन सम्बन्धों पर ही आधारित है। इस संदर्भ में भी सामाजिक तथ्य मनुष्य से परे (बाध्य) हैं। ये सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं बनाए जा सकते बल्कि तमाम व्यक्तियों के बहुतेरे अन्योन्यक्रिया (Interaction) के परिणाम होते हैं।

(2) सामाजिक तथ्य व्यक्तिगत तथ्य न होने के कारण व्यक्ति विशेष के लिए बाहरी होते हैं। फलस्वरूप ये व्यक्ति के व्यवहार पर पर्याप्त दबाव डालते हैं सामाजिक तथ्यों की यह बाध्यता व्यक्ति के व्यवहार को समाज के आदर्श और मूल्यों के अनुरूप बनाने के लिए प्रेरित करती है। इसी कारण दुर्खीम कहते हैं कि सामाजिक तथ्य कार्य करने का वह तरीका है जो व्यक्ति पर बाहर से दबाव डालने की क्षमता रखता है।

जब व्यक्ति सामाजिक तथ्यों की अवहेलना करता है तो यह तथ्य अपने सत्ता की प्रभुता दिखाते हैं जो सामाजिक दण्ड के प्रतीक रूप में सामने आता है। यह दण्ड कई प्रकार का होता है। कानून एक प्रकार का सामाजिक तथ्य है। इसकी अवहेलना उस व्यक्ति को कारागृह पहुँचा सकती है या आर्थिक दण्ड का भागी बना सकती है। इसी प्रकार परम्पराओं और रीति–रिवाजों की अवहेलना उसे निन्दा का पात्र बना सकती है। शिक्षा का उदाहरण देते हुए दुर्खीम कहते हैं कि इसका प्रयास एक बच्चे के ऊपर देखने, एहसास करने, समझने तथा कार्य करने आदि के तरीके आरोपित करना है। संक्षेप में, शिक्षा का उद्देश्य मानव–जाति का सामाजीकरण करना हैं, शिक्षक और माँ–बाप तो सामाजिक वातावरण में प्रतिनिध मात्र हैं।

सामाजिक तथ्य की 'बाध्यता' नामक विशेषता को एक अन्य रूप में समझा जा सकता है। सामाजिक तथ्य सामूहिक चेतना की श्रेणी में आता है और सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतना का सर्वोत्कृष्ट रूप है क्योंकि 'सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतनाओं के अस्तित्व और विशेषताओं की समष्टि चेतना है', यह चेतनाओं की चेतना है। इस प्रकार सामूहिक चेतना सामूहिक रूप में उस शक्ति की अधिकारिणी होती है

जो कि वैयक्तिक इच्छा को सामूहिक इच्छा के सम्मुख झुका देती है। व्यक्ति उन शक्तियों के अनुरूप विचार करता, अनुभव करता और निर्णय लेता है जिनके सम्मुख उसे झुकना पड़ता है।

(3) दुर्खीम आगे कहते हैं कि सामाजिक तथ्यों को केवल उनकी सार्वभौमिकता के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता। इसीलिए किसी एक विचार को जब हम प्रत्येक व्यक्ति की चेतना में पाते हैं या कोई एक आन्दोलन सभी व्यक्तियों द्वारा दोहराया जाता है तो यह सामाजिक तथ्य नहीं है। यदि समाजशास्त्री कुछ इस प्रकार सामाजिक तथ्य की विशेषता को बताते हैं तो यह उनका भ्रम है। वास्तव में सामूहिक जीवन के विश्वासों, अभिवृत्तियों और व्यवहारों का सामूहिक रूप (Collective aspect) ही सामाजिक तथ्य है। ये सामाजिक तथ्य हमें पिछली पीढ़ियों से धरोहर के रूप में सामाजिकरण के माध्यम से मिलते हैं।

(4) सामाजिक तथ्य केवल कुछ समाजों में ही पाये जाते हैं, ऐसा नहीं है। यह भी नहीं है कि ये केवल आदिम समाजों में ही पाये जाते हैं। दुर्खीम के अनुसार, ये सभी समजों में पाये जाते हैं। यह हो सकता हैं कि कहीं इनकी बाध्यता कम हो, कहीं अधिक हो। ऐसा भी नहीं है कि इनमें परिवर्तन नहीं होता। समयानुकूल प्रत्येक पीढ़ी कुछ नए सामाजिक तथ्यों का निर्माण करती है जिससे आने वाली पीढ़ी के लिए इनकी 'बाह्यता' तथा 'बाध्यता' दोनों ही बढ़ जाती है। इस प्रकार सामाजिक तथ्य की उपस्थिति प्रत्येक समाज के लिए एक व्यापक प्रक्रिया है।

सामाजिक तथ्य को 'परिवार' के उदाहरण के साथ और आसानी से समझा जा सकता है। 'परिवार' एक सदस्य के लिए बाह्य होता है क्योंकि इसकी संरचना उस सदस्य के पैदा होने के पहले से विद्यमान थी। परिवार में रहने के कुछ निश्चित तौर तरीके होते हैं जिन्हें मनुष्य पैदा होने के बाद सामाजीकरण के द्वारा सीखता है। इन तौर–तरीकों की अवहेलना करने वालों के खिलाफ कुछ दण्ड निर्धारित किए गए हैं जो उन्हें परिवार से निष्कासित करके या उनकी भर्त्सना करके या परिवारिक सम्पत्ति से बेदखल करके, दिए जाते है। इस प्रकार के दण्ड सदस्यों पर ऐसा दबाव डालते हैं जो उन्हें इन निश्चित तौर–तरीकों का अनुसरण करने पर विवश करते हैं।

यह संरचना सामूहिक रूप से मान्य एक तथ्य जिसमें सामूहिक चेतना काम करती है। इस कारण इसकी एक स्वतंत्र सत्ता है जिसका अस्तित्व सदस्य पर निर्भर नहीं करता।

'परिवार' एक विश्व सार्वभौमिक सत्य है जो हर जगह किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। यह एक व्यापक प्रक्रिया है अतः यह एक सामाजिक तथ्य है।

11.3 सामाजिक तथ्यों के प्रकार : (Type of Social Facts)

दुर्खीम के अनुसार कुछ सामाजिक तथ्य एक सतत् कम में होते हैं जिसके एक सिरे पर संरचनात्मक अथवा स्वरूप संबन्धी सामाजिक घटनाएँ होती हैं जो सामाजिक जीवन के आधार का निर्माण करती हैं। यहाँ दुर्खीम का तात्पर्य समाज का निर्माण करने वाले मूलभूत भागों की प्रकृति व संख्या जिस क्रम में वे व्यवस्थित हैं, तथा उनके संयोजन के परिणाम से है। इस श्रेणी के सामाजिक तथ्यों में भौगोलिक क्षेत्रों में जनसंख्या का वितरण, आवासों की रचना, संचार–व्यवस्था की प्रकृति आदि सम्मिलित हैं।

सामाजिक तथ्यों की दूसरी श्रेणी वह है जो संस्थागत नहीं हो पाए हैं और सामाजिक तथ्यों का एक स्पष्ट रूप नहीं बन पाये हैं। वे समाज के संस्थागत आदर्शों से परे स्थित हैं साथ ही इस प्रकार के सामाजिक तथ्यों ने संस्थागत सामाजिक तथ्यों की तुलना में अभी तक पूर्णतया वस्तुपूरक व स्वतंत्र अस्तित्व नहीं प्राप्त किया हैं इसलिए व्यक्तियों पर उनकी बाध्यता पूर्ण रूप से स्थापित हो पायी नहीं है। इस प्रकार के

सामाजिक तथ्यों को दुर्खीम ने ''सामाजिक प्रवाह'' कहा है। उदाहरण के लिए, विशिष्ट स्थितियों में उत्पन्न मत का यत्र–तत्र प्रवाह, साहित्य में उपजी विचारधाराएँ, भीड़ में उत्पन्न लोगों का क्षणिक क्रोध, विशिष्ट घटनाओं द्वारा तिरस्कार या दया की भावना का उत्पन्न होना आदि को सामाजिक प्रवाह कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, दुर्खीम ने सामान्य तथा व्याधिकीय प्रकार के सामाजिक तथ्यों में अंतर किया है। एक सामान्य सामाजिक तथ्य वह है जब वह उद्विकास की किसी निश्चित अवस्था में किसी निश्चित प्रकार के समाज में सामान्य रूप से मिल जाता है। जबकि विचलित प्रकृति की असामान्य रूप से मिल जाता है। जबकि विचलित प्रकृति की असामान्य घटनाएँ व्याधिकीय हैं। उदाहरण के लिए किसी भी समाज में अपराध की कुछ मात्रा होना आवश्यक है। अतः दुर्खीम के अनुसार एक सीमा तक अपराध एक सामान्य सामाजिक तथ्य है। जबकि अपराध की दर में असामान्य वृद्धि होना व्याधिकीय सामाजिक तथ्य हैं।

दुर्खीम के अनुसार, यदि सामाजिक तथ्यों की सम्बद्धता और विघटनकारी दृष्टि से वर्गीकरण किया जाए तो ये तथ्य दो प्रकार के है :

(1) सामान्य तथ्य तथा (2) व्याधिकीय तथ्य।

यद्यपि इस तथ्यों की प्रकृति कुछ अर्थों में एक समान होती है, फिर भी इनमें भिन्नता है। जिस प्रकार शरीर में हमेशा रूग्णता बनी रहती है और सामान्य स्तर पर मनुष्य इनकी चिन्ता नहीं करता, वस्तुतः चिन्ता तब करता है जब स्थिति असामान्य हो जाती है, उसी प्रकार समाज में कुछ रूग्णताओं जैसे अपराध, चोरी, डकैती, अपहरण, बलात्कार आदि के होने के बावजूद सामाजिक व्यवस्था की या स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक ये रूग्णताएँ सामान्य स्तर की होती हैं। इस प्रकार, सामान्य सामाजिक तथ्य वे हैं जो समाज की यथास्थिति को बनाए रखते हैं और इनमें व्याधिकीय तत्त्व सामान्य दर में होते हैं। परन्तु जब ये व्याधिकीय तत्व अत्याधिक व्यापक हो जाते हैं जिससे समाज का सामान्य जीवन रूक सा जाता है तो ऐसे तथ्य व्याधिकीय तथ्य या असामान्य सामाजिक तथ्य होते हैं। उदाहरणार्थ, 'आत्महत्या' एक सामान्य सामाजिक तथ्य है (जबकि प्रत्येक समाज में इसे गलत और अनैतिक माना जाता है।) लेकिन आत्महत्या दर में अचानक वृद्धि इसे व्याधिकीय तथ्य बना देती है। यही कारण है कि 19वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में हुई आत्महत्या दर में वृद्धि ने दुर्खीम को इतना परेशान किया कि वह इस विषय पर एक पूर्ण अध्ययन करने पर विवश हो गए।

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक ''समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम (1895)'' में सामान्य तथ व्याधिकीय तथ्यों में भेद करने की महत्ता पर बल दिया है तथा भेद करने के नियम भी बताए हैं। इन्होंने अपनी प्रथम पुस्तक ''समाज में श्रम–विभाजन (1893)'' में श्रम–विभाजन के व्याधिकीय प्रारूपों का वर्णन करके यह सिद्ध कर दिया है कि सामान्य श्रम–विभाजन को समझने के लिए इसके असामान्य प्रारूपों का ज्ञान होना जरूरी है।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है प्रथम, सामान्य सामजिक तथ्य तथा द्वितीय, असामान्य अथवा व्याधिकीय सामाजिक तथ्य। सामान्य सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में वे तथ्य आते है जो अधिकांशतः समाजों अथवा किसी समाज में रहने वाले अधिकांश व्यक्तियों में पाये जाते हैं ओर समाज में संगठन बनाये रखने अथवा कोई अन्य आवश्यकता को पूरा करने में सहायता देते हैं। दूसरी तरू, असामान्य तथ्य वे तथ्य हैं जिनकी उपयोगिता समाज में नहीं होती, न ही वे अपनी सामान्य भूमिका निभाते हैं और नही अधिकांश समाजों अथवा लोगों में पाये जाते हैं। इन दोनों प्रकार के सामाजिक तथ्यों में अन्तर करना एक कठिन कार्य है क्योंकि समाज की विभिन्न अवस्थाओं में समय तथा काल के अनुसार उनकी उपयोगिता में अंतर आता रहता है।

दुर्खीम के अनुसार समस्त समाजशास्त्रीय घटनाएँ भिन्न मामलों में अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए भिन्न–भिन्न रूप धारण कर सकती हैं। हम इस तरह के दो प्रकारों में भेद कर सकते हैं। इनमें कुछ वे हैं जो सम्पूर्ण जातियों में विस्तार से बँटी होती है, जो सभी लोगों में नहीं तो कम से कम उनके बहुमत में अवश्य पायी जाती हैं। उन सामाजिक अवस्थाओं को जो सर्वाधिक सामान्य रूप में वितरित है, सामान्य कहा जता है, जबकि वे अवस्थाएँ जो सर्वाधिक उपयोगी नहीं है और नही सामान्य रूप से विपरीत है, असामान्य अथवा व्याधिकीय अवस्थाएँ कही जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य तथा व्याधिकीय शब्द सापेक्षिक हैं। दुर्खीम स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कोई अवस्था निर्दिष्ट जातियों के संबंध में ही व्याधिकीाय रूप से परिभाषित की जा सकती है। स्वास्थ्य तथा रोगग्रस्तता की अवस्थाएँ निरपेक्ष रूप से तथा कल्पना के आधार पर मिश्रित नहीं की जा सकती हैं। प्रत्येक जाति का अपना स्वास्थ्य होता है क्योंकि प्रत्येक का अपना औसत प्रकार होता है। चूँकि स्वास्थ्य तथा रोगग्रस्तता के बारे में भिन्न–भिन्न विचार विभिन्न जातियों के अनुसार भिनन होते हैं अतः एक जाति के स्वयं परिवतर्तित होने पर ये भी भिन्न हो जाते हैं।

दुर्खीम ने सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों में अंतर करने की महत्ता पर भी प्रकाश डाला है इनका कहना है कि किसी भी सामाजिक तथ्य के सामान्य प्रारूपों को समझने के लिए उसके व्याधिकीय प्रारूपों को समझना जरूरी हैं बिना असामान्य प्रकारों अथवा प्रारूपों के ज्ञान के हम सामान्य प्रारूपों की व्याख्या नहीं कर सकते है। उदाहरण के लिए अगर स्वास्थ्य को ठीक प्रकार से समझना है तो बीमारियों (जोकि स्वास्थ्य की व्याधिकीय प्रारूप है) का ज्ञान होना जरूरी है। इसी प्रकार, दुर्खीम ने अपनी प्रथम पुस्तक समाज में श्रम–विभाजन (1893) के तीन खण्डों में से एक खण्ड में श्रम–विभाजन के व्याधिकीय प्रारूपों को बताया है। 'विश्रृंखल श्रम–विभाजन', आरोपित 'श्रम–विभाजन' तथा 'एक अन्य प्रकार' को समझे बिना हम श्रम–विभाजन के सिद्धांत को पूरी तरह से नहीं समझ सकते क्योंकि ये वे प्रारूप हैं जिनमें श्रम–विभाजन अपना सामान्य कार्य (समाज में सामाजिक संश्लिष्टता बनाए रखना) करना बन्द कर देता है। इसलिए तथ्यों के सामान्य तथा असामान्य प्रारूप में भेद करना अनिवार्य ही नहीं अपितु अति महत्वपूर्ण भी है।

दुर्खीम ने सामान्य तथ्यों अथवा प्रघटनाओं की सामान्यता स्थापित करने के तीन नियमों का उल्लेख किया है। ये हैं–

1. एक सामाजिक तथ्य प्रस्तुत सामाजिक प्रकार के विकास की एक निर्दिष्ट अवस्था के संबंध में तब सामान्य होता है जब यह उस जाति के औसत समाज के उद्विकास के समस्त पक्षों में विद्यमान हो।
2. इस पूर्वगामी पद्धति से प्राप्त परिणामों का सत्यापन यह दर्शाने पर होता है कि घटना की साधरणता। विचारधीन सामाजिक प्रकार के सामूहिक जीवन की साधारण अवस्थाओं से संबंधित होती है।
3. यह सत्यापन उस समय आवश्यक है जब विचारधीन तथ्य ऐसी सामाजिक जाति में पाया जाता है जो अब तक अपने पूर्ण उद्विकास को प्राप्त नहीं कर पायी है।

वैयक्तिक या सामाजिक जीवन से संबंधित सभी विज्ञानों का उद्देश्य सामान्य दशाओं को परिभाषित करना और उनकी व्याख्या करना है। साथ ही, उनका उद्देश्य सामान्य दशाओं को उनकी विपरीत अथवा असामान्य दशाओं से भिन्न करना है।

दुर्खीम अपराध को भी सामान्य मानते हैं क्योंकि कोई भी समाज ऐसा नहीं जो इसके बिना है। अपराध वह कार्य है जो किन्ही बहुत सशक्त सामूहिक भावनाओं पर किसी न किसी प्रकार का आघात होता है। अपराध सामाजिक जीवन की मूल अवस्थाओं से संबंधित है और इसलिए यह एक प्रकार से

उपयोगी भी है क्योंकि वे अवस्थाएँ, जिनका यह एक भाग है, नैतिकता तथा कानून के स्वाभावित विकास के लिए अनिवार्य है।

क्योकि एक निर्दिष्ट सामाजिक जाति से सापेक्षतया एक सामाजिक तथ्य की धारणा सामान्य अथवा असामान्य रूप से की जा सकती है इसलिए इसमें यह अर्थ निहित है कि समाजशास्त्र की एक शाखा इन जातियों के संगठन और वर्गीकरण से संबंधित होनी चाहिए। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक जातियों के अस्तित्व को समझने के लिए प्रत्येक विशिष्ट समाज का अध्ययन करने के अलावा कोई अन्य कार्य विधि उपलब्ध नहीं है ताकि जहां तक सम्भव हो उसकता सम्पूर्ण वर्णन किया जाये तथा फिर इन सभी सर्वांगिण वर्णनों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह पता लगया जाये कि उनमें क्या समानता है अथवा कया भिन्नता हैं इन समानताओं तथा भिन्नताओं के सापेक्षिक महत्व के अनुसार जातियों को समूहों में वर्गीकृत किया जाये।

दुर्खीम का कहना है कि वर्गीकरण के लिए सर्वाधिक आवश्यक विशेषताओं को ही चुना जाना चाहिए तथा इन विशेषताओं का तभी पता चल सकता है जबकि तथ्यों की व्याख्या पर्यापत उच्च स्तर की हो। दुर्खीम समाजशास्त्र की उस शाखा को सामाजिक रचनाशास्त्र कहते हैं जिसमें सामाजिक प्रकारों की रचना तथा वर्गीकरण का अध्ययन किया जाता है। वर्गीकरण का निश्चित सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए इनका कहना है कि प्रत्येक समाज का निर्णायक भाग ऐसा समाज माना जा सकता है जो कुल समाज की तुलना में अधिक सरल होता है। यदि हम सबसे सरल समाज, जिनका कभी अस्तित्व रहा हो, को समझ जाते है तो वर्गीकरण करने के लिए हमें केवल उस तरीके का अनुसरण करना होगा जिससे ये सरल समाज मिश्रित समाजों में बदल जाते हैं तथा पुनः यह मिश्रित समाज अधिक जटिल सम्पूर्ण समाजों में बदल जाते हैं। स्पेन्सर के भी यही विचार थे परन्तु वह सरल समाज की कोई अधिक उपयुक्त परिभाषा नहीं दे पाये। दुर्खीम ने सरल समाज की परिभाषा इस प्रकार की है, ''एक सरल समाज वह समाज है जिसमें स्वयं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ताकि जिसमें किसी पूर्वगामी विभाजन का चिह्न नहीं है।'' घुमक्कड़ों को झुंड इसका उदाहरण है। इसके बाद हमें जत्थों अथवा गोत्रों के सरल संयोग से बने हुए समूह दिखाई देंगे जोकि एक झुण्ड के व्यक्तियों के समान ही परस्पर सरल रूप से एक–दूसरे के निकट जनजातियाँ उनका उदाहरण हैं। इसके ऊपर पूर्वगामी जातियों के समाजों के एक संघ से निर्मित समाज रखे जा सकते हैं जिन्हें सरल रूप से मिश्रित बहुवृत्तखण्डीय समाजों की एकता अथवा निकटता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। उनका उदाहरण नगर–राज्य है। इस प्रकार, दुर्खीम समाजों को चारण श्रेणियों में विभाजित करते है–

1. सरल समाज (Simple societies)।
2. सरल बहुवृत्तखण्डीय समाज (Simple polysegmental societies)।
3. सरल रूप से मिश्रित बहुवृत्तखण्डीय समाज (Polysegmental societies, doubly compound)।
4. दोहरे रूप से मिश्रित बहुवृत्तखण्डीय समाज (Polysegmental societies, doubly compound)।

सामाजिक घटनाओं में रचना के आधार पर भी अन्तर हो सकता है चाहे वे अपना स्थानीय जीवन बनाए रखती हैं अथवा एक सामान्य जीवन में घुल–मिल जाती हैं। इस प्रकार, समाजों के वर्गीकरण को संगठन की उस मात्रा के अनुसार प्रारम्भ करेंगे जिसे वे प्रस्तुत करते हैं और इसमें पूर्णतः सरल समाज

अथवा एक वृत्तखण्डीय समाज को आधार मानेंगे। इन प्रकारों के भीतर हम विभिन्न प्रकारों में इस आधार पर भेद करेंगे कि क्या उनमें प्रारंभिक वृत्तखण्डों का पूर्ण विलय हुआ है अविा नहीं।

दुर्खीम का वर्गीकरण का आधार ऑगस्त कॉम्ट, हरबर्ट स्पेन्सार तथा कार्ल मार्क्स के वर्गीकरण से थोड़ा बहुत मिलता–जुलता है क्योंकि इन सब ने सामाजिक उद्विकास के चरणों को ही सामाजिक वर्गीकरण का आधार माना है तथा इन वर्गीकरणों की श्रेणियों में सरलता से जटिलता की तरफ बढ़ने की झलक स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है।

अधिकांश समाजशास्त्रियों का यह कहना है कि सामाजिक तथ्य अपने प्रकार्य द्वारा ही अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं अर्थात् कुछ विद्वान सामाजिक तथ्यों की व्याख्या उनकी भूमिका द्वारा करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। उदाहरण के लिए ऑगस्त काम्ट मानव जाति की सम्पूर्ण प्रगतिशील शक्ति का संबंध इस मौलिक प्रवृत्ति से जोड़ते हैं जो सीाी परिस्थितियों में मनुष्य को निरंतर अपनी स्थिति में सुधार करने के लिए प्रेरित करती है। हरबर्ट स्पेंसर इस शक्ति को अधिकाधिक सुख की आवश्यकता से संबंधित करता है।

परन्तु दुर्खीम इस प्रकार की व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं होते। इनका कहना है कि यह बताने के लिए कि एक तथ्य क्यों उपयोगी है, यह व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है कि उसकी उत्पत्ति कैसे हुई अथवा वह आज जैसा है वैसा क्यों है? सामाजिक तथ्य उपयोगिता के बिना भी हो सकते हैं अथवा हो सकता है कि किसी समय उनकी उपयोगिता रहने के बाद अब उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई हो और केवल आदत की जड़ता के कारण उसका अस्तित्व बना हुआ हो।

दुर्खीम सामाजिक तथ्यों की व्याख्या के लिए एक नियम का उल्लेख करते हैं। यह हैं, ''तब, जब किसी सामाजिक घटना की व्याख्या की जाती है तो हमें उसकों उत्पन्न करने वाले मौलिक कारण को तथा उसके द्वारा किये जाने वाले प्रकार्य को पृथक्–पृथक् खोजना चाहिए।'' इस प्रकार इनके अनुसार व्याख्या को निम्न रूप से स्पष्ट किया जा सकता है–

इस प्रकार, दुर्खीम व्याख्या को केवल प्रकार्य अथवा घटना की उपयोगिता तक ही सीमित नहीं रखना चाहते अपितु उस घटना के विकास के कारण को भी व्याख्या का ही एक अंग मानते हैं। अपने श्रम–विभाजन के अध्ययन में दुर्खीम ने तीन खण्डों में से एक खण्ड में प्रकार्य तथा दूसरे में उन कारणों तथा कारकों का उल्लेख किया है जिनसे श्रम–विभाजन का विकास होता है। तीसरे खण्ड में श्रम–विभाजन के सामान्य प्रारूपों का वर्णन किया गया है।

दुर्खीम सामाजिक तथ्यों की व्याख्या में समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की भी आलोचना करते हैं। इनके अनुसार ऑगस्त कॉम्टे तथा हरबर्ट स्पेन्सर द्वारा दी गई व्याख्याएँ मनोवैज्ञानिक हैं। इनका कहना है कि सामूहिक प्रतिनिधान, संवेग तथा प्रवृत्तियाँ व्यक्तिगत चेतना की कतिपय विशिष्ट अवस्थाओं का परिणाम नहीं है अपितु उन अवस्थाओं का परिणाम होती हैं जिसमें कि सामाजिक समूह सम्पूर्ण रूप से स्थिर होता हैं।

11.4 सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियम (Rules of the Observation of Social Facts)

प्रथम नियम जो दुर्खीम हमें देते हैं वह है–''सामाजिक तथ्यों पर वस्तुओं के रूप में विचार किया जाए।'' तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान प्राकृतिक वस्तुओं का अध्ययन करते हैं उसी प्रकार

सामाजिक विज्ञानों को भी सामाजिक वस्तुओं का अध्ययन करना चाहिए। यह अध्ययन बिना किसी पूर्वाग्रह के होना चाहिए लेकिन समाजशास्त्रियों के साथ बड़ी समस्या यही होती है कि वे पहले से किसी वस्तु के बारे में एक अवधारणा सी बना लेते हैं। यह अवधारणा यथार्थ नही होती। दुर्खीम सामाजिक तथ्य को, यहाँ तक कि संवेग और मनोभाव को वैज्ञानिक पद्धति से देखना चाहते हैं। वह कहते हैं कि कई सामाजिक तथ्य मनोवैज्ञानिक होते हैं लेकिन इनका उदगम समाज की यथार्थता होती है। इसी कारण ये तथ्य सामाजिक तथ्य हैं। सामाजिक तथ्यों का वस्तुओं के रूप में अध्ययन करते समय निम्नलिखित तीन नियमों का पालन जरूरी है जिससे उनकी वस्तुनिष्ठता (Objectivity) बनी रहे–

- ✓ सभी पूर्वाग्रहों का उन्मूलन करना चाहिए।
- ✓ अध्ययन की विषय–सामग्री (Subject-matter) को परिभाषित करना चाहिए।
- ✓ सामाजिक तथ्यों को व्यक्तिगत प्रकटीकरणों से पृथक करके अध्ययन करना चाहिए।

1. यदि सामाजिक तथ्यों को हम विज्ञान के समानतर रखना चाहते हैं तो इनका अवलोकन होना आवश्यक है। हम बरसों से तमाम कहानियाँ सुनते चले आ रहे हैं जिनका सच्चाई या यथार्थता से कोई लेना देना नहीं है। फिर भी ये हमें अच्छे लगते हैं क्योंकि इस तरह की तमाम अवधारणाएँ हमारे मन–मस्तिष्क पर छायी हुई हैं। वास्तव में ये अवधारणाएँ मिथक मात्र हैं जिनमें न कोई व्यवस्था होती है और न ही कोई तर्क, यही हमारे 'पूर्वाग्रह' हैं। उदाहरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति सपने देखता है। लेकिन ऐसा क्यों होता है कि ये सपने हमें एक ऐसी दुनिया में पहुँचा देते हैं जिनका वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं है? ऐसा कदाचित् इसलिए होता है क्योंकि जाग्रत बाहर हैं। दूसरी बात यह कि वस्तु की प्राप्ति या हानि हो सकती है। ऐसी परिकल्पनाएँ मिथक नहीं तो और क्या हैं जिनके अध्ययन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है? इन्हें सामाजिक नहीं तो और क्या हैं जिनके अध्ययन में ऋणात्मक भूमिका निभाती हैं। इसलिए बेहतर तो यही होगा कि इन पूर्वाग्रहों का उन्मूलन किया जाए।

हालांकि दुर्खीम ने 'टोटम' को एक सामाजिक तथ्य माना है, बावजूद इसके कि यह भी हमें एक विचित्र सी दुनिया में ले जाता है। लेकिन दुर्खीम को टोटम को सामाजिक तथ्य मानने के पीछे उद्देश्य यह है कि इस मान्यता से हमारे कुछ सामाजिक कार्यों की पूर्ति हो जाती है तथा कुछ की पूर्ति के लिए हमें एक बड़ा सहारा मिल जाता है। इस प्रकार इसके अध्ययन का एक वैज्ञानिक आधार है। इसमें से भी कुछ पूर्वाग्रहों को निकालकर एक और सुदृढ़ आधार आधार दिया जा सकता है।

2. समाजशास्त्री के लिए यह आवश्यक है कि वह जिस विषय–सामग्री का अध्ययन करता है, उस सामग्री को स्पष्ट रूप से परिभाषित करे। इसके लिए उसे अपने विषय–वस्तु को भलीभांति उनके बाहरी लक्षणों के आधार पर, जिनका अवलोकन सम्भव है, परिकल्पित करना चाहिए। इस प्रकार 'श्रम–विभाजन' किसी भी समाज के अन्दर की सुदृढ़ता (Solidarity) को निवर्तमान कानून–दमनकारी या प्रतिकारी, फौजदारी या सिविल के आधार पर समझा जा सकता है।
3. व्यक्तिगत अभिरूचियाँ बाह्यता के अभाव में सामजिक तथ्य नहीं हो सकतीं। अतः समाजशास्त्री को चाहिए कि अपने अध्ययन के दौरान अपनी इन अभिरूचियों को त्याग दे। विवेचन केवल उन विशेषताओं का होना चाहिए जो मूलतः सामाजिक प्रघटनाओं के निहित गुण हैं।

दुर्खीम ने समाजशास्त्र के विषय–क्षेत्र को परिसीमित करने तथा इसे विज्ञान बनाने में विशेष योगदान दिया है। इनके अनुसार समाजशास्त्र में सामाजिक तथ्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए तथा

उन्होंने स्वयं अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक तथ्यों जैसे श्रम–विभाजन, आत्महत्या, धर्म, शिक्ष्ज्ञा इत्यादिा का अध्ययन किया है।

सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के लिए सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक तथा सर्वाधिक मौलिक नियम देते हुए दुर्खीम ने कहा है कि सामाजिक तथ्यों पर वस्तुओं के रूप में विचार यिका जाए। इनका कहना है कि यह ठीक है कि व्यक्ति पर्यावरण में तब तक नहीं रह सकता जब तक कि वह उसके बारे में कुछ विचार न बना ले जिनसे कि वह अपने व्यवहार का नियमन करता है। परन्तु क्योंकि विचार वास्तविकता से अधिक नजदीक होते है इसलिए वस्तुओं का प्रेक्षण, वर्णन तथा तुलना करने के स्थान पर हमें अपने विचारों पर अपनी चेतना को केन्द्रित करने, उसका विश्लेषण करने और उनसे मेल बढ़ाने मात्र से सन्तोष हो जाता है। अतः यथार्थता से सम्बन्धित विज्ञान के स्थान पर हम केवल विचारकीय विश्लेषण उत्पन्न करते हैं। ऐसा विज्ञान विचारों से वस्तुओं की तरफ बढ़ता है न कि वस्तुओं से विचारों की तरफ परन्तु दुर्खीम इस विधि द्वारा अध्ययन का समर्थन नहीं करते क्योंकि इससे वस्तुओं का स्थान ग्रहण करने के लिए विधि सम्मत नहीं है।

दुर्खीम की सामाजिक तथ्यों की परिभाषा से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें एक ऐसा गुण पाया जाता है जिसके कारण इसका अध्ययन वैज्ञानिक विधि द्वारा करना सम्भव है। यह गुण इनकी बाह्य की विशेषता है।

सामाजिक तथ्य व्यक्तिगत चेतना से बाहर हैं इसलिए इनका वैज्ञानिक विधि से सूक्ष्म अवलोकन हो सकता है गुणों को देखा और परखा जा सकता है तथा साथ ही अनुभव भी किया जा सकता है। बाह्यता की विशेषता के कारण ही दुर्खीम सामाजिक तथ्यों को वस्तु के रूप में देखने पर बल देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि दुर्खीम मूर्त वस्तुओं से अमूर्त की ओर बढ़ने अर्थात् वस्तुओं से उनके बारे में धारणाओं के अध्ययन के पक्ष में थे ताकि वस्तुनिष्ठ रूप में इनका विश्लेषण किया जा सके। इस प्रकार, दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को वस्तु के रूप में अध्ययन किये जाने पर बल देकर समाजशास्त्र को एक ठोस आधार प्रदान किया ताकि इसमें वस्तुनिष्ठ अध्ययन किये जा सके तथा इसे विज्ञान बनाया जा सके।

दुर्खीम का कहना है कि यद्यपि ऑगस्त कॉम्ट ने सामाजिक घटनाओं को प्राकृतिक तथ्य कहकर वस्तुओं के रूप में स्वीकार किया परन्तु उन्होंने अपने अध्ययन की विषय–वस्तु के लिए विचारों को ही ग्रहण किया। स्पेन्सर ने तो यह कहकर कि एक समाज तभी बनता है जबकि सन्निद्धता के साथ सहयोग भी हो, समाज को अदृश्य रूप में मान लिया। दुर्खीम इस पर बल देते हैं कि सामाजिक घटनाएँ वस्तुएँ है तथा उन्हें वस्तुओं की तरह ही स्वीकार किया जाना चाहिए। घटनाओं की वस्तु के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है उन्हें आँकड़ों के रूप में स्वीकार करना। सामाजिक घटनाओं को स्वयं उन विचारों से भिन्न समझना चाहिए जिनसे सचेत रूप से निर्मित प्रतिनिधान हमारे मस्तिष्क में बन जाते हैं। हमें उनका अध्ययन बाह्य वस्तुओं के अध्ययन के उद्देश्य से करना चाहिए क्योंकि उनकी यही विशेषता होती है जो वे हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

दुर्खीम का कहना है कि समाजशास्त्र का प्रयत्न उन वस्तुओं की परिभाषा करना होना चाहिए जिनसे उसका संबंध है ताकि उसका विषय–वस्तु का ज्ञान हो सके। अध्ययन को उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिए हमें घटनाओं का विचारों की तरह नहीं अपितु उनके निहित गुणों का अध्ययन करना चाहिए। यह आवश्यक है कि इस मूल परिभाषा में जो सामग्री सम्मिलित की जायेगी उसे सामाजिक घटनाओं का बाह्य विशेषताओं में से प्राप्त किया जायेगा।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के अवलोकन का दूसरा नियम इस प्रकार दिया है–प्रत्येक समाजशास्त्रीय अध्ययन की विषय–वस्तु कुछ सामान्य बाह्य विशेषताओं के आधार पर परिभाषित इस समूह

में को ग्रहण करे तथा इस परिभाषा के दायरे में आने वाली सभी घटनाओं को इस समूह में सम्मिलित किया जाये। दुर्खीम इस बात पर भी बल देते हैं कि जब समाजशास्त्री कुछ सामाजिक तथ्यों के सामाजिक क्रम के अन्वेषण का प्रयत्न करता है तो उसे उनके व्यक्तिगत प्रकटीकरण से स्वतन्त्र दृष्टिकोण से उनका अध्ययन करने का प्रयत्न करना चाहिए इस प्रकार, दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के रूप में माने जाने पर बल देकर यह सिद्ध कर दिया कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन भी वैज्ञानिक विधि द्वारा वस्तुनिष्ठ रूप से किया जा सकता है।

11.5 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके है कि ईमाइल दुर्खीम ने किस तरह से सामाजिक घटनाओं के अध्ययन मे अपनी नयी अध्ययन पद्वति का विकास किया है और वो समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाना चाहते थे। उनकी पुस्तक (Rules of Sociological Mehods) में इसको अच्छी तरह से बताया है कि कोई घटना वस्तु या विचार के रूप में ही देखी जा सकती है सामाजिक तथ्य की वास्तविक अवधारणा क्या है क्या हो सकती है सामाजिक तथ्य एक वस्तु के समान है इनकी विशेषताएँ एवं इनके प्रकार से अवलोकन के नियमों को विस्तार से बताया है, एवं उन पर चर्चा की गयी है। सामाजिक तथ्यों को एक तरह से दुर्खीम ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का तरीका माना है।

11.6 शब्दावली : (Glossary)

1. सामूहिकः–जब व्यक्ति पर स्पष्ट कर रहे हो तो उससे निर्मित एक संयुक्त क्रिया, विचार, आदि था।

2. अनुभव सिद्धः–वस्तुपरक तरीके से जब आकड़ो को समाज से इक्ट्ठा करने के लिए अवलोकन तथा अन्य परीक्षित पद्धतियों का प्रयोग।

3. सुई जनेरिसः–वह जो स्वयं से उत्पन्न हो तथा जिनका अस्तित्व समाज में स्वयं मे हो जो अस्तित्व तथा उदयन के लिए दूसरी वस्तुओं पर निर्भर न हो उसे समाज के दुर्खीय ने सुई जेनेरिस माना है।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर : (Answer Questions of Practice)

1. समजाशास्त्रीय व्याख्या में सामूहिकता पर बल किस समाजशास्त्री ने दियाः–

(क) दुर्खीम (ख) जिन्सवर्ग

(ग) टी पारसन्स (घ) मैक्स वेबर

उत्तर – (क)

2. सामाजिक तथ्य वस्तु के समान है किसने कहा हैः–

(क) ऑगस्ट कौंत (ख) कार्ल मार्क्स

(ग) ईमाइल दुर्खीम (घ) डेविस

उत्तर – (ग)

3. सामाजिक तथ्यों की विशेषता हैः–

(क) बाह्य (ख) बाध्यता

(ग) स्वतंत्रता (घ) उपर्युक्त तीनो

उत्तर – (घ)

4. सामाजिक तथ्य की अवधारणा दी है:–

(क) मैक्स वेबर (ख) ईमाइल दुर्खीम
(ग) टी पारसन्स (घ) मर्टन

उत्तर – (ख)

5. ईमाइल दुर्खीम का सम्बन्ध किस देश से है:–

(क) इटली (ख) इंगलैंड (ग) फ्रांस (घ) जर्मनी

उत्तर – (घ)

6. दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों का साम्प्रत्ययीकरण किस रूप में किया है:–

(क) हमारी जैविक प्रेरणाओं में वृद्धि
(ख) व्यक्ति के अपने उद्दीपन एवं प्रेरणाएँ
(ग) ऐसे सामाजिक प्रतिमान जो व्यक्ति से बहार के है।
(घ) इनमे स्वतन्त्र नही पायी जाती है।

उत्तर – (ग)

7. सामाजिक प्रवाह एवं सामाजिक तथ्य में भेद किया है:–

(क) मर्टन (ख) दुर्खीम (ग) मैक्स वेबर (घ) पारसन्स

उत्तर – (ख)

8. ईमाइल दुर्खीम का पद्वतिशास्त्रीय नियम कौन सा है:–

(क) सामाजिक तथ्य
(ख) प्रघटनाविज्ञान
(ग) सामाजिक क्रिया
(घ) उपरोक्त तीनो

उत्तर – (क)

9. दुर्खीम की पुस्तक (Rules of Sociological Method) की रचना कितने अध्याय में की है:–

(क) पाँच (ख) छः (ग) सात (घ) आठ

उत्तर – (क)

10. सामाजिक तथ्य को दुर्खीम ने किस रूप में देखा है:–

(क) घटना के रूप में (ख) वस्तु के रूप में
(ग) विचार के रूप में (घ) उपरोक्त सभी

उत्तर – (घ)

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ की सूची : (References)

1. **ईमाइल दुर्खीम (1895)** : ''द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड'', द फ्री प्रेस ऑफ ग्लोनको, न्यूयार्क
2. **ओरो रेंमो (1967)** : मेन करेंटस इन सोशियोलॉजिकल थॉट, वाल्यूम–2, पेग्विन बुक्स, लंदन
3. **दोषी एण्ड जैन (1996)** : ''उच्च स्तरीय समाजशास्त्रीय सिद्धांत'', रावत पब्लिकेशन, जयपुर, दिल्ली

11.9 सहायक उपयोगी पाठय सामग्री : (Useful Contain)

लेविस ए कोजर (1996) : ''मास्टर ऑफ सोशियोलाजिकल थॉटस'', रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली

11.10 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

1. दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित सामाजिक तथ्यो की प्रकृति क्या है?
2. दुर्खी के समाजशास्त्रीय विश्लेषण योगदान का केन्द्र बिन्दु क्या है? उनके योगदान के सामाजिक तथ्य क्या है।
3. दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो में अवलोकन का क्या नियम बताइये।
4. दुर्खीम के सामाजिक तथ्यो की क्या विशेषताऐं है?
5. दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो के कितने प्रकार बताये है?
6. दुर्खीम के सामाजिक तथ्यों का सिद्धांत क्या है?

इकाई–12 : आत्महत्या और समाज (Suicide & Society)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 आत्महत्या एवं समाज
12.2.1 आत्महत्या की अवधारणा
12.2.2 आत्महत्या का अर्थ एवं परिभाषा
12.3 आत्महत्या के प्रकार
12.3.1 अहमवादी आत्महत्या
12.3.2 परार्थवादी आत्महत्या
12.3.3 मानयकशून्य या प्रतिमानहीनता आत्महत्या
12.4 सारांश
12.5 शब्दावली
12.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.9 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आपः–

- ✓ आत्महत्या के कारणो को समझ पायेगे।
- ✓ आत्महत्या के लिए कौन जिम्मेदार होता है।
- ✓ आत्महत्या के प्रकारो को जान सकेंगे।
- ✓ आत्महत्या का सम्बन्ध समाज से कैसे है, जान पायेगे।
- ✓ दुर्खीम के आत्महत्या के सिद्धांत को समझ पायेगें।
- ✓ अहमवादी आत्महत्या से आप क्या समझते हैं?
- ✓ परार्थवादी आत्महत्या से आप क्या समझते हैं?
- ✓ मानक शून्यता आत्महत्या से आप क्या समझते है?

12.1 प्रस्तावना : (Introduction)

सामान्य रूप से आत्महत्या को एक तरह से व्यक्ति की वह सचेतन तथा निराशपूर्ण क्रिया है जिसमें कर्ता को यह ज्ञात होता है कि इस क्रिया के पश्चात् उसकी जान चली जायेगी। आत्महत्या सभी समाजों में पायी जाती है तथा इसमें अपने–अपने कारण होते है। दुर्खीम ने अध्ययन से पूर्व आत्महत्या को मनोविज्ञान का विषय–वस्तु माना जाता है, व्यक्ति के मनोवृत्ति उसके सोचने की क्षमता, दबाव को सहने की उसकी सीमाऐ कई ऐसे मनोवैज्ञानिक पक्ष थे जिससे समाज में आत्महत्या का अध्ययन होता है। इन्होंने अपनी पुस्तक The Suicide में आत्महत्या के चार प्रकारों का वर्णन किया है। दुर्खीम से पहले आत्महत्या को व्यक्तिगत मानते थे परन्तु दुर्खीम ऐसे पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने आत्महत्या को करने के लिए समाज को जिम्मेदार माना है। आत्महत्या के चारो प्रकारो को समाज के द्वारा उत्पन्न कारणों को माना है।

12.2 आत्महत्या एवं समाज : (Suicide & Society)

इसका अध्ययन इसलिए किया कि इसका संबंध समाज के उच्च एवं मध्यवर्ग से था जबकि अन्य दूसरे प्रकार की समस्याओं का संबंध मजदूर वर्ग, वर्ग संघर्ष आदि से था जिसका अध्ययन कर दुर्खीम मार्क्सवादी विचारकों की कोटि में आ जाता। मार्क्सवादी खेमे से अपने को अलग रखने के लिए दूर्खीम ने आत्महत्या जैसी समस्या को अपने अध्ययन–विषय के रूप में चुना। साथ ही उसने यह भी सोचा कि इस प्रकार के अध्ययन से तत्कालीन समाज की बुराईयों एवं कुसमायोजन के संबंध में सुझाव के रूप में कुछ कारक मिल जाएंगे जिसके आधार पर वह समाज में एक नैतिक बल की चर्चा कर सकेगा।

रेमण्ड एरॉ का कहना है कि अपने अन्य सिद्धांतों की तरह इस सिद्धांत में भी दूर्खीम ने सबसे पहले आत्महत्या की परिभाषा दी है।

आत्महत्या की घटना में दूर्खीम ने सर्वप्रथम मृत्यु की समस्त घटनाओं को शामिल किया है जो स्वयं उस व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं जो कि अपनी हत्या करता है, उसके वांछित एवं अवांछित कार्यों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष फल होता है तथा जिसका परिणाम भी व्यक्ति जानता रहता है। दुर्खीम ने आत्महत्या की श्रेणी में मृत्यु से संबंधित उन सभी घटनाओं को शामिल किया है जो स्वयं उस व्यक्ति के सकारात्मक या नकारात्मक क्रिया के परिणाम हैं। द्वितीय स्तर पर दुर्खीम ने आत्महत्या से संबंधित पूर्व–प्रचलित सभी सिद्धांतों का खण्डन किया है और बतलाया है कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। जीववैज्ञानिकों, चिकित्सकों एवं मनोवैज्ञानिकों के इस निष्कर्ष को, कि बहुत से लोग मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था में आत्महत्या कर लेते हैं, दुर्खीम ने स्वीकार नहीं किया है। इनके अनुसार आत्महत्या एक मनोवैज्ञानिक घटना नहीं हैं, बल्कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है क्योंकि इसके कारण समाज में ही उपस्थित होते हैं और इसका विश्लेषण भी सामाजिक तथ्य के आधार पर किया जाना चाहिए।

दुर्खीम ने आत्महत्या का अध्ययन करने एवं इसके लिए एक विशेष सिद्धांत प्रतिपादित करने के उद्देश्य से मोनोग्राफिक आँकड़ों का सहारा लिया और सैनिक, असैनिक, विवाहित, अविवाहित, यहूदी, प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक एवं स्वतंत्र विचारकों की आत्महत्या का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि 'आत्महत्या एक सामाजिक घटना है जिसका मूल कारण सामाजिक तथ्य है। अपने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर दुर्खीम ने कहा कि समूह कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है जिसके प्रभाव से विवश होकर व्यक्ति आत्महत्या कर सकता है। यदि स्त्रियां पुरूषों की अपेक्षा कम आत्महत्या करती है तो इसलिए कि वे सामहिक जीवन में पुरूषों की अपेक्षा कम भाग लेती है। दुर्खीम ने पाया कि स्वतंत्र विचारकों में सामूहिकता का अभाव पाया जाता है, इसलिए उनमें आत्महत्या की दर अधिक होती है। स्पष्टतः दुर्खीम के अनुसार आत्महत्या व्यक्तिगत कार्य नही बल्कि एक सामाजिक घटना है और इसका मूल कारण सामाजिक तथ्य है।

तीसरे स्तर पर दुर्खीम ने आत्महत्या को तीन भागों में बांटा है जिसके मूल में तीन सामाजिक तथ्य हैं। दुर्खीम के अनुसार ये तीन तरह की आत्महत्याएं क्रमशः अहंवादी आत्महत्या, परार्थवादी आत्महत्या तथा आदर्शविहीन आत्महत्या है। इसके पीछे तीन सामाजिक तथ्य क्रमशः अहंवाद, परार्थवाद एवं आदर्शविहीनता है। इन तीन के अलावा कुछ ऐसी आत्महत्याओं का भी दुर्खीम ने उल्लेख किया है जिन्हें वे भाग्यवादी आत्महत्या कहते हैं।

दुर्खीम का आत्महत्या सम्बन्धी विचार उसकी प्रख्यात कृति Le Suicide में है। आत्महत्या जैसे ज्वलन्त समस्या पर उसने गहन अध्ययन किया है तथा इस समस्या की तह में मूल पोषण तत्व क्या है उन्हें खोजने का प्रयास किया है। दुर्खीम यह मानते हैं कि आत्महत्या एक सामाजिक घटना है। इसलिए उसने अपने पूर्ववर्ती विचारकों के आत्महत्या सम्बन्धी विचार को अस्वीकार कर दिया है। जिसमें वंशानुक्रम, जलवायु, मनोवैज्ञानिक कारक तथा वैयक्तिक कारक को उत्तरदायी ठहराया गया था। दुर्खीम इनसे सम्बन्धित विचारों से सहमत नहीं है अपितु इसका खण्डन करते हैं। उनका मानना है कि उपर्युक्त कारकों के माध्यम से आत्महत्या जैसी गम्भीर समस्या के मूल कारणों का पता नहीं लगाया जा सकता है। आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है इसलिए इसके कारणों की खोज सामाजिक संरचना और संगठन में ही करनी चाहिए।

दुर्खीम इस बात से सहमत नहीं है कि कतिपय वैयक्तिक अवस्थाओं पर ही आत्महत्या की घटना निर्भर करती है। उनका स्पष्ट मत है कि आत्महत्या की घटना को सामाजिक तत्व या कारक के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। दुर्खीम के ही शब्दों में सामाजिक पर्यावरण की कुछ अवस्थाओं का आत्महत्या के साथ सम्बन्ध अत्यधिक प्रत्यक्ष तथा स्थायी है, जबकि आत्महत्या का प्राणिशास्त्रीय तथा भौतिक कारकों के साथ सम्बन्ध उतना ही अनिश्चित तथा अस्पष्ट होता है। दुर्खीम का कथन है कि सामाजिक या समाजशास्त्रीय कारकों की सहायता से हमें आत्महत्या की उन घटनाओं की भी व्याख्या मिलती है जिनकी अभी तक भौतिक

कारणों का प्रभाव बताया गया था। यदि स्त्रियाँ पुरूशों की अपेक्षा कम आत्महत्या करती हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि वे स्त्रियाँ हैं। अपितु इसका वास्तविक कारण तो यह है कि वे पुरूषों की अपेक्षा सामूहिक जीवन में कम भाग लेती हैं, इसलिए वे इसके अच्छे या बुरे प्रभाव को भी कम अनुभव करती हैं। यही बात अधिक उम्र के व्यक्तियों तथा बच्चों के सम्बन्ध में भी लागू होती है; रूद्यपि इन पर सामूहिक जीवन का कम प्रभाव कुछ अन्य कारणों से पड़ता है। इसी प्रकार यदि जनवरी से जून तक आत्महत्या की दर बढ़ती है और तत्पश्चात् घटनी शुरू हो जाती है तो इसका कारण यह है कि सामाजिक क्रियाओं में भी इसी के अनुसार मौसमी उतार–चढ़ाव देखने को मिलता है। इसलिए यह स्वाभावित ही है कि सामाजिक क्रियाओं के विभिन्न प्रकार भी ऋतु परिवर्तन के साथ–साथ समान रूप से बदलें और इसके फलस्वरूप इन दोनों कालों में से प्रथम काल में (जनवरी से जून तक) सामाजिक प्रभाव अपेक्षाकृत निश्चित या स्पष्ट हो, आत्महत्या भी इन्ही प्रभावों में से एक है।

दुर्खीम के अनुसार उपर्युक्त तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज में घटित होने वाली आत्महत्या की दर का विश्लेषण केवल समाजशास्त्रीय आधारों पर ही किया जा सकता है। एक निश्चित समय पर समाज का नैतिक संगठन ऐच्छिक मृत्युओं के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर विशेष शक्ति की मात्रा लिए हुए एक सामूहिक शक्ति का दबाव अनुभव करता है जो कि उसे आत्महत्या करने को बाध्य करती है। आत्महत्या करने वालों के कार्य जो कि प्रथम बार केवल उसके व्यक्तिगत स्वभाव को व्यक्त करते प्रतीत होते हैं, वास्तविक रूप में एक सामाजिक अवस्था के पूरक और विस्तार होते हैं जिनकी कि बाहरी अभिव्यक्ति आत्महत्या के रूप में होती है। वास्तविकता तो यह हे कि प्रत्येक सामाजिक समूह में आत्महत्या के लिए अपने ढंग की एक सामूहिक प्रवृत्ति पायी जाती है जो कि वैयक्तिक प्रवृत्तियों को प्रभावित करती हैं, उन्हें आत्महत्या का सर्वप्रमुख कारण माना जाता है। व्यक्ति अपने जीवन में उदासीनता को समझाने के लिए अपने चारों तरफ की परिस्थितियों को दोषी मानता है, उसका जीवन दुःखी है क्योंकि वह दुःखी है। परन्तु ये बाहरी परिस्थितियाँ उसके जीवन की यह या वह घटना नहीं अपितु वही समूह है जिसका कि वह सदस्य है। यही कारण है कि ऐसी कोई सामाजिक परिस्थिति नहीं होती जो कि आत्महत्या के लिए अवसर का काम न कर सके। यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि आत्महतया की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाले कारण कितीन तीव्रता से व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि आत्महत्या एक सामाजिक घटना है जिसे कि सामाजिक कारक के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जा सकता है कि सामाजिक शक्तियाँ समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों को समान रूप में क्यों नहीं प्रभावित करती; इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दुर्खीम ने बताया है कि यद्यपि आत्महत्या को प्रेरित करने वाली ये शक्तियाँ समाज में क्रियाशील रहती हैं फिर भी इनका प्रभाव किसी व्यक्ति पर तब तक नहीं पड़ता है जब तक

स्वयं व्यक्ति का व्यक्तित्व उसे अपना न ले। यही कारण है कि गरीबी अथवा दुःखी वैवाहिक जीवन के कष्ट को कुछ लोग तो सहन कर लेते हैं जबकि कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके लिए यह स्थिति असहनीय बन जाती है। उसी भाँति कुछ लोग अपने सामाजिक कर्तव्य के प्रति उदासीन हो सकते हैं पर कुछ लोग उन्हीं कर्तव्यों के प्रति इतने निष्ठावान हो सकते हैं कि अपने प्राणों की आहुति देने में भी पीछे नहीं हटते। अतः स्पष्ट है कि आत्महत्या घटित होने के लिए सामूहिक प्रवृत्ति के साथ–साथ उसके प्रति वैयक्तिक प्रति उत्तर भी आवश्यक है। दुर्खीम के अनुसार यह निश्चित ही प्रतीत होता है कि कोई भी सामूहिक भावना व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकती है यदि वे उसके प्रति पूर्णतया विमुख रहें।

दुर्खीम के उपुर्यक्त विश्लेषण से उनका आत्महत्या सम्बन्धी सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने इस विषय पर तमाम आँकड़े एकत्रित किये हैं जिसके आधार पर उनके विश्लेषण के निष्कर्ष निम्न प्रकार है–

1. आत्महत्या की दर प्रत्येक वष्र लगर्भ एक जैसी रहती है।
2. सर्दियों की तुलना में गर्मियों में आत्महत्या अधिक होती है।
3. स्त्रियों की अपेक्षा पुरूष आत्महत्या अधिक करते हैं।
4. कम आयु की अपेक्षा अधिक आयु के लोगों में आत्महत्या की दर अधिक हैं।
5. नगरों में आत्महत्यायें अधिक हैं अपेक्षाकृत गांवों के।
6. आम जनता की अपेक्षा सैनिक लोग अधिक आत्महत्या करते हैं।
7. प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी आत्महत्या अधिक करते हैं अपेक्षाकृत कैथोलिक के।
8. अविवाहित, विवाह–विच्छेद, विधवा तथा विधुर लोगों में विवाहितों की अपेक्षा आत्महत्या की दर अधिक पायी जाती है।
9. विवाहितों में भी बच्चे वालों की तुलना में वे लोग अधिक आत्महतया करते हैं, जिनके यहाँ बच्चे पेदा नहीं होते या मर जाते हैं।

12.2.1 आत्महत्या की अवधारणा : (Concept of Suicide)

सामान्य रूप से किसी व्यक्ति द्वारा अभिप्राय अपनी ही जान लेने की क्रिया आत्महत्या कहलाती है। समाजशास्त्र में इस अवधारणा को स्पष्ट करने का श्रेय ईमाइल दुर्खीम को जाता है। दुर्खीम ने अपनी पुस्तक (दि सुसाइड 1897) में बताया है कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। अतः इसमे कारणो को सामाजिक तथ्यों में खोजा जाना चाहिए। दुर्खीम के अनुसार ऐसी कोई मृत्यु जो आत्म विनाश के लिए जानबुझकर की गई क्रिया का परिणाम है। जिनमे भयंकर परिणाम के विषय मे इसे पहले से ही ज्ञान है आत्महत्या की श्रेणी में आता है। इन्होंने आत्महत्या के तीन प्रकार बताये है।

आत्महत्या से तात्पर्य व्यक्ति की वह सचेतन तथा निराशपूर्ण क्रिया है जिसमें कर्त्ता को यह ज्ञात होती है इस क्रिया के पश्चात् उसकी जान चली जायेगी। आत्महत्या सभी समाजों में पाया जाता है तथा उसके अपने–अपने कारण होते हैं। दुर्खीम के अध्ययन के पूर्व आत्महतया को मनोविज्ञान का विषयवस्तु माना जाता था व्यक्ति के मनोवृत्ति उसके सोचने की क्षमता, दबाव को सहने की उसकी सीमाएँ कई ऐसे मनोविज्ञानिक पक्ष थे जिसके आलोक में आत्महत्या का अध्ययन होता है।

दुर्खीम ने अपने अनुभव में यह देखा की फ्रांस में प्रतिवर्ष आत्महतया की दर लगभग समान है। इस अनुभव ने उन्हे प्रेरित किया की यह समझने की कोशिश की जाए की क्या इसका संबंध समाज तथा सामाजिक परिवेश से हैं इस क्रम में उन्होंने फ्रांसीसी पुलिस फाइल से आत्महत्या के 2000 केशो का अध्ययन किया तथा निश्चित और निम्न निष्कष्र पर पहुँचे–

महिला, पुरूष
ग्रामीण, शहरी
विवाहित, अविविाहित तथा तलाकशुदा
सिविलियन सैनिक
कैथलिक प्रोटेस्टेंट
सर्दी में, गर्मी में
संकेत कम ज्यादा

उपरोक्त निष्कर्ष के आधार पर दुर्खीम ने माना की आत्महत्या पर बाह्यता, बाध्यता तथा सामान्यता के नियम लागू होते हैं इसलिए इनका अध्ययन भी व्यक्ति सापेक्षिक न होकर समाज समाज सापेक्षिक होने चाहिए।

12.2.2 आत्महत्या का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning of Suicide & Defination)

दुर्खीम अपनी कृति 'आत्महत्या' में आत्महत्या को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि ''आत्महत्या वह होती है जिसमें व्यक्ति सकारात्मक या नकारात्मक रूप से ऐसा काम करता है जिसका परिणाम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वह जानता है, उसके शरीर के नष्ट होने में है। इस प्रकार एक तरफ तो दुर्खीम आत्महत्या के व्यधिकीय पहलुओं को देखते हैं, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति और समूह के सम्बन्धों को भी प्रस्तुत करते हैं। अतः दुर्खीम यह बताते हैं कि किस सीमा तक व्यक्तियों के व्यवहार को सामूहिक वास्तविकता निश्चित करती है।

आत्महत्या का सीधा सा अर्थ यह है कि व्यक्ति ने समाज के दबाव को स्वीकार नहीं किया और आत्महत्या कर ली। इस प्रकार आत्महत्या व्यक्ति और समाज के बीच के सम्बन्धों के दरार की अभिव्यक्ति है। इसीलिए दुर्खीम इसे व्यक्तिगत घटना नहीं मानते हैं बल्कि समाज द्वारा व्यक्ति को दी गयी मौत मानते हैं। इस तरह दुर्खीम यह स्थापित करते है कि आत्महत्या

एक सामाजिक तथ्य है और इसे करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं है। यह तो निश्चित रूप से समाज का दबाव है जो व्यक्ति को अपने स्वयं के शरीर को नष्ट करने के लिए बाध्य करता है।

दुर्खीम पहले समाजशास्त्री हैं जिन्होंने अपने अध्ययन 'आत्महत्या' में सांख्यिकीय पद्धति को अपनाया है। दुर्खीम का मानना है कि इन सांख्यिकीय आंकड़ों ने ही एक प्रबल सिद्धान्त के प्रतिपादन में उनकी मदद की है। अपनी पुस्तक 'आत्महत्या' की रचना उन्होंने अपनी कृति 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम' के तुरन्त बाद की, जिसकी झलक 'आत्महत्या' में साफ देखने को मिलती है। आत्महत्या को दुर्खीम ने एक सामाजिक तथ्य माना है। दुर्खीम कहते हैं कि इसमें 'बाह्यता' और 'बाध्यता' दोनों हैं। दूसरी बात यह है कि 'आत्महत्या' का अध्ययन दुर्खीम ने 'प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त' की पृष्ठभूमि में किया है। इसीलिए काफी हद तक यह एक वैज्ञानिक अध्ययन है।

दुर्खीम के आत्महत्या सम्बन्धी विवरण के आधार पर तीन प्रस्ताव रखे जा सकते हैं:–

(i) जिस भी धर्म–प्रधान समाज में एकीकरण अधिक होगा, उस समाज में उतनी ही कम आत्महत्याऐं होंगी। इसी प्रकार जिस धर्म–प्रधान समाज में एकीकरण जितना अधिक कमजोर होगा, आत्महत्याएं उतनी ही अधिक होंगी। उदाहरणार्थ–कैथेलिक धर्मावलम्बियों में, जिनमें रूढ़िवादिता होती है, धर्म का व्यक्ति पर नियंत्रण अधिक होता है और आत्महत्याएं कम होती हैं। दुर्खीम ने देखा कि प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बियों में जिनमें व्यक्ति पर अनुशासन कम होता है, आत्महत्याएं अधिक होती है। निष्कर्ष यह है कि आत्महत्या और एकीकरण में विपरती सम्बन्ध है।

(ii) जिस भी समाज में पारिवारिक और नातेदारी एकीकरण अधिक होगा, उसमें आत्महतयाएं उतनी ही कम होंगी। इसी प्रकार ऐसे समाज में जहाँ एकीकरण कम होगा, आत्महत्याएं उतनी ही अधिक होंगी। उदाहरण के लिए विकसित देशों एवं महानगरों में पारिवारिक तथा नातेदारी एकीकरण कम होने से आत्महत्याऐं अधिक देखने को मिलती हैं। ऐसे समाजों में परिवार काफी बिखरे हुए हैं। इसके ठीक विपरीत, साधारण समाजों में पारिवारिक बन्धन काफी सुदृढ़ होने से आत्महत्या दर नगण्य है।

(iii) ऐसे समाज जिनमें राजनैतिक एकीकरण तथा सुदृढ़ता अधिक है, उनमें आत्महतयाएं कम होती हैं, जबकि उन देशों में जिनमें राजनैतिक अस्थिरता है और हिंसा की घटनाएं अधिक होती हैं, आत्महत्या दर अधिक है।

यहाँ भी दुर्खीम यही पाते हैं कि एकीकरण जितना अधिक होगा, आत्महत्याऐं उतनी ही कम होंगी।

12.3 आत्महत्या के प्रकार (Type of Suicide)

दुर्खीम ने अपने समजशास्त्रीय अध्ययन में आत्महत्या के प्रकारों का वर्णन किया है और आंकड़ों के आधार पर आत्महत्या के तीन प्रकार बतायें हैं–

1. अहमवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide)
2. परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide)
3. मानकशून्यता या प्रतिमानहीनतामूलक आत्महत्या (Anomie Suicide)

दुर्खीम का यह विश्वास था कि आत्महत्या मनोवैकारकीय, मनोवैज्ञानिक या प्राकृतिक कारकों के द्वारा नहीं, बल्कि कतिपय सामाजिक कारकों के कारण ही घटित होते हैं। आत्महत्या एक सामाजिक घटना है, अतः इसको जटिल करने में सामाजिक कारक ही महत्वपूर्ण हैं। अपने इस विचार को सिद्ध करने के लिए दुर्खीम ने आत्महत्या के तीन प्रकार बतलाये हैं–(1) अहमवादी आत्महत्या (2) परमार्थी आत्महत्या और (3) अस्वाभाविक या असामान्य आत्महत्या।

12.3.1 अहमवादी आत्महत्या : (Egostic Socide)

जिन व्यक्तियों की व्यक्तिगत चेतना का तालमेल सामाजिक चेतना के साथ नहीं बैठता तथा जो अपने आप को समाज से ऊँचा समझने लगते हैं, वहीं लोग प्रायः अहंवादी आत्महत्या करते हैं। ऐसे व्यक्ति सामान्यतया स्वार्थी प्रवृत्ति के होते हैं जिसके फलस्वरूप इनका जीवन उपेक्षित एकाकी तथा तिरस्कृत हो जाता है। इस बात का एहसास होते ही समाज में रहकर भी वे तिरस्कृत हैं, आत्महत्या करने पर वे व्यक्ति मजबूर हो जाते हैं। अहंवादी आत्महत्या की घटनाएं पूरे यूरोप में मिलती हैं। दुर्खीम के अनुसार अहंवादी आत्महत्या के निम्नलिखित चार मुख्य कारण हैंः–

1. धर्म 2. शिक्षा 3. परिवार और विवाह 4. राजनीतिक अवस्था

यूरोप में तीन मुख्य धर्म मिलते हैं–(अ) कैथोलिक, (ब) प्रोटेस्टेन्ट (स) यहूदी। इन तीनों में तुलनात्मक अध्ययन से दुर्खीम ने देखा कि प्रोटेस्टेन्ट की तुलना में कैथोलिक और यहूदी धर्मों में आत्महत्या की दर बहुत कम है। अब प्रश्न यह उठता है कि यहूदी और कैथोलिक धर्मावलम्बियों के धर्म में ऐसी कौन सी बातें हैं जिनके कारण इनमें आत्महत्या दर निम्न है? इसके उत्तर में दुर्खीम कहते हैं कि यहूदी धर्म में चर्च की धार्मिक क्रियाएं यन्त्रवत् की जाती हैं तथा कैथोलिक यह स्वीकार करते हैं कि उनका धर्म बना बनाया है और उसमें कोई काट–छाँट नहीं की जा सकती। दुर्खीम आगे बताते हैं कि प्रोटेस्टेन्ट धर्म की संरचना काफी लचीली है। इनके हाथ में बाईबिल दे दी जाती है तथा उस ग्रन्थ का कोई भी अंश उन पर थोपा नहीं जाता। यहाँ व्यक्तिवाद को पूरी छूट है। इस प्रकार इन धर्मो की तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर दुर्खीम पाते हैं कि कैथोलिक और यहूदी धर्मों में रूढ़िवादिता अधिक है। व्यक्ति को किसी प्रकार की कोई स्वतन्त्रता नहीं है जबकि प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी सापेक्षिक रूप से स्वतंत्र होते हैं।

इसी कारण दुर्खीम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी धार्मिक समाज में यदि सुदृढ़ता है, जैसा कि कैथोलिक और यहूदी धर्मावलम्बियों में है तो उनमें आत्महत्या दर कम होगी। इसके विपरीत प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बियों में सुदृढ़ता की पकड़ ढीली है, इसी कारण उनमें आत्महत्या दर अधिक है।

(i) आँकड़े बताते हैं कि अधिक शिक्षा या ज्ञान प्राप्ति से आत्महत्या करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। दुर्खीम कहते हैं कि अधिक शिक्षा से समाज के सामान्य विश्वासों, संवेगों और विशेषकर धर्म की मान्यताओं में व्यक्ति की आस्था कमजोर हो जाती है। चूँकि यहूदी अधिक पढ़े–लिखे होते हैं, इस कारण उनमें आत्महत्या करने की प्रवृत्ति अधिक होती है।

दुर्खीम आगे कहते हैं कि स्त्रियों की तुलना में पुरूषों में आत्महत्या करने की दर अधिक होती है। कारण है–पुरूषों में शिक्षा का अधिक होना।

(ii) आँकड़ो के आधार पर दुर्खीम बताते हैं कि विवाहित व्यक्तियों की अपेक्षा अविवाहित व्यक्तियों में आत्महत्या की दर कम होती है। इसका कारण परिवार में बिखराव का होना है।

दुर्खीम यह भी बताते हैं कि विवाहित व्यक्तियों की तुलना में विधुर आत्महत्या अधिक करते हैं। इसका कारण यह है कि वे परिवार से अलग हुए रहते हैं तथा एकाकी जीवन उन्हें आत्महत्या के मार्ग पर ले जाता है।

(iii) दुर्खीम कहते हैं कि जब किसी देश की राजनीतिक सुदृढ़ता में कमी आती है, तब आत्महत्या–दर बढ़ जाती है। उदाहरणस्वरूप, रोम और ग्रीस में परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था में जब उतार आया, तब अपने आप उनमें आत्महत्या–दर बढ़ गयी।

लेकिन जब कोई राष्ट्र आपातकालीन अवस्था में होता है, आत्महत्या दर में अचानक कमी आ जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि कुछ समय के लिए लोगों में देशभक्ति की भावना आ जाती है जिससे एकीकरण को बढ़ावा मिलता है।

अहम्वादी आत्महत्या का तात्पर्य है व्यक्ति को अपने आप में केन्द्रित हो जाना उसका समाज से अलगाव हो जाना। वह समाज से अलग–थलग पड़ जाये। उसका सामाजिक जीवन में सहभागिता न रह जाये। मात्र वह अपने स्वार्थो की पूर्ति तक ही समाज से सम्बन्ध स्थापित करता है। ऐसी स्थिति में वह दूसरों की दृष्टि में अपना महत्व खो देता है। वह धीरे–धीरे समाज से इतना अलग हो जाता है कि अकेला पड़ जाता है। निराशायुक्त वातावरण उसे आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करती है क्योंकि उसका अलगाव प्राथमिक समूहों से भी हो जाता है तथा दूसरी भी बढ़ जाती है। इलियट एवं मैरिल ने अहम्वादी आत्महत्या के सन्दर्भ में लिखा है कि ''जब व्यक्ति और समूह का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यधिक ढीला और अप्रभावित हो, सामाजिक स्थिरता और सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में सामूहिक एकमतता की भावना टूट चुकी हो, व्यक्ति प्राथमिक समूह के सामूहिक स्वाभाविक जीवन से अलग हो चुका

हो और समाज में स्वयं को अकेला पाये। जब समूह इस रूप में टूट चुका हो तो अहम्वादी आत्महत्या की घटनायें सामाजिक रूप से पृथक् और विघटित व्यक्तियों के लिए वैयक्तिक समीकरण की समस्या को हल करने के मुख्य स्वरूपों में प्रकट होती है। दुर्खीम इस आत्महत्या के सम्बन्ध में कहते हैं कि क्योंकि अहम्वादी आत्महत्या में सामूहिक क्रिया का अभाव हो जाता है, इस प्रकार व्यक्ति उद्देश्य और अर्थ से वंचित हो जाता है।

12.3.2 परार्थवादी आत्महत्या : (Altruistic Suicide)

परार्थवादी आत्महत्या को कई बार सुखपरक आत्महत्या भी कहते हैं। दुनिया में ऐसे तमाम लोग होते हैं जो समुदाय के सुख के लिए स्वयं को बलि चढ़ा देते हैं यही परार्थवादी आत्महत्या है।

साधारण तौर पर यह माना हाता है कि अहंवादी आत्महत्या साधारण और आदिम समाजों में नहीं होती क्योंकि वहाँ व्यक्तियों की पहचान समाज से है। इन समाजों में व्यक्ति का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता, इसलिए अहंवादी आत्महत्या होने का तो प्रश्न ही नहीं है।

फिर भी इन समाजों में आत्महत्या तो होती है। यह आत्महत्या परार्थवादी होती है। दुर्खीम कहते हैं कि जब कोई स्त्री विधवा हो जाती है तब परम्परा से यह समाज इस विधवा से यह अपेक्षा करता है वह अपने पति के साथ चिंता में जल मरे। इसमें पत्नी का अपना कोई निर्णय नहीं बल्कि समाज का निर्णय होता है। विधवा यह जानती है कि यदि वह सती नहीं होगी तो उसका शेष जीवन समाज के कारण दुःखी हो जाएगा। अतः उसके सती होने का निर्णय वस्तुतः समाज का निर्णय है। समाज ऐसा समझता है कि उसके सती होने से उसकी पवित्रता बनी रहेगी। सती होना वस्तुतः आत्महत्या है। इसी प्रकार मध्यकालीन युग में स्त्रियाँ जौहर व्रत करती थीं। यह भी एक प्रकार की परार्थवाही आत्महत्या है।

दुर्खीम कहते हैं कि इन आत्महत्यों के पीछे एक बहुत बड़ा उद्देश्य अपने धर्म का पालन करना है। और यदि कोई इस धर्म का पालन नहीं करता तो समाज किसी न किसी रूप में दण्ड अवश्य देता है। अतः ऐसी आत्महत्या समाज द्वारा थोपी हुई आत्महत्या है।

दुर्खीम परार्थवादी आत्महत्या से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का हवाला देते हैं। वह कहते हैं कि अधिकारियों की अपेक्षा सामान्य सैनिकों में आत्महत्या करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। यहाँ इसका कारण व्यक्तिवाद या अहम न होकर कुछ और है क्योंकि सैनिकों को सामूहिक जीवन यापन करना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की आत्महत्या व्यक्ति केवल स्वार्थ के लिए न करके, कभी–कभी परोपकार के लिए भी करता है। यह परार्थवादी आत्महत्या है। उदाहरणार्थ जापान में समुराई सन्तों द्वारा अपने अपमान के विरूद्ध की जाने वाली सामूहिक आत्महत्या (हाराकिरी)। इसी प्रकार स्वतंत्रता आंदोलन में जब किसी सैनिक की मौत होती है, वह परार्थवादी आत्महत्या है।

परमार्थी आत्महत्या अपने लिए नहीं अपितु दूसरों के लिए या परमार्थ के लिए की गई आत्महत्या है। दुर्खीम ने परमाथ्री आत्महत्या के सम्बन्ध में लिखा है कि जब व्यक्ति ओर समाज में इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि व्यक्ति अपने को समाज में इतना घुला–मिला समझता है कि उसका व्यक्तित्व अलग रूप में कुछ भी नहीं है अपितु समाज अथवा समूह उसके व्यक्तित्व को निगल जाता है। आत्महत्या की यह वह स्थिति है जब व्यक्ति स्वयं के लिए नहीं बल्कि समाज के लिए सोचता है। समाज या समूह का हित प्रमुख होता है, समाज के कलयाण के लिए वह सब कुछ तयाग सकता है। इस प्रकार की भावना के वशीभूत होकर जो आत्महत्या की जाती है उसे ही दुर्खीम ने परमार्थवादी आत्महत्या का नाम दिया है। उदाहरणार्था, युद्ध में अपने राष्ट्र के लिए शहादत देना या बलिदान हो जाना परमार्थवादी आत्महत्या की श्रेणी में आता है। डेनमार्क के बहादुर सिपाही रोगग्रस्त होकर बिस्तर पर पड़े रहने से अच्छा आत्महत्या करना अधिक उपर्युक्त समझते हैं। इस तरह से जापानियों में पायी जाने वाली हाराकिरी पृथा और राजस्थान राजपूताना स्त्रियाँ अपने समाज का गौरव बढ़ाने के लिए आग में कूदकर आत्महत्या करती रही हैं। जिसे राजस्थान में जौहर प्रथा कहा जाता रहा है। इस प्रकार के आत्महतया के सम्बन्ध में पारसन्स ने कहा है कि ''यह वैयक्तिकता की माँग के आधार पर समूह के दबाव के रूप में सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है।'' परमार्थी आत्महतया की प्रकृति को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से दुर्खीम ने इसके प्रमुख तीन स्वरूपों का उल्लेख किया हैः–

(i) **अनिवार्य परमार्थी आत्महत्या** :– दुर्खीम के अनुसार जब व्यक्ति सामाजिक या धार्मिक काय्र के रूप में आत्महत्या करता है अथवा जब उसे ऐसा करना जरूरी हो जाता है तो इस प्रकार के आत्महत्या को परमार्थी आत्महत्या कहा जाता है। वास्तव में इसप्रकार की आत्महत्या तब होती है जबकि व्यक्ति और व्यक्तित्व समाज में विलीन हो जाता है और स्वयं का कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की अपनी इच्छा का कोई महत्व नहीं रह जात और उसे समूह या समाज की इच्छानुसार ही कार्य करना पड़ता है। समूह या समाज उसे आत्महत्या करने को भी कहता है उसे अनिवार्य रूप से करनी ही पड़ती है। जैसे भारत में पायी जाने वाली सती प्रथा इस प्रकार की आत्महत्या का सर्वोत्तम उदाहरण है।

(ii) **ऐच्छिक परमार्थी आत्महत्या** :– जब व्यक्ति परमार्थ के लिए स्वयं की इच्छा के अनुरूप आत्महत्या करता है तो उसे ऐच्छिक परमार्थी आत्महत्या कहा जाता है। उदाहरणार्थ, पालिनिशिया में एक साधारण से अपराध करने पर ही अनेक लोग आत्महत्या करने की बात सोच लेते हैं दुर्खीम के अनुसार ऐच्छिक परमार्थी आत्महत्या में समाज औपचारिक रूप से व्यक्ति से आत्महत्या की माँग नहीं करता और न ही उसे ऐसा करने के लिए विवश करता है। फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में आत्महत्या करना जनमत की दृष्टि से या नैतिक दृष्टि से

उचित माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि ऐच्छिक परमार्थी आत्महत्या के सा एक सामाजिक प्रतिष्ठा जुड़ी होती है जिसके कारण व्यक्ति आत्महत्या करने के लिए प्रेरित होता है।

(iii) उग्र परमार्थवादी आत्महत्या :– दुर्खीम के अनुसार ''इस प्रकार की आत्महत्या में व्यक्ति बलिदान का सम्पूर्ण सुख या आनन्द प्राप्त करने के लिए अपने को मार डालता है क्योंकि कोई विशेष कारण न होते हुए भी संसार से छुटकारा प्रशंसनीय माना जाता है।'' दुर्खीम ने इस प्रकार की आत्महत्याओं के अनेक उदाहरण भारतीय समाज के सन्दर्भ में दिये हैं। हिन्दू जीवन में 'मोक्ष' की धारणा इस प्रकार की आत्महत्या को प्रोत्साहित करती है।

(3) अस्वाभाविक या असामान्य आत्महत्या :– अस्वाभाविक आत्महत्या वह है जो व्यक्ति के जीवन में आकस्मिक परिवर्तनों के फलस्वरूप अस्वाभाविक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण घटित होती है। इस प्रकार की आत्महत्या उस समय घटित होती है जबकि व्यक्ति के जीवन परिस्थिति में अस्वाभाविक रूप से कोई परिवर्तन आ जाता है और व्यक्ति को उससे अनुकूलन करना होता है। यदि व्यक्ति यह अनुकूलन करने में असफल होता है तो जिस मानसिक तनाव या अशांति का वह अनुभव करता है उससे अपने को मुक्त करने के लिए आत्महत्या कर लेता है। जैसे एकाएक दिवालिया हो जाने पर, भारी आटरी आ जाने पर, अत्यधिक दुःख या खुशी में व्यक्ति द्वारा आत्महत्या कर लेना अस्वाभाविक आत्महत्या का उदाहरण है।

औद्योगिक विकास से परिणामस्वरूप एक ऐसी समाज व्यवस्था उत्पन्न होती है जिसमें परम्परागत मूल्य, आदश्र प्रतिमान, मान्यतायें आदि का विघटन होता है। इस विघटन के कारण समाज में आदर्श शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। व्यक्ति इस समाज में स्वतंत्र और मुक्त होता है। सामाजिक नियंत्रण का दबाव उस पर नहीं होता। अपने लक्ष्य को भी प्राप्त करने मे वह इस विहीन समाज में असफल रहता है। इस असफलता की निराशा उसे आत्महत्या के लिए प्रेरित करती है।

12.3.3 मानकशून्यता या प्रतिमानहीनतामूलक आत्महत्या :(Anomie Suicide)

सामाजिक जीवन में अत्यधिक विभेदीकरण तथा विशिष्टीकरण के कारण अपेक्षित सामाजिक चेतना तथा प्रकार्यात्मक निर्भरता की क्षमता का अभाव हो जाता है। व्यक्ति इन परिस्थितियों में अलग–थलग हो जाता है। दुर्खीम इसे प्रतिमानहीनता या मानकशून्यता की स्थिति कहते हैं। अतः सामाजिक पार्थक्य और समूहगत सम्बन्ध के अभाव के कारण की गयी आत्महत्या प्रतिमानहीनतामूलक आत्महत्या है।

आंकड़ों के आधार पर दुर्खीम ने आत्महत्या–दर और आर्थिक संकट में यह सम्बन्ध पाया है। आर्थिक संकट की अवधि में और इससे अधिक रोचक रूप से अनरत समृद्धि की स्थिति में आत्महत्या की दर बढ़ जाती है। एक और तथ्य के अनुसार जब राजनीतिक

घटनाओं में तीव्रता से उलटफेर होता है, तब भी आत्महत्या की दर में कमी आ जाती है। जैसे युद्धकाल में आत्महत्या की दर हो जाती है।

दुर्खीम आगे कहते हैं कि विधुर व्यक्तियों में परित्यक्त स्त्री की तुलना में आत्महत्या करने की प्रवृत्ति अधिक होती हैं। वैवाहिक जीवन में स्त्री की तुलना में पुरूष को अधिक स्वतंत्रता रहती है। तुलनात्मक रूप से स्त्रियाँ वैवाहिक जीवन में अधिक अनुशासित होती हैं जो उनके विधवापन की स्थिति में भी देखने को मिलता है, लेकिन जब व्यक्ति विधुर हो जाता है तब उसमें अनुशासनहीनता आ जाती है। उसकी इच्छाओं और संतोष में खाई आ जाती है। फलस्वरूप वह आत्महत्या कर लेता है।

दुर्खीम कहते हैं कि मानक शून्यहीनता आत्महत्या में जीवित रहने की दशाएं आधुनिक समाज में बिगड़ जाती है। ऐसे समाज में सामूहिक अस्तित्व पर रीति रिवाज का नियंत्रण नहीं रहता, व्यक्ति दिन–रात भाग–दौड़ में लगा रहता है और इस भाग–दौड़ में उसकी महत्वाकांक्षाएं और उसका संतोष धरे रह जाते हैं। व्यक्ति बेचैन हो जाता है और अंत में आत्महत्या के लिए विवश हो जाता है।

अहंमवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide) की व्याख्या करते दुर्खीम ने बाताया है कि इसका मूल कारण अहंवाद है। जब व्यक्ति अपने समूह या समाज से घनिष्ट सम्बद्ध नहीं रखता है तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को ही सर्वोपरि समझता है तो उसे अहंवाद कहते है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने समूह या समाज से अलग–थलग महसूस करता है क्योंकि वह अहंवाद की भावना से ग्रस्त होता है। वह सोचने लगता है कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज नहीं कर सकता है और न ही उसके ऊपर समाज का कोई उत्तदायित्व है। ऐसी स्थिति में वह निराश होकर आत्महत्या कर लेता है। दुर्खीम ने अपने मोनोग्राफिक अध्ययन के दौरान यह पाया कि अविवाहितों के बजाय विवाहितों पर अधिक उत्तरदायित्व होता है। अविवाहित व्यक्ति सामाजिक सामाजिक एवं भावनात्मक दोनों ही दृष्टिकोण से ज्यादा अलगाव महसूस करता है। अतः विवाहितों की अपेक्षा अविवाहितों में आत्महत्या की दर अधिक पायी जाती है। इसी तरह दुर्खीम का अन्य निष्कर्ष था कि तलाक प्राप्त स्त्रियों की अपेक्षा तलाक प्राप्त मर्दो में आत्महत्या की दर अधिक पायी जाती है क्योंकि तलाक प्राप्त मर्दों में अनुशासनहीनता अधिक बढ़ जाती है। उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति में दूरी बढ़ जाने के कारण अहंवाद का विकास तेजी से होता है। दुर्खीम का यह भी कहना है कि शांति के समय आत्महत्या की दर अधिक पायी जाती है जबकि युद्ध के समय इसमें कमी हो जाती है। इन सब निष्कर्षों के आधार पर दुर्खीम का कहना है कि अहंवाद की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति का समाज में संतुलन बिगड़ जाता है।

परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide) का आधार परार्थवाद है। जब व्यक्ति समाज या समूह से इतना घुल–मिल जाता है कि वह अपने को समाज से अलग नहीं कर पाता बल्कि सामाजिक हित में ही अपनाहित समझने लगता है तो परार्थवाद की भावना का विकास

होने लगता है। ऐसी परिस्थिति में जब समूह पर विपत्ति आती है तो वह समाज के लिए अपनी जान भी देने को तैयार हो जाता है, दूसरे शब्दों में परार्थवादी आत्महत्या उस परिस्थिति की देन है जब व्यक्ति का अपने समूह से या उसके मूल्यों से घनिष्ट संबंध होता है। हिन्दू समाज में सामाजिक मूल्यों की रक्षा के लिए हिन्दु स्त्रियों द्वारा पति की चिंता के साथ सती हो जाना परार्थवादी आत्महत्या का उदाहरण है। युद्ध के समय सैनिकों द्वारा की गई आत्महत्या को भी दुर्खीम ने इसी प्रकार की आत्महत्या माना है।

तीसरे प्रकार की आत्महत्या आदर्शविहीन आत्महत्या (Fatalistic Suicide) के लिए उत्तरदायी कारक अधिक नियंत्रण, आदर्शवादिता और कठोर नियमपालन है, जिससे तंग होकर व्यक्ति मुक्ति पाने के लिए आत्महत्या कर लेता है। उदाहरणार्थ कोई स्त्री जो संतानहीन है और समाज उसे दूसरे पुरूष से यौन संबंध स्थापित करके गर्भ–धारण को इजाजत नहीं देता है तो ऐसी स्थिति में निःसंतान जीने के बदले वह आत्महत्या कर लेना ही एक उपाय मानती है। इसी तरह, कोई गुलाम भी जब मालिकों के अत्याचार से तंग आकर आत्महत्या कर लेता था तो वह इसी श्रेणी की आत्महत्या कही जाएगी।

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आत्महत्या का सिद्धांत समाजशास्त्रीय चिंतन के क्षेत्र में दुर्खीम की एक महत्वपूर्ण देन है। दुर्खीम से पहले निराशा, मानसिक दुर्बलता आदि कारणों को ही आत्महत्या के लिए उत्तरदायी माना जाता था। परन्तु दुर्खीम ने तार्किक आधार पर इन सभी पूर्व–प्रचलित मान्यताओं का खण्डन करके आत्महत्या का समाजशास्त्रीय सिद्धांत प्रस्तुत किया और दुर्खीम ने अपने सिद्धांत में यह सिद्ध करते हुए बताया कि सामाजिक समस्याएं सामाजिक परिस्थितियों की देन है। व्यक्ति समाज की प्रतिछाया मात्र है, व्यक्ति वही करता है जो समाज उसे करने के लिए विवश करता है।

''आदर्शहीनता का अर्थ है–आदर्श के अभाव की दशा, एक नैतिक शून्यता, नियमों का निलम्बन, एक ऐसी स्थिति जिसे कभी–कभी अराजकता के रूप में व्यक्त किया जाता है।'' दुर्खीम के अनुसार असामान्य आत्महत्या न तो अहम्वादी परिस्थितियों के कारण घटित होती है और न ही इसकी प्रकृति परमार्थी आत्महत्या की भाँति होती है। इस प्रकार की आत्महत्या तब घटित होती है जब व्यक्ति के सामाजिक जीवन में होने वाले आकस्मिक व अस्वाभाविक परिवर्तन उसके कष्टों को बढ़ाते हैं जिन्हें वह सहन नहीं कर पाता और उनसे छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार की उत्पत्ति के कारण ही दुर्खीम ने इसे अस्वाभाविक या असामान्य आत्महत्या की संज्ञा दी है। दुर्खीम ने अस्वाभाविक आत्महत्या के तीन स्वरूपों की चर्चा करके यह समझाने का प्रयास किया है कि ये किस प्रकार आत्महत्या की प्रवृत्ति को बढ़ावा देते हैं। ये तीनों स्वरूप निम्न प्रकार हैं–

(i) आर्थिक अस्वाभाविकता :– दुर्खीम ने अस्वाभाविक आत्महत्या की व्याख्या के दौरान यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किा है कि आर्थिक अस्वाभाविकता की परिसिीति भी आत्महत्या की दर को बढ़ाने का कार्य करती है। जैसे दुर्भाग्यपूर्ण आर्थिक संकट द्वारा एकाएक

गरीब हो जाना अथवा एकाएक आर्थिक समृद्धि अर्थात् अमीर हो जाना। इन दोनों ही परिस्थितियों में व्यक्ति के सम्मुख एक नयी परिसिीति पैदा होती है जिसके साथ उसे अपना अनुकूलन करना आवश्यक हो जाता है और जब व्यक्ति ऐसी स्थिति में असंतुलित हो जाता है तो वह आत्महत्या भी कर सकता है।

(ii) ''पारिवारिक अस्वाभाविकता :– दुर्खीम के अनुसार पारिवारिक जीवन में अस्वाभाविकता पति या पत्नी के मृत्यु के फलस्वरूप अथवा तलाक के कारण उत्पनन हो सकती है। परिवार में पति या पत्नी के मृत्यु अाविा विवाह–विच्छेद के कारण परिवार में एक ऐसा संकट उत्पन्न हो जाता है जिसकी कल्पना पहले से ही व्यक्ति को नहीं रहती। इस संकट में उसके सम्मुख नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे कि उसे अनुकूलन करना पड़ता है। किन्तु अनेक लोग यह अनुकूलन करने में असफल रहते हैं इसलिए आत्महत्या करने को प्रेरित होते हैं।

(iii) यौन–अस्वाभाविकता :– दुर्खीम के अनुसार आर्थिक और पारिवारिक अस्वाभाविकता की तरह यौन अस्वाभाविकता भी आत्महत्या की दर में वृद्धि करती है। यौन अस्वाभाविकता की स्थिति में व्यक्ति के वैवाहिक जीवन में यौन सम्बन्धों का नियमन व नियंत्रण समाप्त हो जाता है जो कि आत्महत्या को प्रेरित कर सकता है।

12.4 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके है कि आत्महत्या को दुर्खीम ने अपनी पुस्तक (द सुसाइड 1897) में परिभाषित किया है, दुर्खीम से पहले आत्महत्या को एक व्यक्तिगत माना जाता था परन्तु दुर्खीम ने अपने आत्महत्या के अध्ययन में बताया कि यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है तो वह व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होता है। आत्महत्या के लिए समाज जिम्मेदार होता है और व्यक्ति आत्महत्या करता है।

दुर्खीम ने आत्महत्या के कुछ कारणो को भी बताया है कि आत्महत्या के प्रकारो का वर्णन किया है आत्महत्या के निम्न प्रकार बताये है–

(1) अहंमवादी (2) परार्थवादी (3) प्रतिमानहीनता आदि का वर्णन किया है। अब समाज को ही लोक आत्महत्या के लिए जिम्मेदार मानते है।

12.5 शब्दावली : (Glossary)

1. आत्महत्या :– आत्महत्या से तात्पर्य है कि व्यक्ति की वह समग्र तथा न्यायपूर्ण क्रिया है जिसमें कर्ता को यह ज्ञात होता है कि इस क्रिया के पश्चात् उसकी जान चली जाती है।

2. अहंवादी आत्महत्या :– जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्तिगत असफलता कष्ट घृणा, व्यर्थता, नुकसान आदि के कारण आत्महत्या करता है तो उसे अहमवादी आत्महत्या कहते है।

3. परार्थवादी आत्महत्या :– अहंमवादी आत्महत्या के विपरीत जब कोई व्यक्ति समाज या राष्ट्रहित में उसके भावात्मक संलग्नता के कारण आत्महत्या करता है।

4. मानक शून्यतावादी आत्महत्या :– जब समाज मे अराजकता की स्थिति आ जाती है या किफर समाज में नियम मान प1री तरह से ध्वस्त हो जाते है जिसे वह आत्महत्या करता है।

12.6 अभ्यास प्रश्न के उत्तर :
(Answer Questions of Practice)

1. जिन समाजों में अत्यधिक या अत्यन्त कम विनियमन होता है उसमे आत्महत्या की दरे अधिक होती है।

(क) दुर्खीम (ख) मर्टन
(ग) मार्क्स (घ) मैक्स वेबर

उत्तर – क

2. 'द सुसाइड' कृति किसकी है?

(क) मार्क्स (ख) मर्टन
(ग) पारसन्स (घ) दुर्खीम

उत्तर – घ

3. मानसिक उदमित्ता का सिद्धांत दिया है?

(क) गारफिंकल (ख) दुर्खीम
(ग) पारसन्स (घ) स्पेंसर

उत्तर – ख

4. ईमाइल दुर्खीम जाने जाते है?

(क) प्रकार्यवाद (ख) विनियम सिद्धांत
(ग) संघर्ष सिद्धांत (घ) प्रतीकात्मक अन्तरक्रियावाद

उत्तर – क

आत्महत्या का Concept दिया है।

(क) पारसन्स (ख) दुर्खीम
(ग) स्पेंसर (घ) मर्टन

उत्तर – ख

5. दुर्खीम के अनुसार कौन–सा समाज का वर्गीकरण नही है?

(क) यौगिक (ख) साधारण
(ग) बहुखण्डीय (घ) द्वियौगिक बहुखण्डीय

उत्तर – ख

6. अहंवादी आत्महत्या का Concept दिया है।

(क) मर्टन (ख) पारसन्स

(ग) स्पेंसर (घ) दुर्खीम

उत्तर – घ

7. **परार्थवादी आत्महत्या है।**

(क) अपने लिये करना (ख) दूसरो के लिये करना।

(ग) उर्पयुक्त दोनो (घ) इनमे से काई नही

उत्तर – क

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. **ईमाइल दुर्खीम (1896)** : द सुसाइड, पेग्विन पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
2. **लेविस ए0 कोजर (1996)** : मास्टर ऑफ सोसियोलॉजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. **अंब्राहम एम0 फ्रांसेस (1985)** : मार्डन सोसियोलॉजिकल थ्योरी, आक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी, प्रेस, दिल्ली।

12.8 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. **धर्मेन्द्र कुमार (2011)** : 'समाजशास्त्र' टाटा मैग्राहिल पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

12.9 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ आत्महत्या का समाज से क्या सम्बन्ध है?
- ✓ आत्महत्या व्यक्तिगत न होकर सामाजिक तत्व है?
- ✓ आत्महत्या की क्या विशेषताऐ है?
- ✓ आत्महत्या के प्रकारों का वर्णन करो।
- ✓ परार्थवादी आत्महत्या क्या है इसकी विशेषताऐं क्या है?
- ✓ अहंमवादी आत्महत्या क्या है इसकी विशेषतायें क्या है?
- ✓ आदर्श शून्यहीनता क्या है? इसकी विशेषताऐं क्या है?
- ✓ दुर्खीम के आत्महत्या के कारण क्या है?
- ✓ दुर्खीम के आत्महत्या के सिद्धांत का वर्णन करो।

इकाई–13 : सामाजिक सुदृढ़ता और नियमहीनता (Social Solidarity & Anomie)

इकाई की रूपरेखा

13.0 प्रस्तावना
13.1 प्रस्तावना
13.2 सामाजिक श्रम विभाजन
13.2.1 सामाजिक सुदृढ़ता की अवधारणा
13.2.2 सामाजिक सुदृढ़ता का अर्थ एवं परिभाषा
13.2.3 श्रम विभाजन के कारण
13.2.4 श्रम विभाजन के प्रकार्य
13.2.5 श्रम विभाजन के सामाजिक परिणाम
13.3 सामाजिक सुदृढ़ता के प्रकार
13.3.1 यांत्रिक सुदृढ़ता
13.3.2 सावयवी सुदृढ़ता
13.3.3 यांत्रिक समाज एवं सावयवी समाज की तुलना
13.3 सामाजिक नियमहीनता की अवधारणा एवं परिभाषा
13.4 सारांश
13.5 शब्दावली
13.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
13.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.9 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :– प्रस्तावना

- ✓ समझ पायेगे की दुर्खीम ने सामाजिक एकता और नियमहीनता क्या है?
- ✓ सामाजिक सुदृढ़ता की अवधारणा क्या है, उसे समझ पायेगे।
- ✓ दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन क्या है, समझ पायेगे।
- ✓ समाज के सामाजिक सुदृढ़ता के प्रकारो को समझ पायेगे।
- ✓ यांत्रिक सुदृढ़ता से आप क्या समझते है?
- ✓ सावयवी सुदृढ़ता से आप क्या समझते है?
- ✓ यांत्रिकी एवं सावयवी सुदृढ़ता में क्या अन्तर है?

✓ नियमहीनता से आप कया समझते है?

13.1 प्रस्तावना : (Introduction)

दुर्खीम ने सामाजिक एकता, जिसे सामाजिक संश्लिष्टता भी कहा जाता है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम अपनी पुस्तक ''दि डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी'' में किया है। दुर्खीम के द्वारा इस पुस्तक में मानव कैसे साधारण समाज या (पुरातन समाज) से आधुनिक समाज की तरफ बढ़ा है। कैसे उसका श्रम विभाजन अलग–अलग समाज में था। दुर्खीम के अनुसार समाज में सामूहिकता एवं व्यक्तिवादिता के प्रकार की भावनाऐं एक साथ देखने को मिलती है। मानव समाज के दोनो प्रकार की प्रक्रियाऐं देखी जा सकती है। वहाँ मिल–जुलकर कार्य करने की प्रवृत्ति भी है और न मिलकर कार्य करने की भी। सामाजिक व्यवस्था के अनुसार अपने आपको ढालना, उसी के अनुसार व्यवहार करना, अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखना आदि व्यक्तियों के बहकावे से एक व्यवहार भी सामान्य संरचना अथवा प्रतिमान बनता है जो सामाजिक एकता को प्रकट करता है।

13.2 सामाजिक श्रम विभाजन : (Social Division of Labour)

दुर्खीम ने इस विचारधारा का उल्लेख ''सोशल डिजीवन ऑफ लेबर'' के द्वितीय खण्ड में किया। दुर्खीम के अनुसार प्राचीनकाल में श्रम विभाजन स्त्री पुरूष के भेद पर आधारित था। प्रायः सभी मिलकर काम करते थे। यहाँ श्रम विभाजन नही था। अतः विशेषीकरण होने का प्रश्न ही नही उठता। दुर्खीम के अनुसार इस प्रकार के समाज में यांत्रिक एकता थी क्योंकि सभी लोग सामूहिक रूप से बँधे होते थे।

सभ्यता के विकास के साथ–साथ सामाजिक उत्पादन कार्यो में विविधता अनुभव की गयी। इस श्रम विभाजन ने प्राचीन समाजों में पायी जाने वाली भौतिक एकता को सावयवी एकता में बदल दिया। जब समाज की विभिन्न इकाइयों में कार्यों का विभाजन होते हुए भी वे एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते हैं और उमें अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता बनी रहती है तब सावयती एकता उपस्थित होती है। दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन का सीधा सम्पर्क जनसंख्या के घनत्व से है।

प्राचीनकाल में अल्प जनसंख्या थी इसीलिए सामाजिक कार्य भी सीमित थे। अतः श्रम विभाजन की विशेष जरूरत नहीं थी। जनसंख्या में वृद्धि के साथ–साथ सामाजिक आवश्यकता भी बढ़ी। आर्थिक उत्पादन बड़े पैमाने पर होना आवश्यक हो गया। इसलिए श्रम विभाजन लागू करना आवश्यक हो गया। जनसंख्या में वृद्धि श्रम विभाजन का एक प्रमुख कारण है।

दुर्खीम की सर्वप्रथम पुस्तक ''दि डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी'' ही है जोकि 1893 में फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुई तथा बाद में 1933 में उसका अंग्रेजी में अनुवार किया गया। वास्तव में, दुर्खीम की यह पुस्तक सामान्य जीवन के तथ्यों का वैज्ञानिक विधि द्वारा विश्लेषण का प्रथम प्रयास था। इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा इनको अर्थशास्त्री एडम स्मिथ के विचारों से मिली।

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने जब श्रम–विीाजन के बारे में अपने विचार प्रस्तुत किये जो दुर्खीम का ध्यान इस तरफ केन्द्रित हुआ। एडम स्मिथ ने श्रम–विभाजन को आर्थिक घटना के रूप में दखते हुए इसके दो प्रमुख परिणामों–उत्पादन में वृद्धि तथा वस्तुओं की श्रेणी में श्रेष्ठता का उल्लो किया। परन्तु दुर्खीम ने श्रम–विभाजन को एक सामाजिक तथ्य के रूप में देखते हुए इसके प्रमुख सामाजिक परिणाम–समाज में एकता बनाए रखने पर बल दिया। इससे हमें यह पता चलता है कि एक विषय के विकास से किस प्रकार अन्य विषय भी प्रभावित होते है।

दुर्खीम श्रम–विभाजन पर लिखी अपनी इस पुस्तक की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से विकासवादी विचारधारा का ही खण्डन नहीं करते अपितु इस बात पर भी बल देते है कि समाजशास्त्र का उद्देश्य समाज सुधार नहीं है। वह नैतिकता को भी वैज्ञानिक आधार पर समझने के पक्ष में थे।

श्रम विभाजन केवल आर्थिक जगत तक ही सीमित नहीं है अपितु आज समाज के सभी क्षेत्रों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। इसी के परिणामस्वरूप आज राजनीतिक, प्रशासनिक तथा न्यायायिक कार्य अधिकाधिक विशेषीकृत होते जा रहे है। श्रम–विभाजन से अभिप्राय कार्यो (भूमिकाओं) का वितरण है। जैसे–जैसे विभाजन बढ़ता जाता है कार्यो में विशेषीकरण आता जाता है। दुर्खीम का कहना है कि श्रम–विभाजन का अभिप्राय केवल भूमिकाओं में विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण नहीं है अपितु इन भूमिकाओं में समन्वय भी है। प्राचीन समाजों में श्रम–विभाजन न के बराबर था तथा लोगों में केवल लिंग के आधार पर ही थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाता था परंतु अधिक विशेषीकरण नहीं था। इसलिए प्राचीन समाजों में सामाजिक एकता का आधार समानता था। परन्तु जैसे–जैसे समाज में जटिलता आती जाती है तथा समाज परमपरा से आधुनिकता की ओर बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे कार्यो में वितरण बढ़ता जाता हैं। इससे कार्यो में विशेषीकरण बढ़ता जाता है तथा इस विशेषीकरण के कारण समाज के व्यक्ति एक–दूसरे पर आश्रित होते जाते है। इस प्रकार, समाज में रहने वलो व्यक्तियों में अन्योन्याश्रितता बढ़ती जाती है। इसलिए आधुनिक समाजों में सामाजिक एकता का प्रमुख आधार श्रम–विभाजन (अर्थात् विशेषीकरण तथा अन्योन्याश्रितता) है। दुर्खीम ने इन दोनों प्रकार संश्लिष्टता अथवा एकता के लिए क्रमशः यान्त्रिक एकता तथा सावयविक एकता शब्दों का प्रयोग किया है।

यांत्रिक एकता प्राचीन समाजों में पायी जाती है। यांत्रिक शब्द यंत्र से बना है। जिस प्रकार किसी एक यंत्र द्वारा उत्पादित सभी वस्तुएँ एक जैसी होती है ठीक उसी प्रकार प्राचीन समाजों के व्यक्ति एक जैसे होते हैं अर्थात् एक जैसी भूमिकाएँ निभाते हैं।

13.2.1 सामाजिक सुदृढ़ता की अवधारणा :
(Concept of Social Solidarity)

दुर्खीम ने सामाजिक एकता का विश्लेषण अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Social devision of Labour in Society" के प्रथम भाग के किया है, दुर्खीम के अनुसार सामाजिक जीवन में सामूहिकता एवं व्यक्तिवादीता एक साथ देखी जा सकती है। व्यक्ति अपने कार्य क्षेत्र में स्वतन्त्र है किन्तु वह ऐसा कोई कार्य नही करता जिससे समूह को हानि पहुँचे। समाज में मिलजुलकर कार्य करने की प्रवृत्ति भी है और नही करने की भी प्रवृत्ति है। दुर्खीम सामाजिक एकता को समाज के लिए विधेयक मानते है।

दुर्खीम ने सामाजिक एकता का विश्लेषण अपनी प्रख्यात कृति के प्रथम भाग में किया है। दुर्खीम का सामाजिक एकता का विश्लेषण समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक जीवन में सामूहिकता और व्यक्तिवादिता दो प्रकार की भावनायें एक साथ देखी जा सकती हैं। व्यक्ति अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र है किन्तु वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे समूह अथवा अन्य किसी को हानि पहुँच सके। सामाजिक एकता का सिद्धान्त दुर्खीम के श्रम विभाजन की अवधारणा में देखने को मिलता है। मानव समाज में दोनों प्रकार की प्रक्रियायें देखी जा सकती हैं। वहाँ मिल–जुलकर कार्य करने की प्रवृत्ति ाी है और न मिलकर कार्य करने की भी। सामाजिक व्यवस्था के अनुसार अपने आपको ढालना, उसी के अनुसार व्यवहार करना, अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखना आदि व्यक्तियों के व्यवहारों से एक व्यवहार की सामान्य संरचना अथवा प्रतिमान बनता है जो सामाजिक एकता को प्रकट करता है। इसके विपरीत कार्यो की विभिन्नतायें जो श्रम विभाजन में देखने को मिलती है वे व्यक्तियों को परस्पर निकट भी लाती है और मिलकर कार्य करने की प्रेरणा भी देती है तथा दबाव भी डालती है। अन्ततः इनमें एक प्रकार की सामाजिक एकता की भावना परिलक्षित होती है। दुर्खीम के शब्दों में ''प्रथम एकता तब ही सम्भव होती है जब व्यक्ति का व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व में समाहित हो जाता है और दूसरी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का अस्तित्व अलग–अलग मान्य हो जाता है।'' अतः सामाजिक एकता के दो भिन्न रूप में–प्रथम यान्त्रिक एकता तथा द्वितीय सावयवी एकता, जिसकी विवेचना अग्रलिखित रूप से की जा रही है।

13.2.2 सामाजिक सुदृढ़ता का अर्थ एवं परिभाषा : (Meaning of Social Solidarity & Defination)

दुर्खीम के शब्दो में ''प्रथम स्थिति में सामाजिक एकता तब ही सम्भव है तब व्यक्ति का व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व से समाहित हो जाता है और दूसरी स्थिति तब उत्पन्न छोटी है, जब प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का अस्तित्व अलग–अलग मान्य हो।

सामाजिक एकता की प्रकृति के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि एकता एक अमूर्त अवधारणा है क्योंकि स्वयं सामने नही देखा जा सकता है। सामाजिक एकता एक सापेक्ष अवधारणा है, दुर्खीम ने श्रम विभाजन को भी एक सामाजिक तथ्य के रूप में देखा है।

13.2.3 श्रम विभाजन के कारण : (Factor of Division Labour)

दुर्खीम ने इस श्रम–विभाजन के दो कारणों का उल्लेख किया है–

1. जनसंख्या के भौतिक घनत्व में वृद्धि तथा
2. जनसंख्या के नैतिक घनत्व में वृद्धि।

दुर्खीम के अनुसार प्रारम्भ में मानव समाज में जनसंख्या कम भी थी। फलतः सदस्यों की आवश्यकताएँ भी कम एवं समान थी और उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। सभी व्यक्ति सभी कार्यो को करते हुए अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम थे और श्रम–विभाजन का प्रायः अभाव सा था परन्तु यह व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चली। जनसंख्या में वृद्धि के साथ लोगों की आवश्यकताएं बढ़ी और इनकी पूर्ति के साधन कम पड़ गये। फलतः प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष का उद्गीव हुआ और समाज का नैतिक दायित्व बढ़ गया (नैतिक घनत्व में वृद्धि)। समाज का यह नैतिक उत्तरदायित्व बन गया कि बढ़े हुए लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने और प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की जगह सामंजस्य स्थापित करने हेतू उनके बीच कार्यो का बँटवारा किया जाए। समाज की इसी आवश्यकता ने श्रम–विभाजन एवं उस पर आधारित सहयोग और सामंजस्य को उत्पन्न किया। सर्वप्रथम श्रम–विभाजन लिंग एवं आयु के आधार पर होता था, परन्तु बाद के समाजों में श्रम–विभाजन परिवार एवं अन्य व्यवसायों के आधार पर होता चला गया जिसका जटिल स्वरूप आद्योगिक समाज में दृष्टिगत हुआ।

दुर्खीम श्रम विभाजन के कार्य (अथवा प्रकार्य) को बताने से पहले प्रकार्य शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं। वह 'उद्देश्य' अथवा 'लक्ष्य' शब्द का प्रयोग न करके प्रकार्य शब्द का प्रयोग करना अधिक उचित समझते हैं। दुर्खीम के अनुसार–''प्रकार्य शबद को दो काफी विभिन्न अर्थो में प्रयोग किया है। कई बार प्रकार्य शबद किसी क्रिया अथवा प्राणमय गतिविधियों की व्यवस्था का बोध बिना इनके परिणामों के कराता है, जबकि कई बार इसके द्वारा इन गतिविधियों तथा

जीवन की आवश्यकताओं में संबंध का ज्ञान होता है।'' उदाहरण के लिए हम पाचन प्रक्रिया अथवा श्वसन प्रक्रिया को ले सकते हैं। इन प्रक्रियाओं के परिणाम से हमारा कोई तात्पर्य नहीं रहता। परन्तु दुर्खीम प्रकार्य शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में करते हैं। प्राचीन प्रक्रिया से जो रस निकलते हैं यदि उनसे शरीर की खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त हो जाती है तो पाचन प्रक्रिया का प्रकार्य ठीक है और यदि नहीं प्राप्त होती तो पाचन प्रक्रिया में कोई दोष है।

श्रम–विभाजन का कार्य सभ्यता का निर्माण करना नहीं है अपितु इसका कार्य मुख्यतः समूहों तथा व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधकर समाज में एकता लाना है तथा समूहों और व्यक्तियों में यह एकता श्रम–विीाजन के बिना नहीं आ सकती। दुर्खीम सामाजिक एकता के दो प्रकार बताते हैं–यांत्रिक एकता तथा सावयविक एकता। प्राचीन समाजों में श्रम–विभाजन न के बराबर है तथा केवल लिंग एवं आयु के आधार पर थोड़ा बहुत श्रम–थ्वभाजन देखा जा सकता है। इस प्रकार के समाजों में पाई जाने वाली एकता को दुर्खीम यान्त्रिक एकता की संज्ञा देते हैं। आधुनिक समाजों में कार्यो का वितरण तथा विशेषीकरण पाया जाता हैं। इस विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण के कारण समाज की विभिन्न इकाइयों में अर्न्तसंबंध और अर्न्तनिर्भरता अत्यधिक बढ़ जाती है इन कार्यो में समन्वय होने के कारण सावयविक एकता आती है। अतः श्रम–विभाजन समाज के एक अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता को पूरा करता है अर्थात् समाज में एकता जाने में सहायता देता है।

दुर्खीम का कहना है कि श्रम–विभाजन का कारण समाज के नैतिक घनत्व में वृद्धि है जिसका सूचक भौतिक घनत्व है। समयानुसार खडात्मक प्रकार की संरचना का लोप होना शुरू हो जाता है और सामाजिक आयतन में वृद्धि होनी शुरू हो जाती है। इस प्रकार समाजों के आयतन तथा घनत्व में वृद्धि द्वारा भौतिक घनतव बढ़ता है जिसके द्वारा यान्त्रिक रूप से श्रम–विभाजन की प्रगति निर्धारित होती है तथा अस्त्वि के लिए संघर्ष शुरू हो जाता है। इसके कारण अधिक उत्पादन तथा अच्छी वस्तुओं की माँग बढ़ने के साथ–साथ विशेषीकरण भी बढ़ने लगता है। दुर्खीम का कहना है कि श्रम–विभाजन तथा विशेषीकरण तभी विकसित हो सकता है जबकि व्यक्तिगत भिन्नताएँ बढ़ जाती हैं।

दुर्खीम स्पेन्सर के इस सिद्धांत से सहमत नहीं है कि आयतन में वृद्धि व्यक्तिगत भिन्नताओं को बढ़ावा देती है। इनका कहना है कि भिन्नताओं का बढ़ना श्रम–विभाजन का विरोधी है। भिन्नताओं को बढ़ावा देती हैं इनका कहना है कि भिन्नताओं को बढ़ावा देती है। इनका कहना है कि भिन्नताओं का बढ़ना श्रम–विभाजन का विरोधी है। इस प्रकार, दुर्खीम श्रम–विभाजन की दशाएँ भौगोलिक पर्यावरण में नहीं अपितु सामाजिक संबंधों में देखते हैं। इनका कहना है कि पैतृकता श्रम–विभाजन के विकास में एक बाधा है।

13.2.4 श्रम विभाजन के प्रकार्य : (Function of Division Labour)

दुर्खीम ने श्रम विभाजन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण करते हुए इसको सामाजिक एकता लाने वाली शक्ति के रूप में दर्शाया है और इसके संदर्भ में सामाजिक एकता के दो स्वरूपों की चर्चा की है। यांत्रिक एकता तथा सावयवी एकता।

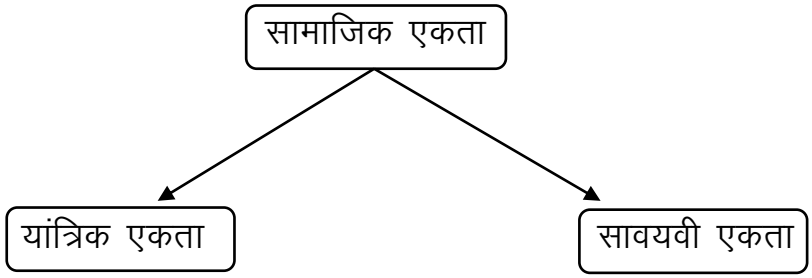

दुर्खीम के अनुसार प्रारंभिक समाज का स्वरूप सरल एवं समरूप था, आवश्यकताएं कम एवं समान थी और सभी लोग हर प्रकार के काम कर लेते थे। श्रम–विभाजन एवं विशेषीकरण की सरल प्रकृति के कारण समाज से अलग व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्व प्राप्त नहीं था और सामूहिक चेतना (समाज के सामान्य विश्वास एवं संवेग) का व्यक्ति पर प्रभाव प्रबल था क्योकि व्यक्ति और समाज के बीच प्रत्यक्ष संबंध था। फलतः व्यक्ति लोक–प्रथाओं, जनमत, परम्पराओं और धर्म के नियंत्रण में यंत्रवत कार्य करते थे तथा सामाजिक एकता बनी हुई थी। एकता के इस स्वरूप को दुर्खीम ने यांत्रिक एकता (समरूपता पर आधारित एकता) की संज्ञा दी है। ऐसे समाज में व्यक्ति द्वारा किया गया सामाजिक नियमों का उल्लंघन या अपराध पूरे समूह अथवा समाज के विरूद्ध अपराध माना जाता था और इस अपराध का बदला अपराधी से पूरा समाज या समूह लेता था और इस रूप में यहा दमनकारी कानून प्रचलित था।

परन्तु जनसंख्या में वृद्धि के साथ श्रम–विभाजन एवं विशेषीकरण अस्तित्व में आया। फलतः समूह से पृथक व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्व प्राप्त हुआ, (व्यक्तिवाद में वृद्धि हुई) और व्यथ्कत पर सामुहिक चेतना का प्रभाव कमजोर होता चला गया। बावजूद इसके दुर्खीम का कहना है कि सामाजिक एकता भंग नही होती है और एकता का एक नया स्वरूप उभरकर सामने आ जाता है जिसे दुर्खीम ने सावयवी एकता की संज्ञा दी है और आधुनिक औद्योगिक समाज का लक्षण बताया है। चूंकि यहां बढ़ता हुआ श्रम–विभाजन एवं विशेषीकरण पारस्परिक निर्भरता को बढ़ाता है, फलतः इस पारस्परिक निर्भतर एवं अनुबंधों पर आधारित एक नए प्रकार के सहयोग का जन्म होता है, जिससे सामाजिक एकता बनी रहती है। दुर्खीम कहता है कि ऐसे समाज में व्यक्ति द्वारा किया गया अपराध संपूर्ण समाज के विरूद्ध अपराध न मानकर व्यक्ति के विरूद्ध अपराध माना जाता है तथा व्यक्ति को पुनः समाज का सामान्य बनाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार इन समाजों में प्रतिकारी कानून का प्रचलन होता है।

इस तरह दुर्खीम के अनुसार ''श्रम विभाजन'' के वल एक आर्थिक घटना न होकर एक सामाजिक घटना है जो आधुनिक विभेदीकृत समाज में एकता का प्रमुख स्रोत है और यह कई रूपों में समाज हेतू प्रकार्यकारी भूमिका अदा करता है।

श्रम विभाजन के कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक प्रकार्यों को निम्नरूपेण देखा जा सकता है–

1. इसमें व्यक्ति को कोई विशेष कार्य करना होता है जिससे व्यक्ति उस कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त करता है और कार्य का श्रेष्ठ सम्पादन सम्भव होता है।
2. श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण से नीवन आविष्कारों की सम्भावनाऐं बढ़ती हैं तथा प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है।
3. इसमें सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर अंतः सम्बन्ध एवं अन्तः निर्भता (सावयवी एकता) बनी रहती है।
4. यह पारस्परिक निर्भरता को बढ़ाकर व्यक्ति को दूसरों के लिए सोचने को बाध्य करता है फलतः व्यक्तिवादी प्रवृत्ति घटती है व सामाजिक एकता को बढ़ावा मिलता है।
5. यह व्यक्तिग्त गुण एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बढ़ाता है।

इससे जीवित रहने के लिए किया जाने वाला संघर्ष सरल हो जाता है, क्योंकि इससे कार्य की गुणवत्ता में वृद्धि होती है। यह मशीनी और बृहद् उत्पादन को प्रोत्साहित करता है, जिससे समाज को सस्ती एवं पर्याप्त वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं। इससे उत्पादन के तरीके में वैज्ञानिकता आती है जिससे समय एवं धन दोनों की बचत होती है।

13.2.5 श्रम विभाजन के सामाजिक परिणाम :

(Social Result of Division Labour)

- समाज में सावयवी एकता एवं संगठन का उदय।
- श्रम का विशेषीकरण।
- व्यक्तिवादी गुण और व्यक्तिवादी स्वतंत्रता को महत्व।
- समाज का अनेक हित समूहों तथा व्यावसायिक समूहों में विभाजन।
- यह एक गतिशील धारणा है, जिसमें प्रगति के तत्व निहित है।
- समाज में आपसी भेदभाव का उत्पन्न होना।
- समाज में व्यक्ति की परस्पर निर्भतर में वृद्धि।
- अधिक धन तथा उच्च जीवन स्तर प्राप्ति की इच्छा में वृद्धि

दुर्खीम कालीन यूरोप में औद्योगिक समाज का विकास हो चुका था और श्रम–विभाजन उस समाज की एक प्रमुख आर्थिक घटना के रूप में चर्चा का विषय था जिसका विश्लेषण दो

रूपों में किया जा रहा था–एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्री किसी समाज के आर्थिक विकास एवं उत्पादकता में वृद्धि हेतू श्रम–विभाजन को आवश्यक मान रहे थे तो कार्ल मार्क्स श्रम–विभाजन की घटना को असमानता में वृद्धि एवं श्रमिकों में अलगाव के लिये उत्तरदायी ठहरा रहे थे।

इमाईल दुर्खीम ने व्यक्ति एवं समाज के बीच संबंध और सामाजिक एकता की समस्या पर विचार करते हुए औद्योगिक समाज की प्रमुख घटना श्रम–विभाजन को सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया है और मार्क्स के विचारों के विपरीत न केवल इसका प्रकार्यवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है बल्कि इसके माध्यम से व्यक्ति एवं समाज के मध्य संबंधों तथा सामाजिक एकता की समस्या पर भी अपने विचारों को रखा है।

सामान्यतः श्रम–विभाजन से तात्पर्य ''किसी भी स्थायी संगठन में मिलजुलकर काम करने वाले व्यक्ति या समूहों द्वारा भिन्न किंतु समन्वयात्मक क्रियाओं के संपादन से है।'' परन्तु अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त उपरोक्त अर्थ से भिन्न दुर्खीम के अनुसार श्रम–विभाजन का आर्थ ''सामाजिक विभेदीकरण'' है जो व्यवसाय के विभेद एवं औद्यागिक क्रियाकलापों के बहुगणन से संबंधित है। यह विभाजन पूरे समाज की रचना करता है और आर्थिक श्रम–विभाजन इसकी अभिव्यक्ति मात्र है।

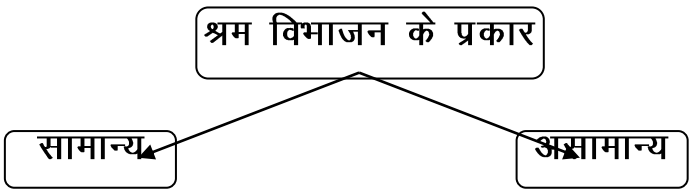

दूर्खीम का मानना है कि श्रम–विभाजन का सामान्य स्वरूप ही समाज में उच्चतर एकता कायम करने में सहायक हो सकता है। यदि समाज में असामान्य प्रकार का श्रम–विभाजन हो रहा है (जैसा कि तत्कालीन यूरोप में हो रहा था) तो वह समाज के लिये दुष्प्रकार्यात्मक होता है। इस तरह दुर्खीम ने श्रम–विभाजन को दो रूपों में बांटा हैं–

1. सामान्य श्रम–विभाजन – श्रम विभाजन का वह रूप जो सामाजिक एकता में वृद्धि करता है, सामान्य श्रम–विभाजन है।
2. व्याधिकीय या असामान्य श्रम–विभाजन–श्रम–विभाजन का वह रूप जो सामाजिक एकता को कमजोर करता है, वह असामान्य श्रम–विभाजन है।

दुर्खीम ने असामान्य श्रम–विभाजन के दो रूपों की पहचान की है– 1. अप्रतिमानित श्रम–विभाजन (Anomic division of labour) 2. विवशतामूलक श्रम–विभाजन (Forced division of labour)

जब श्रम–विभाजन को बिल्कुल अतिवादी ढ़ग से लागू किया जाए जिससे मजदूर पूरी उत्पादन प्रक्रिया से अलग हो जाता है और कर्मचारी तथा मालिक के बीच स्थाई तौर पर अलगाव उत्पन्न हो जाता है दुर्खीम ने इसे अप्रतिमानिक श्रम–विभाजन कहा है।

जब किसी वैकल्पिक रोजगार के अभाव में मजदूर कोई भी कार्य करने को मजबूर हो जाता है। (जैसे–दास प्रथा, बंधुओ मजदूरी आदि) तो दुर्खीम इसे विवशतामूलक श्रम–विभाजन कहता है। आधुनिक औद्योगिक समाज में नौकरी की जरूरत और व्यावसायिक योग्यता के बीच तालमेल के अभाव के कारण भी यह समस्या उत्पन्न होती है।

इस तरह, दुर्खीम अपने विश्लेषण में श्रम–विभाजन के नकारात्मक पहलुओं को भी रेखांकित करता है और कहता है कि कभी–कभी श्रम–विभाजन की चरम स्थिति कई समस्याओं को जन्म देती है, जैसे–(1) व्यक्तिवाद का विकास, (2) सामूहिक एवं पारस्परिक निर्भता की भावना का ह्रास, (3) प्रतिमानहीनता आदि।

दुर्खीम ने असामान्य श्रम–विभाजन की समस्या से समाधान हेतु निम्नलिखित सुझावों को प्रस्तावित किया है–

1. व्यावसायिक संघों एवं निकायों का गठन किया जाए जिससे मजदूरों के बीच नियमित सम्पर्क कायम रहे। ये संघ अलगांव की समस्या का समाधान दो तरह से कर सकते हैं–प्रथम, ये विभिन्न व्यक्तियों को अपने संघ की सदस्यता प्रदान कर उन्हें सामाजिक समूह से जोड़ेंगे जिससे सामाजिक नियंत्रण सीापित हो सकेगा और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को रोका जा सकेगा। दूसरे, ये संघ एक आचरण संहिता बनाऐंगें जिसमें उनके अधिकार और पूरे समुदाय के प्रति जिम्मेदारियों का वर्णन होगा।
2. एक ऐसी एजेंसी का निर्माण किय जाए जिसके द्वारा मजदूरों और नियोक्ताओं के बीच होने वाले विवादों को शांत किया जा सके तथा
3. विवशतामूलक श्रम–विभाजन से उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए मजदूरों के बीच सामान्य व्यावसायिक शिक्षा और तकनीकी प्रशिक्ष्ज्ञण के अवसरों का विस्तार किया जाए।

13.3 सामाजिक दृढ़ता के प्रकार : (Type of Social Solidarity)

दुर्खीम समाजों को मुख्यतया अविभेदीकृत (Undifferentiated) और विभेदीकृत (Differentiated) श्रेणियों में रखते हैं। अविभेदीकृत समाज यांत्रिक (Mechanical) समाज है जबकि विभेदीकृत समाज सावयवी (Organic) समाज है। इन दोनों समाजों में, दुर्खीम उन कारकों को जानना चाहते हैं जिनके कारण इनकी एकता और सुदृढ़ता बनी रहती है। दुर्खीम की जिज्ञासा इसलिए भी है क्योंकि दानों में श्रम–विभाजन बिल्कुल भिन्न होने के बावजूद भी दोनों में ही

सुदृढ़ता पायी जाती है। इसलिए दुर्खीम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रम–विभाजन समाज के सदस्यों में सम्बद्धता (Cohesion) लाता है।

विभिन्न समाजों में मौजूदा सुदृढ़ताओं का तुलनात्मक अध्ययन करके दुर्खीम पूरे समाज को सुदृढ़ता के आधार पर दो भागों में बांटते हैं–यांत्रिक सुदृढ़ता और सावयवी सुदृढ़ता।

13.3.1 यांत्रिकी सुदृढ़ता : (Mechanical Solidarity)

यांत्रिक समाज वस्तुतः अविकसित या आदिम समाज है। आदिम समाजों में उनका संगठन छोटे आकार का होता था। उसकी आवश्यकताएं बहुत कम थी और लगभग एक सी थीं। भिन्नताऐं नहीं के बराबर थीं। यहाँ सदस्यों में मानसिक तथा वास्तविक आधारपर अत्यधिक समानता थी। साथ ही उन पर परम्परा, धर्म आदि का भाव रहता था। इन सबके फलस्वरूप उस समय व्यक्तिगत समानता के आधार पर एक ठोस एकता होती थी। इस ठोस एकता को ही दुर्खीम ने यांत्रिक एकता कहा है क्योंकि उस समय सब लोग जनमत, परम्परा, धर्म और राजा के दबाव से आँख मूँदकर या यन्त्रवत् कार्य करते थे। इसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व मिट जाता था और वह समाज के साथ यन्त्रवत् सोचता, काम करता और आदेशों का पालन करता था। इसीलिए इसे यांत्रिक समाज कहते हैं।

इसे यांत्रिक समाज क्यों कहा गया? इसे हम एक वृत्त की मदद से भी समझ सकते हैं। इस समाज को स्थापित करने वाले विभिन्न अवयवों जैसे, राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था आदि को हम वृत्तखण्डों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ये भिन्न वृत्तखण्ड सजातीय (Homogenious) होते हैं तथा उस सामाजिक संरचना का अभिन्न हिस्सा होते हैं। ये इस प्रकार एक दूसरे के ऊपर आरोपित रहते हैं कि इन्हें एक दूसरे से अलग कर पाना नामुंमकिन होता है। इसलिए ये सब वृत्तखण्ड (अवयव) मिलकर एक सांस्कृतिक इकाई (Cultural Unit) का निर्माण करते हैं, जिससे समाज में एक प्राकृतिक सजातीयता आ जाती है और सभी लोग एक जैसे दिखते हैं तथा एक निश्चित परम्परा, विश्वास के आधार पर काम करते हैं। इसलिए यह यांत्रिक समाज है।

इन समाजों में श्रम–विभाजन नाममात्र का होता है जैसे उम्र और लिंग के आधार पर। मूलतः यह समाज गोत्रों (Clans) पर आधारित था जो अविकसित समाजों में एक प्राकृतिक सजातीयता आ जाती है और सभी लोग एक जैसे दिखते हैं तथा एक निश्चित परम्परा, विश्वास के आधार पर काम करते हैं। इसीलिए यह यांत्रिक समाज है।

इन समाजों में श्रम–विभाजन नाममात्र का होता है जैसे उम्र और लिंग के आधार पर। मूलतः यह समाज गोत्रों (Clans) पर आधारित था जो अविकसित समाजों में बहुलता में पाये

जाते थे, लेकिन विकास की प्रक्रिया में ये समाज गोत्रों के अलावा क्षेत्रीयता के आधार पर भी बढ़ने लगे। परिणामस्वरूप समाज के वर्गीकरण का आधार केवल संगोत्रता सम्बन्ध नहीं रहा बल्कि क्षेत्रीयता भी हो गया। दुर्खीम समूहवाद की अवधारणा को यांत्रिक एकता में भी प्रयोग करता है। उसका कथन है कि आदिकालीन समाज यांत्रिक एकता में बंधा हुआ था किन्तु धीरे–धीरे परिस्थितियों के बदलने के साथ इस यांत्रिक एकता का स्वरूप बदलकर आधुनिक समाज में सावयवी एकता के रूप में स्पष्ट हो गया है। इस परिवर्तन को समझने के लिए आदिकालीन और आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा। आदिकालीन समाजों मे उसका संगठन छोटे आकार का होता था, आवश्यकतायें सीमित थी। और वह भी सभी सदस्यों की आवश्यकतायें प्रायः समान होती थीं, उनके सामाजिक–आर्थिक कार्य, जीवन के ढंग, आचार–विचार धारणा आदि में भिन्नतायें बहुत कम थीं। लेकिन उनके सदस्यों में मानसिक तथा नैतिक आधार पर अत्यधिक समानता थी। साळी ही उन पर जनमत, परम्परा और धम्र आदि का दबाव रहता था। इन सबके परिणामस्वरूप उस समय व्यक्तिगत समानता के आधार पर एक ठोस एकता होती थी, क्योंकि सामाजिक या वैयक्तिक जीवन के किसी भी पहलू में उल्लेखनीय भिन्नतायें शायद ही मिलती हो। इस ठोस एकता को ही दुर्खीम ने यांत्रिक एकता कहा है क्येांकि इस समय सभी लोग जनमत, परम्परा, धर्म और राजा के दबाव से आँख मूंदकर या यंत्रवत् कार्य करते रहते थे। इन जनमत, परम्परा आदि का प्रभाव इतना होता था कि व्यक्ति के रूप में किसी का भी कोई महत्व नहीं था, उसके अपने व्यक्तित्व का अस्तितव तक मिट जाता था। वह समाज के साथ यंत्रवत् सोचना, काय्र करना और आदेशों का पालन करता था। इस समूह की एकता यंत्रों के पुर्जो की तरह जुड़ी और परस्पर बँधी होती है। जैसे मशीन एक तरह काय्र करती है, समूह के व्यक्ति भी वैसा ही मिलकर काय्र करते हैं। इसी कारण इसे यान्त्रिक एकता का नाम दिया गया है।

13.3.2 सावयवी सुदृढ़ता : (Organic Solidarity)

यह समाज छोटे–छोटे खण्डों में बंटा होता है। ऐसे समाजों की एक विशेषता है–अन्योन्याश्रयन की कमी (Low degree of interdependence)। इसलिए एक समाज में जो कुछ होता है उसका शायद ही कोई प्रभाव दूसरे समाज में लक्षित होता है। इसकी एक अन्य विशेषता, जो पहले से सम्बन्धित है, वह है जनसंख्या के नैतिक तथा भौतिक घनत्व (Moral and Material Density) में कमी। इसका तात्पर्य यह है कि समाज में सम्पर्क (Interaction) बहुत ही सीमित लोगों की बीच होता है। यह सुव्यवस्थित सामाजिकसंरचना अलग–अलग खण्डों या अंगों (Organs) में विभाजित होती है। प्रत्येक अंग का एक निश्चित कार्य होता है। ये अंग विभिन्न

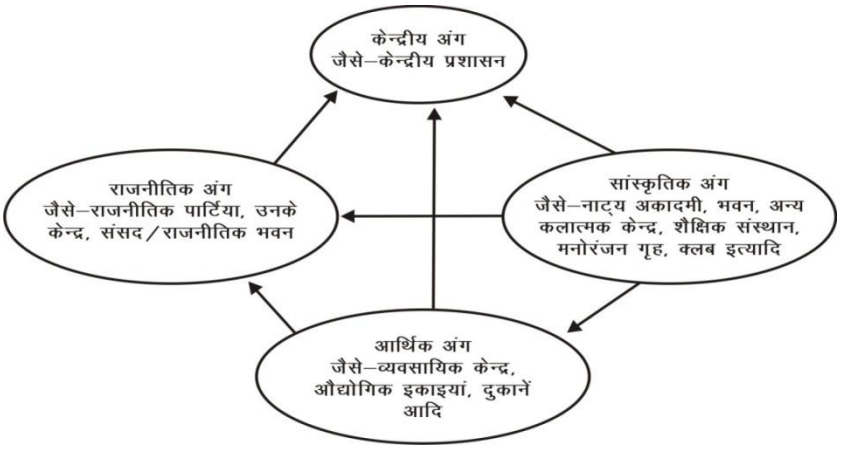

अवयवों या तत्वों से मिलकर बने होते हैं तथा एक केन्द्रीय अंग के माध्यम से एक सूत्र में बंधे होते हैं। इसी कारण दुर्खीम ने इसे 'सावयवी समाज' का नाम दिया। इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है।

इस समाज में व्यक्तियों का वर्गीकरण उनकी वंश–परम्परा के आधार पर न होकर उनके निश्चित क्रिया–कलापों के आधार पर होता है। इसका कारण यह है कि वर्तमान सामाजिक दशाएं तथा कार्य–पद्धति व्यक्तियों को उन र्जन्म स्थान पर केन्द्रित न करके कार्य–स्थल पर खींच लाता है। इस प्रकार लोग एक दूसरे से मिलते हैं और उनमें अन्योन्याश्रयन की वृद्धि होती है।

समाज में औद्योगीकरण की वृद्धि के कारण 'श्रम–विभाजन' विकसित होता जाता है तथा साथ ही 'नगरीकरण' में भी वृद्धि होती है क्योंकि रोजगार के नये आयाम दूर–दराज से लोगों को खींचकर शहरों की तरफ लाते हैं, जिससे शहर या सावयवी समाज की जनसंख्या में लगातार वृद्धि होती रहती है। कार्यो का विशेषीकरण होता है जिससे विशेष योग्यता वाले व्यक्ति ही उन विशेष कार्यो को कर सकते हैं। यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि एक व्यक्ति अधिक से अधिक एक या दो क्षेत्रों में विशेषता हासिल कर सकता है, लेकिन उसकी आवश्यकताएं बहुतायत हैं जिसके लिए उसे अन्य लोगों या एजेन्सियों की मदद लेनी पड़ती है। इस प्रकार व्यक्तियों में सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं जिन्हें अन्योन्याश्रयन (Interdependence) कहते हैं।

उदाहरणार्थ–एक व्यक्ति फैक्ट्री में कुछ चीजों का उत्पादन करता है जो बाजार में बिकती हैं। इस प्रकार लोग उस उत्पाद के माध्यम से फैक्ट्री तथा उस उत्पादक व्यक्ति से सम्बन्धित हो जाते हैं। दूसरी तरफ, उस व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएं हैं, जैसे–रोटी, कपड़ा, मकान, बच्चों की शिक्षा, मनोरंजन आदि। इनकी पूर्ति के लिए वह दूसरी एजेन्सियों पर निर्भर है। इस प्रकार दोनों तरफ के सम्पर्क और सम्बन्ध अन्योन्याश्रयन को जन्म देते हैं। इसलिए ऐसे समाजों में जनसंख्या का 'नैतिक घनत्व' तथा 'भौतिक घनत्व' बहुत अधिक होता है। जनसंख्या घनत्व के इसी अधिक्य के कारण इस समाज में सुदृढ़ता बढ़ती है क्योंकि सबकी जरूरतें आसानी से पूरी हो जाती हैं। श्री–विभाजन ने एक ओर तो व्यक्तियों और समूहों को नाना प्रकार से विभाजित कर दिया है, लेकिन दूसरी ओर उनकी आवश्यकताओं के आधार पर उसी श्रम–विभाजन ने उनको एक दूसरे पर अत्यधिक निर्भर और एक दूसरे से सम्बन्धित भी कर दिया है। यही सावयवी एकता की स्थिति है। इस प्रकार की एकता का नाम दुर्खीम ने सावयवी एकता इसलिए दिया है क्योंकि यह एकता प्राणी के शरीर में पायी जाने वाली एकता से मिलती जुलती है। शरीर में हाथ, पाँव, आँख, नाक, मुँह, पेट आदि अंग एक निश्चित, पूर्व–निर्धारित कार्य करते हैं। एक का कार्य दूसरा नहीं कर सकता। इस प्रकार इन अंगों में एक विशेषीकरण है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इनका आपस में कोई सम्बन्ध

नहीं है। वास्तव में ये एक दूसरे पर अधिक निर्भर हैं। इस प्रकार आधुनिक समाज में श्रम–विभाजन और विशेषीकरण होते हुए भी व्यक्ति और व्यक्ति में, व्यक्ति और समूह में, समूह और समूह में एक पारस्परिक निर्भरता एवं एकता है। यही 'सावयवी एकता' की स्थिति है।

इस सुदृढ़ता की झलक हमें यहाँ के कानून में भी देखने को मिलती है जो यांत्रिक समाज के दमनकारी कानून से भिन्न प्रतिकारी कानून (Restitutive Law) होता है। इस समाज में अपराध को समाज के विरूद्ध कार्य या सामूहिक इच्छा का उल्लंघन न समझकर व्यक्ति के विरूद्ध कार्य समझा जाता है। इस कारण प्रतिकारी कानून का उद्देश्य नुकसान प्राप्त व्यक्ति की हानि को पूरा करना या व्यक्ति को वह सब कुछ लौटा देना होता है जो अनुचित रूप से उससे छीन लिया गया है। दूसरी तरफ अपराधी को भारी दण्ड न देकर उसके लिए पुर्नस्थापना की व्यवस्था की जाती है जिससे वह समाज में एक सामान्य जीवन व्यतीत कर सके। इसीलिए दुर्खीम ने इसे सहकारी कानून (Pathological Aspects) या असामान्य तत्व होते हैं जिनकी उपस्थिति में हमें विपरीत परिणाम देखने को मिलते हैं, जैसे–भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, तस्करी, आतंकवाद आदि। सावयवी समाज का यह विकृत रूप को एनॉमिक (Anomic) यानि असामान्य कहा है। यह प्रतिमानहीनता (Anomie) व्यक्ति के अन्दर विचलन (deviance) को बढ़ाता है।

सावयवी समाज के श्रम–विभाजन का एक और असामान्य स्वरूप 'पूँजी' और 'श्रम' के क्षेत्र में देखने को मिलता है। औद्योगिक कार्यों के विशिष्ट होने पर सावयवी एकता और अधिक संकटग्रस्त हो जाती है क्योंकि समाज में पूँजी के केन्द्रीयकरण के साथ श्रमिक वर्गों में असंतोष व्याप्त होने लगता है। इसका परिणाम समाज के लिए विघटनात्मक होता है।

दुर्खीम ने माना है कि प्रतिमानहीनता व्याधिकीय होता है। इसलिए कुछ सीमाओं के अन्दर इसका निदान सम्भव है, जैसे प्रत्येक उत्पादन केन्द्र में व्यावसायिक संगठन (Occupational Organisations) होने चाहिए जिनका उद्देश्य नैतिक मूल्यों को वापस लाना है, परिणामस्वरूप यह लोगों की इच्दाओं के साथ उनके व्यवहारों को भी नियंत्रित करता है, जिससे उनमें सुरक्षा की भावना तथा खुशहाली आती है। इस प्रकार दुर्खीम कहते हैं कि अगर इन विघटनकारी तत्वों का निदान कर दिया जाए तो सुदृढ़ता और सम्बद्धता आदि अच्छाइयाँ दिखायी देती है।

सावयवी एकता औद्योगीकृत और जटिल समाजों की विशेषता है। इस प्रकार के समाज में श्रम विभाजन जटिल होता है। सम्बन्ध औपचारिक होते हैं, यह विभिन्नताओं का समाज होता है जहाँ श्रम विभाजन का आधार विशेषीकरण, विशिष्ट योग्यता, कुशलता तथा क्षमता आदि हो जाते हैं। ऐसे समाज उसी समय तक जुड़े होते हैं जब तक उनकी आवश्यकतायें पूण्र होती रहती हैं। इस समाज में व्यक्ति सभी प्रकार के कार्य स्वयं नहीं कर सकता है।

इसलिए वे सावयवी एकता, आत्मनिर्भरता के कारण उत्पन्न होती है। सावयवी एकता का नाम इसे इस कारण दिया गया कि जैसे शरीर के विभिन्न अंग हाि, पैर, नाक, कान, मुँह स्वतंत्र रूप से अपने विशेष प्रकार के कार्यों को करते हैं। परन्तु ये तभी समीाव है जब वे परस्पर रूप से संयुक्त रूप में जुड़े रहते हैं। शरीर का कोई अलग अंग शरीर से अलग होकर कार्य नहीं कर सकता है जैसे आँख, नाक, हाथ, पैर आदि। यह एक तरह की सावयवी एकता है। दुर्खीम का मत है कि समाज का स्वरूप तेजी से परिवर्तित हो रहा है, इस परिवर्तन की दिशा यांत्रिक एकता की स्थिति से पृथक होकर सावयवी एकता की ओर अग्रसर है। दुर्खीम के अनुसार, श्रम विभाजन के विकास को एक ऐतिहासिक रूप से आवश्यक प्रक्रिया है, उसने उच्चतम एकता को स्थापित किया है जो कभी नहीं थी। निश्चित ही यह बदलते हुए समाज की सामाजिक एकता को दर्शाता है जहाँ पारसपरिक निर्भरता निरन्तर बढ़ती जाती है। लेविकस ए0 कोजर के अनुसार यांत्रिक एकता के समाज में व्यक्तियों के विचारों और प्रवृत्तियों में समानता होती है। अर्थात् यांत्रिक एकता वहाँ विकसित होती है जहाँ व्यक्तियों के बीच पारसपरिक मतभेद कम होते हैं तथा व्यक्ति जनहित के लिए समर्पित होता है। सावयवी एकता ठीक इसके विपरीत है यह मतभेदों से उत्पन्न होती है तथा यह श्रम विभाजन की उत्पत्ति है।

13.3.3 यांत्रिक समाज और सावयवी समाज की तुलना : (Comparision of Mechanical Solidarity & Organic Solidarity)

यांत्रिक समाज	सावयवी समाज
1. यान्त्रिक समाज में भेदभाव नहीं होता है।	1. सावयवी समाज में पर्याप्त विभेदीकरण होता है।
2. यान्त्रिक समाज में व्यक्तिवाद का अभाव होता है।	2. सावयवी समाज में वैयक्तिक चेतना की स्वतंत्रता होती है।
3. यान्त्रिक समाज की सुदृढ़ता समाहित चेतना द्वारा बनी रहती है।	3. सावयवी समाज की सुदृढ़ता बनी रही है।
4. यांत्रिक समाज में दमनकारी कानून होता है।	4. सावयवी समाज में प्रतिकारी कानून होता है।
5. यान्त्रिक समाज की सुदृढ़ता नैतिकता के आधार पर होती है।	5. सावयवी समाज की सुदृढ़ता अनंबंध पर निर्भर होती है।
6. यान्त्रिक समाज अपने सदस्यों को प्रत्यक्ष रूप से जोड़ता है।	6. सावयवी समाज में यह या एकता प्रकार्यात्मक निर्भरता द्वारा आती है।
7. यान्त्रिक समाज की संरचना संबद्धता में बँधी रहती है।	7. सावयवी समाज की व्यवस्था खण्डात्मक होती है।
8. यान्त्रिक समाज में संरचना प्रायः सामान्य होती है।	8. सावयवी समाज में संरचना प्रायः असामान्य होती है।

दुर्खीम ने यान्त्रिक एकता एवं सावयवी एकता में अन्तर किया है। उन्होंने तीन प्रमुख आधार पर अन्तर किया है।

1. **यान्त्रिक एकता** व्यक्ति को समाज के साथ बिना किसी मध्यस्थ से सीधे जोड़ देती है। **सावयवी एकता** में व्यक्ति समाज पर इसलिये आश्रित हो जाता है क्योंकि वह उसका निर्माण करने वाले अंगों अर्थात् अन्य सदस्यों पर आश्रित रहता है।
2. **यान्त्रिक एकता** समाज के सामूहिक स्वरूप को प्रकट करती है, जिसमें समूह के सदस्यों में सामान्य रूप में जाए जाने वाले विश्वासों और भावनाओं का दृढ़ संगठन होता है। **सावयवी एकता** में भिन्न–भिन्न विशिष्ट कार्यों तथा निश्चित सम्बन्धों की व्यवस्था होती है।
3. तीसरा अन्तर दुर्खीम ने दूसरे अन्तर का परिणाम बताया है। दूसरे शब्दों में यह अन्तर सामान्यता एवं एकता के आधार पर इनके नामों का अनतर है। समानताओं से सम्बन्धित एकता को **यांत्रिक एकता** तथा विशिष्टिताओं और विभिन्नताओं से सम्बन्धित संश्लिष्टता को **सावयवी एकता** कहा जाता है।

इनके अलावा अन्य अन्तर हैः–

(क) यान्त्रिक एकता समानताओं पर आधारित होती है, जबकि **सावयवी** एकता का आधार श्रम–विभाजन है।

(ख) यान्त्रिक एकता की शक्ति सामूहिक चेतना में पाई जाती है, जबकि **सावयवी** एकता वाले समाजों में दमनकारी के स्थान पर प्रतिकारी एवं सहकारी कानूनों की प्रमुखता दिखाई देती है।

(ग) यांत्रिक एकता की अभिव्यक्ति ''दमनकारी कानूनों'' में होती है, जबकि सावयवी एकता वाले समाजों में दमनकारी के स्थान पर प्रतिकारी एवं सहकारी कानूनों की प्रमुखता दिखाई देती है।

(घ) यान्त्रिक एकता व्यक्ति व समाज के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती है, जबकि सावयवी एकता में समाज के साथ व्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, सामान्य जीवन में व्यक्ति यहाँ समाज की शक्ति का अनुभव भी नहीं कर पाता है।

(ड़) यान्त्रिक एकता व्यक्तित्व के विकास के प्रतिकूल है। इसके विपरीत सावयवी एकता व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करती हैं। दुर्खीम ने स्वयं लिखा–प्रत्येक व्यक्ति का अपना कार्यक्षेत्र होता है, जो उसके लिए विशिष्ट है, अर्थात् एक व्यक्तित्व।

(च) यान्त्रिक एकता की उपमा दुर्खीम ने निर्जीव या अचेतन वस्तुओं की अवस्था से की है जबकि सावयवी एकता की तुलना बड़े जीवों में पाई जाने वाली शारीरिक एकता से की जा सकती है।

(छ) यान्त्रिक एकता के अन्तर्गत जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित अनेक प्रकार की सामूहिक भावनाएं प्रचलित होती हैं, जबकि सावयवी एकता में, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सम्बन्धित अधिकारों की पृथक व्याख्या होती है।

(ज) यान्त्रिक एकता के अन्तर्गत अपराधी प्रारूपो की संख्या अत्याधिक होती है। सावयवी एकता में अपराधी प्रारूपों की संख्या घट जाती है।

(झ) यान्त्रिक एकता खण्डात्मक सामाजिक–संरचना से सम्बन्धित होती है, जबकि सावयवी एकता में खण्डात्मक सामाजिक संरचना के स्थान पर संगठित या सावयवी सामाजिक संरचना के स्थान पर संगठित हो जाती है।

(ण) यांत्रिक एकता में धर्म की प्रधानता होती है। सावयवी एकता धर्म के महत्व को कम कर देती है।

13.4 सामाजिक नियमहीनता का अर्थ एवं अवधारणा : (Meaning of Social Anomie & Difination)

आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में विसंगति की आवश्यकता का बहुत बड़ा महत्व है। दुर्खीम ने आधुनिक अर्थ में विसंगति की अवधारणा को व्यक्त किया। इन्होंने Anomie के स्थान पर Allenation शब्द का प्रयोग किया।

दुर्खीम ने सर्वप्रथम विसंगति की अवधारणा को अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक ''डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी'' में विशेषकर उस भाग में विकसित किया जहाँ कि उन्होंने श्रम विभाजन के सामान्य तथा व्याधिकीय परिणामों का उल्लेख किया है। सामाजिक संरचना में उस विशेष दशा को व्याधिकीय माना जाता है जिसनें व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में प्रतिकूल या आस्वाभाविक प्रभाव पड़ता है। दुर्खीम ने विसंगति हेतु समाज को उत्तरदायी माना है। सामूहिक शक्ति अथवा सामाजिक नियंत्रण के भंग हो जाने के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है।

नियमहीनता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ईमाइल दुर्खीम ने विकसित किया है, दुर्खीम ने अपनी पुस्तक The Division of Labour in Safity में इसको परिभाषित किया है।

दुर्खीम के अनुसार नियमहीनता आदर्शविहीनता की एक अवस्था है। स्वाभिक्ता का आभाव है। नियमो का विलम्बन है एक ऐसी स्थिति है जिसे हम अक्सर अव्यवस्था कहते है।

दुर्खीम ने नियमहीनता की परिभाषा में कहा है कि ''नियमहीनता वह सामाजिक दया है जिसमें आदर्श प्रतिमानों का आभाव या आदर्शात्मक संरचना की अव्यवस्था पायी जाती है अर्थात यह उत्कट अभिलाषा, लालच तथा असिमित आकांक्षाओं को नियंत्रित करन में सामूहिक नैतिक व्यवसाी की असफलता है।

दुर्खीम ने कहा कि नियमहीनता के लिए समाज ही उत्तरदायी है और सात्यवला नियमहीनता का ही परिणाम है।

13.5 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके है कि ईमाइल दुर्खीम ने सामाजिक एकता का सिद्धांत उनके श्रम विभाजन के सिद्धांत में देखने को मिलता है। इन्होंने अपने पुस्तक "Social Division of Labour" में प्रथम मास में सामाजिक एकता एवं द्वितीय खण्ड में श्रमि विभाजन को प्रमाणित किया है। दुर्खीम ने कहा है कि पुरातन समाज से जैसे–जैसे समाज आधुनिक समाज की तरफ बढ़ा है। समाज में श्रम विभाजन का विशेषिकरण हुआ है। इन्होंने समाज को दो भागो में बाँटा है (1) यांत्रिक समान (2) सावयवी समान दुर्खीम ने इन दोनो समाजो को इस इकाई में विशेष रूप से परिभाषित किया है।

13.6 शब्दावली : (Glossary)

(1) यांत्रिकी समाज :– दुर्खीम ने आदिकालीन समाज को यांत्रिकी समाज से तुलना की है। इनहोंने बताया कि जैसे मशीन एक तरह का सार्व करती है। समूह के व्यक्ति भी ऐसे ही कार्य करते है जिसे यांत्रिकी समाज कहा।

(2) सावयवी समाज :– सावयवी समाज से तात्पर्य आधुनिक समाज से है जिसमें श्रम विभाजन जटिल होता है। ए0 श्रम विभाजन का आधार विशेषीकरण, विशिष्ट योग्यता होती है।

(3) श्रम विभाजन :– दुर्खीम ने कहा कि हर तरह के समाज में श्रम का विभाजन उसकी एकता के आधार पर होता है। जिसे श्रम विभाजन कहते है।

13.7 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर : (Answer Questions of Practice)

16. Division of Labour in Society पुस्तक किसकी है?

(क) कार्ल मार्क्स (ख) दुर्खीम
(ग) स्पेंसर (घ) पारसन्स

उत्तर–ख

17. दुर्खीम का सर्वप्रथम ग्रंथ कौन सा है?

(क) The division of labour society
(ख) The rules of socilogical method
(ग) The Eleementary Forms of Religions Life
(घ) The Suicide

उत्तर–क

18. यांत्रिकी समाज से तात्पर्य है:–
(क) आधुनिक समाज (ख) पुरातन समाज
(ग) सावयकी समाज (घ) तीनो
उत्तर–ख

19. यांत्रिकी समाज मे प्रचलन होता है:–
(क) दमनकारी कानून (ख) प्रतिकारी कानून
(ग) दोनो (घ) इनमे से कोई नही
उत्तर–क

20. सामाजिक एकता होती है:–
(क) अमूर्थ (ख) सापेक्ष
(ग) दोनो (घ) इनमे से कोई नही
उत्तर–ग

21. प्रतिकारी कानून कैसे समाज की विशेषता है?
(क) यांत्रिकी समाज (ख) साक्यवी समाज
(ग) दोनो (घ) कोई नही
उत्तर–ख

22. यांत्रिकी समाज में श्रम विभाजन होता है।
(क) जटिल (ख) सरल
(ग) दोनो (घ) इनमे से कोई नही
उत्तर–ख

23. सावयवी समाज मे श्रम विभाजन होता है।
(क) सरल (ख) जटिल
(ग) दोनो (घ) इनमें से कोई नही
उत्तर–ख

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. **ईमाइल दुर्खीम (1896)** : सोशल डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी न्यूयार्क, फ्री प्रेस
2. **लेविस ए0 कोजर (1956)** : मास्टर ऑफ सोशियोलोजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. **ओरो रोमो (1967)** : मेन करेंटस इन सोशियोलोजिकल थॉट, वाल्यूम–2, मेनुअल, बुक्स लन्दन

13.9 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. **हरिकृष्ण रावत (2011)** : सामाजिक चिन्तक एवं सिद्धांतकार, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

13.10 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ सामाजिक सुदृढ़ता से आप क्या समझते हो?
- ✓ दुर्खीम के अनुसार समान मे श्रम विभाजन क्या है?
- ✓ सावयवी सुदृढ़ता से आप क्या समझते है।
- ✓ सामाजिक सुदृढ़ता से आप क्या समझते है इसके प्रकारो का वर्णन करो।
- ✓ यांत्रिकी सुदृढ़ता से आप क्या समझते है?
- ✓ यांत्रिकी सुदृढ़ता एवं सावयवी सुदृढ़ता की तुलना कीजिए।

इकाई–14 : समाजशास्त्र में सामूहिक चेतना और प्रतिनिधित्व (Sociology of Collective Consciousness & Representation)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 सामूहिक चेतना की अवधारणा
14.3 सामूहिक चेतना का अर्थ एवं परिभाषा
14.4 सामूहिक चेतना की विशेषताऐं
14.5 सामूहिक प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं अवधारणा
14.6 सारांश
14.7 शब्दावली
14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
14.11 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप :–

- ✓ समझ पायेगे कि दुर्खीम ने सामूहिक चेतना से आप क्या समझते है?
- ✓ आप समाज एवं वैयक्तिक चेतना को समझ पायेगे।
- ✓ सामूहिक चेतना से क्या तात्पर्य है।
- ✓ सामूहिक प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते है।
- ✓ सामूहिक चेतना का समाज में क्या विशेषताऐं होती है?
- ✓ सामूहिक चेतना व सामूहिक प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध को समझ पायेगें।

14.1 प्रस्तावना : (Introduction)

दुर्खीम ने सामूहिक चेतना को समाज की स्थिति को सन्दर्भित करते हुऐ बताया है कि समाजशास्त्र को विज्ञान की प्रस्थिति तक लाने का प्रयास किया है। दुर्खीम ने व्यक्ति के संकल्प, इच्छा या इच्छाशक्ति के आधार पर बने समाज के सिद्धांतो को नकार कर एक सामूहिक समूह, समुदाय या समाज की सामूहिक प्रकृति से उत्पन्न होती है। हर सामाजिक प्रक्रिया के वैज्ञानिक अध्ययन को अपनाया है। इस इकाई में सामूहिक चेतना को स्पष्ट किया है।

दुर्खीम ने सामूहिक चेतना का वर्णन एक समाज के अधिकांश सदस्यो की सामान्य भावनाओं और विश्वासो के रूप में किया है। इन विश्वासो और भावनाओ की व्यवस्था का अपना स्वयं एक जीवन है। इसका पूरा समाज का अस्तित्व है। एक समाज की सामाजिक चेतना दूसरे समाज से भिन्न होती है।

फ्रेंच सामाजिक विचारकों में इमाइल दुर्खीम का नाम सर्वाधिक लोकप्रिय है। सामाजिक विचारधारा के क्षेत्र में अगसत कॉम्टे की ही तरह दुर्खीम का योगदान भी अत्याधिक महत्वपूर्ण है। समाज के अध्ययन के लिए कॉम्टे ने अवलोकन, वर्गीकरण ओर तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण पर बल दिया। समाजशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव कॉम्टे ने रखी जिसके मुख्य अनुयायी दुर्खीम थे। कॉम्टे की तरह दुर्खीम भी धार्मिक तथा तात्विक विचारधारा से बहुत दूर रहना चाहते थे। वे सदैव ही वैाानिक दृष्टिकोण को जाग्रत रखने के लिए सचेत रहे इसलिए वैज्ञानिक पद्धतियों को ही अपने समस्त अध्ययन का आधार बनाया। उनका विश्वास था कि समाज या सामाजिक घटनायें इतनी सरल नहीं हैं कि उन्हें मात्र कल्पना के आधार पर समझा या समझाया जा सके। इसके लिए वास्तविक तथ्यों का संकलन करना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही कल्पना के आधार पर किसी घटना की व्याख्या अटलकलपच्चू कारकों की सहायता से करना ठीक नहीं है। वास्तविक तथ्यों के आधार पर ही हम वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। समस्त सामाजिक घटनाओं का मूल कारक स्वयं समाज है। एक समाजशास्त्री का कार्य वास्तविक प्रयोगों द्वारा प्राप्त किये गये तथ्यों के आधार पर इसी मूल कारक समाज का विश्लेषण तथा व्याख्या करना है न कि मूल्यों के आधार पर इसी मूल कारक समाज का विश्लेषण तथा व्याख्या करना है न कि मूल्यों के आधार पर अनुमान लगाना। किन्तु इस सम्बन्ध में दुर्खीम ने बार–बार इस बात पर बल दिया है कि सामाजिक घटनाओं को जन्म देने में सामूहिक चेतना या समूहिक विचार, धारणायें और भावनायें बहुत ही महत्वपूर्ण होती है। यही दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त है जिसे सामाजिक विचारधारा के क्षेत्र में दुर्खीम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा आधारभूत योगदान माना जाता है।

फ्रेंच दार्शनिक तथा महान् समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम का जन्म सन् 1858 में फ्रांस के एपीनल नामक स्थान पर हुआ था। दुर्खीम की प्रारम्भिक शिक्षा एपीनल में हुई और यहीं से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उच्च शिक्षा के लिए फ्रांस की राजधानी पेरिस चले गये। पेरिस का विश्व प्रसिद्ध कॉलेज इकोल नार्मल अकादमी में प्रवेश के लिए प्रयास किया और काफी परिश्रम एवं प्रयास के बाद 1879 में प्रवेश मिल गया। इस कॉलेज में फ्रांसीसी, ग्रीक, लैटिन जैसे विषय पढ़ने पड़ते थे। किन्तु दुर्खीम की इन विषयों में कोई रूचि नहीं थी क्योंकि वह तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले विद्यार्थी थे। यही कारण है कि वे इस संस्था की शिक्षा पद्धति से संतुष्ट नहीं थे। दुर्खीम के गुरू प्रोफेसर कुलांत जब इस शिक्षण संस्था के निर्देशनक बने तो दुर्खीम की राय से पाठ्यक्रम में अनेक विषय रख दिये। इसी प्रकार उनके एक और प्रोफेसर इमाइल पोट्रोक्स थे जिनके निर्देशन में दुर्खीम ने शोध कार्य किया। 1882 में दुर्खीम इस संस्था

से निकलकर पाँच वर्ष तक हाईस्कूल के कॉलेज में दर्शनशास्त्र का अध्यापन किया। अपने प्रभाव से इन्होंने पाइयक्रम में समाजशास्त्र विषय को सर्वप्रथम शामिल कराया। तत्पश्चात् छुट्टी लेकर उच्च शिक्षा ग्रहण करने हेतु जर्मनी चले गये।

जर्मनी दुर्खीम के लिए शिक्षा का वह महत्वपूर्ण स्थान है जहाँ उनहोंने अर्थशास्त्र, लोक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक मानवशास्त्र आदि का व्यापक अध्ययन किया। यहीं पर अगस्त कॉम्टे के लेखों का भी अध्ययन किया जिनके प्रत्यक्षवाद ने उनके अध्ययन की दृष्टि ही बदल डाली। 1887 में दुर्खीम जर्मनी से पेरिस लौट आये और बोर्डियक्स विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुए। उस समय उस विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड एस्पिनास भी प्रोफेसर थे जिनका दुर्खीम ने शोध कार्य किया। 1882 में दुर्खीम इस संस्था से निकलकर पाँच वर्ष तक हाईस्कूल के कॉलेज में दर्शनशास्त्र का अध्यापन किया। अपने प्रभाव से इन्होंने पाठ्यक्रम में समाजशास्त्र विषय को सर्वप्रथम शामिल कराया। तत्पश्चात् छुट्टी लेकर उच्च शिक्षा ग्रहण करने हेतु जर्मनी चले गये।

जर्मनी दुर्खीम के लिए शिक्षा का वह महत्वपूर्ण स्थान है जहाँ उन्होंने अर्थशास्त्र, लोक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक मानवशास्त्र आदि का व्यापक अध्ययन किया। यहीं पर अगस्त कॉम्टे के लेखों का भी अध्ययन किया जिनके प्रत्यक्षवाद ने उनके अध्ययन की दृष्टि ही बदल डाली। 1887 में दुर्खीम जर्मनी से पेरिस लौट आये और बोर्डियक्स विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुए। उस समय उस विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड एस्पिनास भी प्रोफेसर थे जिनका समूह–मस्तिष्क का विचार बहुत ही प्रसिद्ध है और इनके इस सिद्धान्त से ही मिलता–जुलता दुर्खीम का समूह–मस्तिष्क का सिद्धान्त है। दुर्खीम ने एस्पिनास के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करके उसे परिष्कृत करने कार्य किया ताकि उसे एक बोधगम्य स्वरूप प्राप्त हो सके। इसके पश्चात् दुर्खीम पेरिस विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र तथा शिक्षाशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इसके पूर्व ही उन्हें 1893 में इसी विश्वविद्यालय से उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि मिल चुकी थी। उनके शोध का विषय De La Division Du Travai Social अर्थात् The Division of Labour in Society था। यह उनका एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ समझा जाता है। 1898 में दुर्खीम ने L'anne Sociologique नामक समाजशास्त्र सम्बन्धी पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसके सम्पादक वे स्वयं थे। सन् 1917 में इस महान प्रतिभाशाली समाजशास्त्री की मृत्यु हो गई।

14.2 सामूहिक चेतना की अवधारणा : (Concept of Collective Consciousness)

दुर्खीम ने बताया कि समाज की कुछ प्रकार्यात्मक पूर्व आकाक्षांए या आवश्यकताएँ होती है इन्ही पूर्व आकांक्षाओं की पूर्ति से समाज का स्थायित्व व निरन्तरता बनी रहती है। इनकी पूर्ति

सामूहिक एकता से होती है। यह सामूहिक एकता समान मूल्यों, मानदण्डो से आती है, इसी प्रकार दुर्खीम ने सामाजिक संस्थाओं के सामान्य व्याधिकीय प्रमाणो की चर्चा की है।

धर्म ही सामूहिक चेतना का प्रतीक है। धर्म का वास्तविक आधार स्वयं समान है दुर्खीम ने लिखा है कि स्वर्ग का साम्राज्य एक अहिंसावादी समाज से है।

श्रम विभाजन पर बात करने से पहले यह 'सामूहिक चेतना' (Collective Conscience) को समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि दुर्खीम ने अपने इस अध्ययन में 'सामूहिक चेतना' को एक आधार सा बनाया है तथा पग–पग पर इसी के माध्यम से, एक समाज में कितनी सुदृढ़ता है, उसे समझाया है।

14.3 सामूहिक चेतना का अर्थ एवं परिभाषा : (Meaning of Collective Consciousness & Defination)

अपनी कृति 'समाज में श्रम विभाजन' में दुर्खीम ने सर्वप्रथम इस लोकप्रिय अवधारणा की चर्चा की है। मूलतः दुर्खीम ने यह अवधारणा टायलर की 'कान्सेन्सस' (Consensus) अर्थात् 'सर्वसम्मति' से उधार ली है। दुर्खीम सामूहिक चेतना की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि ''सामूहिक चेतना'' वह विश्वास और संवेग (Beliefs and Sentiments) हैं जो समाज के औसत सदस्यों में सामान्य रूप से जाए जाते हैं।'' उदाहरण के लिए, यह लोगों का विश्वास है कि निर्बल की मदद करनी चाहिए तथा गरीबों को यातनाएँ नहीं देनी चाहिए। विश्वासों की ही तरह लोगों के संवेग भी होते हैं। संवेग, भावनाओं, विचारों तथा मुहावरों से परिपूर्ण होते हैं। ये संवेग व्यक्ति तथा वस्तु दोनों के प्रति होते हैं। ये वैसे तो नहीं दिखते; प्रतीकों के रूप में सामने आते हैं।

आदिम समाजों में सामाजिक चेतना की बहुत गहरी पैठ होती है। उदाहरणार्थ, इन समाजों में सामाजिक नियंत्रण और प्रतिबंध को बहुत ही सख्ती से लागू किया जाता है जिसकी अवहेलना करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार एक समाज में सामाजिक चेतना जितनी ही मजबूत होगी, वहाँ अपराध उतने ही कम होंगे। स्पष्ट है कि सामूहिक चेतना आदिम समाजों में सम्बद्धता, एकता और सुदृढ़ता लाती है। बाद में, दुर्खीम ने बताया कि सामाजिक चेतना सावयवी समाज (Organic Society) में भी सुदृढ़ता लाती है।

14.4 सामूहिक चेतना की मुख्य विशेषताएँ : (Main Characteristic of Collective Consciousness)

(1) सामूहिक चेतना वास्तविक होता है :– दुर्खीम का मानना है कि सामूहिक चेतना विश्वास और संवेग में निहित होता है जो प्रतीक रूप में हमारे सामने आते रहते हैं। लेकिन समाज में इन विश्वासों, संवेगों, मूल्यों आदि को संस्थाओं के रूप में रखा गया है और ये संस्थाएँ शून्य में न रहकर, वास्तविक रूप में दिखायी देती हैं। उदाहरणार्थ–'वियजदशमी'

का त्यौहार इस विश्वास और संवेग को प्रतिनिधितव देता है कि बुराई पर अच्छाई की जीत होती है। यही विश्वास मूर्त रूप से इस त्यौहार में देखा जा सकता है।

(2) सामूहिक चेतना पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है :– सामूहिक चेतना एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सामाजीकरण के माध्यम से हस्तान्तरित होती रहती है। यह निरन्तरता शताब्दियों से चलती आ रही है। जैसे, हमारी धार्मिक आस्थाएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं और हम उसी लगन और विश्वास से पूजा–अर्चना कर रहे हैं। दुर्खीम के अनुसार इसका अर्थ यह नहीं कि सामूहिक चेतना में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता; परिवर्तन होता है लेकिन सतही स्तर पर। समाज में लोग तो आते जाते रहते हैं लेकिन सामूहिक चेतना ज्यों की त्यों बरकरार रहती है।

(3) व्यक्ति की दो चेतनाओं में एक सामूहिक चेतना है :– दुर्खीम के अनुसार किसी भी व्यक्ति विशेष के अन्दर दो प्रकार की चेतनाएँ होती हैं–एक उसकी खुद की तथा दूसरी सामूहिक चेतना। पहली चेतना में, उसकी अपनी पसन्द–नापसन्द, को अपनी सोच–समझ के तरीके आदि होते हैं। सामाजिक चेतना सामान्य होती है। यहाँ उसकी अपनी सोच नहीं होती। सामाजिक चेतना व्यक्ति विशेष के अन्दर इस कदर घर कर जाती है कि वह इसकी उपस्थिति पर तर्क करना या प्रश्न चिन्ह लगाना उचित नही समझता। इसलिए, गाय का दूध कयों पवित्र है, सूअर क्यों अपवित्र है, इस पर वह तर्क नहीं करता। इन बातों को यथावत् वह इसलिए स्वीकार कर लेता है क्योंकि वह इस प्रकार के विश्वास और संवेग से घिरा हुआ है। समाज की यह धारणा ही व्यक्ति की सामाजिक चेतना है।

सामाजिक चेतना का किसी भी प्रकार का उल्लंघन पूरे समाज पर आघात समझा जाता है। इस प्रकार जब भी कोई व्यक्ति अपने आप को समाज से ऊपर समझने की कोशिश करता है तो उसे दण्ड प्रक्रिया के माध्यम से दबा दिया जाता है।

(3) सामूहिक चेतना की पकड़ सभी समाजों में समान नहीं होती :– यांत्रिक समाजों में सामूहिक चेतना अधिक शक्तिशाली होती है। इसके विपरीत सावयवी समाजों में इसकी शक्ति क्षीण होती

14.5 सामूहिक प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं अवधारणा : (Meaning of Collective Representation and Concept)

दुर्खीम के चिंतन में सामूहिक प्रतिनिधित्व की धारणा सर्वप्रमुख धारणा है जो सामाजिक तथ्यों के विश्लेषण पर आधारित है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार–धारणाएँ और भावनाएँ होती है जिन्हें समाज के अधिकतर लोग सामान्य रूप से अपनाते हैं। चूंकि ये विचार, धारणाएँ और भावनाएँ सबके द्वारा मान्य होती हैं इस कारण ये सामूहिक रूप से समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करती है।

सामूहिक प्रतिनिधित्व का जन्म चेतना से ही होता है। सामूहिक प्रतिनिधित्व चेतना या जनमत नहीं बल्कि उसके प्रतीक होते हैं। सामूहिक प्रतिनिधित्व की निम्नलिखित दो विशेषताएँ होती है। प्रथम यह सारे समाज में फैली होती है। द्वितीय इनका व्यक्ति के ऊपर नियंत्रणात्मक प्रभाव होता है।

सामूहिक प्रतिनिधित्व को दुर्खीम ने सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। ये सामूहिक विचार धारणाएँ या भावनाएँ जिन्हें समाज की मान्यता प्राप्त होती है जिनका समाज पर बाध्यकारी प्रभाव होता है, सामूहिक प्रतिनिधान कहलाते हैं।

14.6 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके है:– दुर्खीम ने सभी समाजों में सामूहिक विश्वासों, भावनाओं और विशेषकर नैतिकता और धर्म की भूमिका को देखा है। एक समाज की विभिन्न अवस्थाओं के दौरान सामूहिक विश्वास एवं भावनाएँ कैसे बदलती है।

दुर्खीम ने सामूहिक प्रतिनिधित्व की अवधारणा को अपनी पुस्तक ''दा सुसाइड'' में परिभाषित किया है। वास्तव में सामाजिक जीवन प्रतीको का बना होता है। एक वस्तु और एक देखने के ढंग के बीच अंतर होता है।

14.7 शब्दावली : (Glossary)

(1) सामूहिक चेतना :– किसी समाज के सदस्यो के बीच सामान्य विश्वासो, मान्यताओ एवं भावनाओ की एक व्यवस्था की रचना को सामूहिक चेतना कहते हैं।

(2) सामूहिक प्रतिनिधित्व :– समाज द्वारा मान्य उन विचारो, धारणाओं, भावनाओं तथा प्रतीको को सामूहिक प्रतिनिधान की संज्ञा दी जाती है। जो सामूहिक रूप से समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करते है।

14.8 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर : (Answer Questions of Practice)

24. दुर्खीम के सामूहिक चेतना से आप क्या समझते है?

(क) समाज के औसत सदस्यों का मत
(ख) समाज के किसी सदस्य का मत नही
(ग) दोनो
(घ) दोनो में कोई नही

उत्तर – क

25. सामूहिक प्रतिनिधान से तात्पर्य है :–

(क) प्रतीक (ख) श्रेष्ट
(ग) समूह विशेष (घ) तीनो

उत्तर – घ

26. सामूहिक चेतना को किससे चोट पहुँचती है?

(क) अनैतिक कार्यो से (ख) नैतिक कार्यो से
(ग) दोनो (घ) इनमे से कोई नही

उत्तर – क

27. दुर्खीम ने सामूहिक चेतना की अवधारणा का सम्बंध है–

(क) पारसन्स (ख) अल्थुजर
(ग) मैक्स वेबर (घ) टायलर

उत्तर – घ

28. दुर्खीम के अनुसार सामूहिक चेतना कौन से समाज में दृढ़ता लाता है?

(क) साक्यवी समाज (ख) यांत्रिकी समाज
(ग) दोनो (घ) इनमे से कोई नही

उत्तर – ग

14.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. **रेमो, ओरो (1979)** : मेन करेन्टस इन सोशियोलोजिकल थॉट–II पेग्विन, हरमंडस वर्थ
2. **लेविस कोजर (1956)** : ''मास्टर ऑफ सोसियोलॉजिकल थॉट'', रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली

14.10 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. **हरिकृष्ण रावत (2011)** : सामाजिक चिंतक एवं सिद्धांतकार, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

14.11 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ सामूहिक चेतना के क्या तात्पर्य है?
- ✓ सामूहिक प्रतिनिधितव से आप क्या समझते है?
- ✓ धर्म समाज की आत्मा है, स्पष्ट करो।
- ✓ लौकिक से आप क्या समझते है?
- ✓ सामाजिक एकता से आप क्या समझते है?
- ✓ सामूहिक चेतना व सामूहिक प्रतिनिधित्व की तुलना को समझ पायेगे।

इकाई–15 : **धर्म और वर्गीकरण**
(Religion & Classification)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 धर्म का वर्गीकरण
15.2.1 धर्म की अवधारणा
15.2.2 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा
15.2.3 धर्म की उत्पत्ति के कारण
15.2.4 धर्म के प्रकार्य
15.3 धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप
15.4 धर्म सम्बन्धी अन्य सिद्धांत
15.5 धर्म का सामाजिक सिद्धांत
15.6 सारांश
15.7 शब्दावली
15.8 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
15.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
15.10 सहायक/उपयोगी पाठय सामग्री
15.11 निबंधात्मक प्रश्न

15.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :–

- ✓ समझ पायेंगे की समाज में धर्म की उत्पत्ति किस तरह हुई?
- ✓ दुर्खीम के धर्म के प्रकार्यवादी विश्वेषन की व्याख्या को समझ पायेगे?
- ✓ धार्मिक जीवन के प्रारंम्भिक स्वरूप एवं समाज ने धर्म की भूमिका के बारे में दुर्खीम के विश्लेषण को समझ पायेगें।
- ✓ दुर्खीम के धर्म की उत्पत्ति के कारणो को समझ पायेगे।
- ✓ दुर्खीम के धर्म के प्रकार्य क्या है?
- ✓ धर्म के अन्य सिद्धांतों को समझ पायेगें।

✓ धर्म के सामाजिक सिद्धांतों को समझ पायेगें।

15.1 प्रस्तावना : (Introduction)

दुर्खीम मानव धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप का अध्ययन करते हैं। दुर्खीम प्रारम्भिक धर्मो का अध्ययन केवल इसलिये करते है क्योकि उनका कहना है कि इन प्रारम्भिक स्वरूपों के आधार पर हम आधुनिक समाज में प्रचलित धर्मो को समझा सकते है किसी भी समाजशास्त्री की तरह वह इस बात से इन्कार नही करते कि धर्म एक सामाजिक संस्था है ताकि ऐसी संस्थाओं को उन समाजो का सर्मथन प्राप्त होता है जिसमे वे पायी जाती है। दुर्खीम ने टोटम को एक प्रारम्भिक धर्म माना है तथा धर्म की उत्पत्ति टोटमवाद के आधार पर देने का प्रयत्न किया हैं दुर्खीम के अनुसार धार्मिक विचार एवं क्रियाऐ समूह के प्रतीक है। दुर्खीम के धर्म के उत्पत्ति का सिद्धांत आस्ट्रेलिया की अरूण्टा नामक जनजाति के टोटम सम्बंधी क्रियाओ के अवलोकन तथा विश्लेषण पर आधारित है। उन्होंने अरूण्टा जनजाति को इसलिए चयन किया क्योकि सबसे आदिम अवस्था में थी।

15.2 धर्म का वर्गीकरण : (Religion & Classification)

धर्म की सामाजिक व्याख्या दुर्खीम ने अपनी पुस्तक धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप Elementary Form of Religious Life में प्रस्तुत की है। इस पुस्तक का वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों व आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों की एक नैतिक समुदाय (चर्च) में संयुक्त करती है इस प्रकार दुर्खीम धर्म को सामूहिक विश्वासों व आचरणों की एक ऐसी नैतिक व्यवस्था मानते हैं जो कि पवित्रता की धारणा से सम्बन्धित है।

सामूहिक जीवन की समस्त घटनाओं या वस्तुओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है–

1. पवित्र (Sacred)
2. अपवित्र (Profane)

दुर्खीम के अनुसार ''जिन वस्तुओं को पवित्र माना जाता है, धर्म उन्हीं से सम्बन्धित विश्वासों व व्यवहारों की स्वीकृति प्रणाली है।'' धर्म के द्वारा समान विश्वासों व व्यवहारों के अनुयायी एक नैतिक समुदाय में एकताबद्ध होते हैं। इन मूल तत्वों से धर्म की संरचना तथा इकाई दोनों स्पष्ट हो जाते हैं–

1. पवित्र वस्तु
2. विश्वास तथा व्यवहार
3. अनुयायी/श्रद्धालु
4. एक नैतिक समुदाय

समाज के सदस्य जिन्हें पवित्र समझते हैं उन्हें अपवित्र या साधारण से सदा दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक विश्वासों, आचरणों, संस्कारों या उत्सवों को जन्म देते हैं। धर्म इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है क्योंकि इन प्रयत्नों से सम्बन्धित विश्वासों, आचरणों, संस्कारों आदि के पीछे समस्त समाज की अभिमति और दबाव होता है, इस कारण समाज की उस सामूहिक सत्ता के सामने मनुष्य को नतमस्तक होना ही पड़ता है।

15.2.1 धर्म की अवधारणा : (Concept of Religion)

दुर्खीम ने धर्म से सम्बन्धित प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिस टोटमवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उन्होंने आस्ट्रेलिया की अरूण्टा (Arunta) जनजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया। उनका कहना है कि इन जनजातीय लोगों के जीवन का अध्ययन करने पर

धार्मिक अनुभव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट धारणा हो सकती है और वह धारणा यह है कि धार्मिक अनुभव एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना के कारण हैं। त्यौहारों व उत्सवों पर जब गोत्र (Clan) के सभी लोग एक साथ एकत्र होते हैं तो प्रत्येक सदस्य को ऐसा अनुभव होता है कि समूह की शक्ति उसकी वैयक्तिक शक्ति से कहीं अधिक उच्च और महान है। इन त्यौहारों व उत्सवों का अस्तित्व ही अनेक लोगों की उपस्थिति पर आधारित होता है। समान भावों, विचारों व रूचियों वाले अनेक व्यक्तियों के वैयक्तिक भावों, विचारों व रूचियों के सम्मेलन और संगठन से एक नवीन चेतना या उत्तेजना का निर्माण होता है यही सामूहिक शक्ति होती है, जिसके सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से झुकना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर एक ही समय में अनेक व्यक्ति एकत्रित रहते हैं और व्यक्ति के विचार व संवेग सभी उपस्थित व्यक्तियों के विचारों व संवेगों के अनुकूल होते हैं। उस अनुकूलता व अनुरूपता का आभास ही व्यक्ति को प्रफुल्लित व उत्तेजित कर देता है। अतः व्यक्ति की शक्ति गौण तथा समूह की शक्ति को प्रधानता मिलती है। जिससे उसके मन में समूह के प्रति भय, श्रद्धा व भक्ति की भावना पनपती है।

टोटम शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जे0 लोंग ने किया है। दुर्खीम के अनुसार टोटम के नाम है, प्रतीक है या चिन्ह् भी या गोत्र समूह का नाम है। एक टोटम को मानने वालों में परस्पर नातेदारी एवं रक्त के सम्बन्ध होते हैं। दुर्खीम लिखते हैं कि टोटमवाद नैतिक कर्त्तव्यों और मौलिक विश्वासनों का एक समूह है जिनके द्वारा समाज पशु, पौधों एवं अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के बीच एक पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

दुर्खीम ने टोटम की निम्न विशेषताएँ बताई हैं–

1. प्रत्येक गौत्र का एक टोटम होता है, जिसके साथ गौत्र के सभी सदस्य अपना पवित्र और अलौकित सम्बन्ध मानते है।
2. टोटम उस शक्ति का प्रतीत है, जो समूह की रक्षा करती है, उसे अपवित्रता से बचने की चेतावनी देती है, और भावी घटनाओं के विषय में संकेत करती है।
3. गौत्र के सदस्य टोटम को अपना मूल पिता मानते हैं।
4. टोटम के प्रति भय, श्रद्धा और भक्ति की भावना रखी जाती है। टोटम को खाना, मारना, हानि पहुंचाना वर्जित होता है। उसके चित्र रखे जाते हैं और उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को पवित्र माना जाता है।

15.2.2 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा :
(Meaning of Religion & Defination)

दुर्खीम के अनुसार संसार की समस्त घटनाओं एवं वस्तुओं को दो भागो में विभाजित किया जा सकता है–पवित्र एवं संसारिक। पवित्र तथा सांसारिक में अन्त धार्मिक विचारो के आधार पर ही है। धर्म की परिभाषा इन दोनो के पृथक्करण के बिना नही दी जा सकती। कुछ वस्तुऐं ऐसी है जो हमारे सामान्य जीवन को घेरे रखने वाली वस्तुओ से अधिक सम्मानीय तथा शक्ति से सम्बन्धित है तथा प्रत्येक सदस्य बिना किसी सन्देह से यह जानता है कि ये वस्तुऐ कौन सी है तथा इनसे कैसे व्यवहार किया जाना चाहिए। इन विचारो के आधार पर दुर्खीम ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है–

''धर्म पवित्र वस्तुओं, वे वस्तुएँ जो अन्य वस्तुओ से सम्बन्धित विश्वासो एवं क्रियाओ की एक सम्बन्धित व्यवस्था से अलग मानी जाती है और निषेधो में बँधी है ये विश्वास और क्रियाएँ

उन सभी को जो उनका पालन करते है एक उस नैतिक समुदाय के रूप में एकबद्ध कर देती है जिसे मठ या मत (चर्च) कहा जाता है।

दुर्खीम से पहले धर्म से सम्बन्धित कई सिद्धांत (टायलर का आत्मवाद, मैक्समूलर का प्रकृतिवाद आदि) प्रचलित थे, जिसमें धर्म की व्याख्या व्यक्तिगत विचार, प्रक्रियाओं अथवा मनोवैज्ञानिक धारणाओं (अर्थात् भर्य, आश्चर्य स्वप्न आदि) के संदर्भ में की गई थी। दुर्खीम ने उपरोक्त सिद्धांतों का खण्डन करते हुए कहा कि टायलर द्वारा अपने आत्मवाद के सिद्धांत में आदिमानव का अधिक तर्कयुक्त दार्शनिक मान लेना गलत है। धर्म जैसे जटिल घटना की व्याख्या परछाई, स्वप्न, मृत्यु या वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर संभव नहीं है। इसी प्रकार, मैक्समूलर द्वारा धर्म की व्याख्या में प्रकृति पर अधिक बल देना एवं सामाजिक आधार की अवहेलना अवैज्ञानिक है।

दुर्खीम ने कहा कि उपरोक्त दोनों ही सिद्धांत आनुभविकता से परे हैं। जिसने देखा है कि मनुष्य की दो आत्माएं होती है, और एक ब्रह्माण्ड में घूमती हैं धर्म का संबंध पवित्रता से है और यह पवित्रता प्रकृति की भयानक वस्तुओं और आत्मा के साथ नहीं जोड़ी जा सकती है। तत्पश्चात्, दुर्खीम ने अपना धर्म का सामाजिक सिद्धांत प्रस्तुत किया और यह स्थापित किया कि प्रत्येक धर्म का वास्तविक आधार समाज है तथा प्रत्येक धर्म समाज को एक नैतिक समुदाय के रूप में एकताबद्ध करता है।

15.2.3 धर्म की उत्पत्ति के कारण : (Origion of Religion)

दुर्खीम के अनुसार दुनिया के प्रत्येक समाज में सभी वस्तुओं को भागों में विभक्त किया जाता है। 1. पवित्र तथा 2. लौकिक। धर्म का संबंध पवित्र वस्तुओं से है, अर्थात धर्म पवित्र वस्तुओं

से संबंधित विश्वासों एवं आचरण की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वलों को एक नैतिक समुदाय में आबद्ध करता है।

दुर्खीम के अनुसार कोई भी वस्तु अपने अंतर्निहित गुणों या उपयोगितावादी मूल्येां के कारण पवित्र नहीं होती, बल्कि इसलिए पवित्र होती है कि समाज इनको विशेष आदर व सम्मान देता है तथा वस्तुओं के क्रम में इनकों ऊँचा स्थान प्रदान करता है। समाज के मिथक, दंतकथायें, रूढियां, विश्वास आदि वस्तुओं के सद्गुणों एवं शक्तियों को तथा लौकिक साथ इनके संबंधों को निरूपित करते हैं। इसके विपरीत, वस्तुएं जो पवित्र नहीं है, लौकिक हैं। अर्थात, वे वस्तुएं को समाज उपयोगितावादी लक्षणों या आर्थिक लाभ या हानि की दृष्टि से देखना है वे लौकिक हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू समाज में कागज या पूजा के फूल को पवित्र माना जाता है और यदि उससे व्यक्ति का पैर छू जाए तो उसको प्रणाम कर क्षमायाचना की जाती है। जबकि, यही समाज कागज या फूल को जब वह बाजार में क्रय विक्रय के लिये उपलब्ध होता है, लौकिक रूप में देखता है। स्पष्ट है, किसी भी वस्तु में अंतर्भूत ऐसे तत्व या गुण नहीं होते जो किसी वस्तु को पवित्र या लौकिक बनाते हों, बल्कि समाज द्वारा उस वस्तु को देखने का दृष्टिकोण ही उसको पवित्र या लौकिक की श्रेणी में डाल देता है। अर्थात्, किसी वस्तु की पवित्रता का स्रोत उस वस्तु में निहित गुण नहीं बल्कि समाज है। इस रूप में, धर्म का वास्तविक स्रोत या कारण भी समाज है।

अपने उपरोक्त विचारों की पुष्टि हेतु दुर्खीम ने जनजातीय समाज में प्रचलित 'टोटमवाद' को संदर्भित किया है। दुर्खीम के अनुसार आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति कई गोत्रों में विभक्त है। प्रत्येक गोत्र का एक टोटम होता है जो कोई पशु, पक्षी, पेड़ या निर्जीव

वस्तु भी हो सकता है। इस टोटम के साथ उस गोत्र के सदस्य अपनी उत्पत्ति को जोड़ते हैं, विशेष भावात्मक संबंधों का अनुभव करते हैं और उसको विशेष सम्मान या श्रृद्धा प्रदान करते हैं। किसी गोत्र के सदस्य अपने टोटम के वास्तविक (कबूतर, गिद्ध आदि) तथा प्रतीकात्मक (कबूतर, गिद्ध आदि का चित्र जिसे वे चुरिंगा कहते है।) दोनों रूपों को पवित्र मानते है, इनको हानि नहीं पहुंचाने तथा इनमें निहित अलौकिक शक्ति की मान्यताओं के कारण इनको अपना रक्षक मानते हैं।

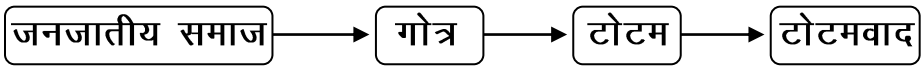

दुर्खीम का तर्क है कि इस टोटम में कोई अंर्तभूत गुण या अलौकिक शक्ति नहीं होती है। यदि ऐसा होता तो एक गोत्र के सदस्य दूसरे गोत्र के टोटम को नुकसान पहुंचाने या मारकर खाने का साहस नहीं करते, अर्थात् टोटम में निहित–शक्ति का स्रोत समाज है इसलिये टोटमवाद पूर्वज नहीं है, पशु–पक्षी पूजा भी नहीं है, यह तो समाज पूजा है। दुर्खीम के अनुसार यही टोटमवाद आधुनिक धर्म के उद्विकास क्रम में धर्म का प्रारंभिक स्वरूप है। इस तरह, दुर्खीम ने धर्म को पवित्र वस्तुओं से संबंध करके तथा पवित्रता का स्रोत समाज को बताकर यह स्थापित किया है कि धर्म सामूहिक चेतना अथवा समाज की अभिव्यक्ति है और धार्मिक पूजा की सच्ची वस्तु समाज की पूजा करना है।

धर्म के अपने सामाजिक सिद्धांत को प्रस्तुत करने से पहले दुर्खीम ने धर्म से सम्बन्धित अब तक के प्रचलित सिद्धांत का खण्डन किया है। इन सिद्धांतों में विशेष रूप से टायलर तथा स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित आत्मवाद के सिद्धांत तथा मैक्स मूलर और अन्यों द्वारा प्रतिपादित प्रकृतिवाद के सिद्धांत प्रमुख हैं।

दुर्खीम ने टोटम को एक प्रारम्भिक धर्म माना है तथा धर्म की उत्पत्ति टोटमवाद के आधार पर देने का प्रयत्न किया है। दुर्खीम के अनुसार धार्मिक विचार एवं क्रियाएँ समूह के प्रतीक है तथा विशिष्ट अवसरों सदस्यों का सामूहिक मिलन अनुभवों का है। दुर्खीम का धर्म की उत्पत्ति का सिद्धांत आस्ट्रेलिया की अरूण्टा नामक जनजाति के टोटम संबंधी क्रियाओं के अवलोकन तथा विश्लेषण पर आधारित है। उन्होंने अरूण्टा जनजाति का चयन इसलिए किया था क्योंकि यह जनजाति सबसे अधिक आदिम अवस्था में है। अरूण्टा जनजाति में प्रत्येक गोत्र का एक प्रतीक होता है जिसे टोटम कहा जाता है। यह टोटम कोई पक्षी, जानवर, पौधा अथवा वस्तु हो सकता तथा इसी टोटम को गोत्र के व्यक्ति अपनी उत्पत्ति का स्रोत मानते हैं तथा पवित्र समझते हैं। यदि गोत्र का कोई सदस्य टोटम संबंधी किसी नियम का उल्लंघन करता है तो गोत्र संगठन उस व्यक्ति को कठोर दण्ड देता है। अरूण्टा जनजाति का सम्पूर्ण संगठन टोटमवाद पर आधारित है। संक्षेप में, टोटम एक गोत्र के सदस्यों की उस पवित्र वस्तु के प्रति धारणा अथवा विश्वास को कहते हैं जोकि वे अपने टोटम के प्रति रखते है। त्योहारों तथा उत्सवों पर जब एक गोत्र के लोग एकत्रिक होते है तो उन्हें यह अहसास होता है कि समूह कि शक्ति उनकी अपनी व्यक्तिगत शक्ति से कहीं अधिक है। इससे एक सामूहिक उत्तेजना का निर्माण होता है, एक ऐसी शक्ति का निर्माण होता है जिसके सामने सबको झुकना पड़ता है।

अरूण्टा जनजाति के अपने अध्ययन के आधार पर दुर्खीम ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वास्तव में, समाज तथा ईश्वर एक ही है और समाज ईश्वर का ही प्रतीक है, इसलिए धर्म की उत्पत्ति भी समाज से ही हुई है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि धर्म एक

सामाजिक घटना हैं। धर्म का स्रोत समाज है तथा धार्मिक विश्वास केवल मात्र समाज की विशेषताओं के प्रतीक है। धर्म का सामाजिक कार्य समाज में सामाजिक एकता की उत्पत्ति करना तथा इसमें वृद्धि एवं स्थायित्व लाना है।

संक्षेप में, दुर्खीम के धर्म के सिद्धांत के बारे में यहा कहा जा सकता है कि धर्म की उत्पत्ति समाज में हुई है न कि आत्मा परमात्मा के विचारों अथवा प्रकृति के भय से। वास्तव में, ईश्वर और समाज एक ही है तथा धार्मिक क्रियाएँ अथवा मृत्यु आदि समूह के व्यक्तियों की मानसिक अवस्थाओं को उत्तेजित, व्यवस्थित तथा पुजीर्वित करते हैं। धम्र पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और आचरण की वह समग्र व्यवसाी है जो उन पर विश्वास करने वालों को क नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है। धर्म का अध्ययन धार्मिक कृत्यों द्वारा किया जा सकता है। धार्मिक कृत्यों का अवलोकन भी सम्भव है तथा इनका वस्तुनिष्ठ रूप से अध्ययन भी किया जा सकता है। धर्म का सामाजिक कार्य व्यक्तियों को परस्पर नजदीक लाना तथा उन्हें एक सूत्र में बाँधकर सामाजिक एकता लाना है। सोरोकिन ने दुर्खीम के धर्म के सिद्धांत का सार इस प्रकार दिया है–

दुर्खीम ने धर्म को पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और क्रियाओं की समन्वित व्यवस्था कहा हैं। ये पवित्र वस्तुएँ ऐसी है जो हमारे सामान्य जीवन को घेरे रखने वाली वस्तुओं से अधिक सम्माननीय तथा शक्ति से सम्बन्धित हैं तथा यही वस्तुएँ धर्म के तत्व कही जा सकती हैं। ये पवित्र वस्तुएँ प्रत्येक समाज में पायी जाती हैं तथा सभी सदस्य निसन्देह यह जानते हैं कि उनके प्रति केसा व्यवहार किया जाना है।

अतिप्राकृतिक वस्तुएँ (शुभ तथा अशुभ दोनों) सदैव ही पवित्र होती हैं तथा इसीलिए वे श्रद्धा योग्य होती है। विभिन्न धर्मों में असुर, प्रेतात्माएँ और संहारक देवता 'बुरे' होते हैं, किनतु किसी भी धर्म में अतिप्राकृतिक जगत कुल मिलाकर शुभ ही होता है। ऐसी मान्यता है कि यदि व्यक्ति सही ढंग से कार्य करे तो वह सदैव ही इन शक्तियों को अपने पक्ष में ला सकता है और अगर पक्ष में न भी ला सके तो कम से कम उन्हें तटस्थ तो कर ही सकता है। दूसरी ओर सही ढंग से इनके प्रति व्यवहार न करने पर ये अतिप्राकृतिक वस्तुएँ व्यक्ति के लिए खतरनाक हो सकती है।

अतिप्राकृतिक प्राणी और शक्तियाँ पवित्र है। अतः इनके प्रति व्यवहार करते समय विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है यद्यपि अतिप्राकृतिक प्राणी शक्तियाँ अदृश्य तथा अस्पृश्यमान है। ईसाई गिरजे की वेदी इसका उदाहरण है जिसके पास से गुजरते हुए कैथेलिक लोग घुटने टेककर शीश `नवाते हैं। गोचर पवित्र पदार्थों के प्रति श्रद्धा दर्शाने का यह तरीका बहुत अधिक प्रचलित है। कुछ पदार्थों को इसलिए पवित्र माना जाता है कि वे अदृश्य अतिप्राकृतिक प्राणियों के प्रतीक होते है। उदाहरण के लिए मूर्तियों देवी–देवताओं की प्रतीक होने के नाते पवित्र मानी जाती हैं। अन्य पदार्थों का अतिप्राकृतिक से अधिक घनिष्ठ संबंध होने के कारण पवित्र माना जाता हैं और उनके प्रति विशेष प्रकार का व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार, चर्च या मन्दिर की प्रत्येक व्सतु में विशिष्ट पवित्र पदार्थो की थोड़ी बहुत पावनता आ ही जाती है। कभी–कभी यह भी कहा जाता है पवित्र 'संक्रामक' होता है और सावधानीपूर्वक व्यवहार न करने पर ये पवित्र पदार्थ हानि भी पहुँचा सकते है। जॉनसन का कहना है कि पादरियों, जोकि साधारण व्यक्तियों की तुलना में पवित्र के अधिक निकट सम्पर्क

में रहते हैं, में भी थोड़ी बहुत पावनता होती है, यहाँ तक कि उनकी पोशाक भी साधारण नहीं होती क्योंकि उसमें भी स्पर्श के कारण संक्रामकता आ जाती है। नीच जैसे समाजों में जहाँ कि लोग अपने पूर्वजों की आत्मओं की पूजा करते है यह कहना अतिशयोक्ति नहीं हैं कि व्यक्ति ज्यों–ज्यों वृद्ध होता है और मृत्यु के समीप बढ़ता जात है, त्यों–त्यों उसकी पवित्रता बढ़ती जाती है।

इस प्रकार, दुर्खीम के अनुसार पवित्र सांसारिक नहीं है। यह अनुपयोगी तथा गैर–आनुभाविक है यह ज्ञान सम्मिलित नहीं करता अपितु शक्ति सम्मिलित करता है, यह प्रकृति, संस्कृति तथा मानवीय कल्याण की दृष्टि से अस्पष्ट है, यह बल प्रदान करने वाला तथा पोषण करने वाला है, या अत्यन्त श्रद्धा व नैतिकता की माँग करने वाला है।

जॉनसन के अनुसार कुछ विश्लेषक यह मानते हैं कि कुछ पदार्थ अपनी आन्तरिक विशेषताओं के कारण पवित्र होते है। उदाहरणार्थ, सूर्य की पूजा इस कारण की जाती है कि यह चमकीला और गर्म होता हैं और फसल उगने में सहायता करता है, गंगा इसलिए पवित्र है कि वह एक शक्तिमान नदी है, ''यूजी, सिनाई, ओलम्पस तथा अन्य पर्वत इसलिए पूजे जाते है कि वे बहुत ऊँचे है और उनसे ीाय लगता है। परन्तु इस सिद्धांत के गलत होने का प्रबल प्रमाण तो यह तथ्य है कि सभी पवित्र पदार्थ भय उत्पन्न नहीं करते है और न ही सभी ऊँचे पहाड़ और महान नदियाँ ही पवित्र होती हैं।

आमतौर पर यह सोच लिया जाता हैं कि प्राचीन या आदिवासी धर्म अपने अज्ञान के कारण 'भोंडे' और 'अंधविश्वासी' होते हैं। जॉनसन ने इसका खण्डन किया हैं तथा बताया है कि पवित्र सूअर या पवित्र सर्प को अज्ञान का कारण मानकर नहीं समझा जा सकता है।

भारतवर्ष के लोग आदिवासी नहीं है पर वहाँ सभी हिन्दुओं द्वारा गाय की पूजा की जाती है। किसी कारण अपवित्र हुए घर को पवित्र करने के लिए गोबर का प्रयोग किया जाता है और धर्मालु व्यक्ति गौमूत्र से अपने हाथ भिगोकर उसे अपने वस्त्रों पर छिटकते हैं। अतः सच्चाई यह है कि कोई भी वस्तु पवित्र मानी जा सकती है। पवित्रता पदार्थों का अन्तर्जात गुण नहीं है अपितु यह धार्मालु की अभिवृत्ति रखता है वह उसी कारण पवित्र हो जाती है।

गोचर पवित्र पदार्थो को समझने का सूत्र यह है कि वे अगोचर, अदृश्य अतिप्राकृतिक जगत के गोचर व दृश्य प्रतीक हैं। पवित्र पदार्थों के प्रति व्यवहार करते समय अतिप्राकृतिक जगत हमारी है। जॉनसन का कहना है कि परमात्मा और सत दूरस्थ और अदृश्य होते हैं और सम्भवतः स्वयं अकथनीय होते हैं, किन्तु एक मूर्ति को कोई भी देख सकता है ओर उसके आगे दीपक जला सकता है। इनका कहना है कि पवित्र पदार्थ अपने प्रतीकात्मक मूल्य के कारण पवित्र है, न कि अपने आंतरिक गुणों के कारणं गिरजाघर या मन्दिर उपादेय प्रयोजनों के लिए आने भवन नहीं हैं अपितु प्रतीक हैं। ये जूजा सहज गोचर है और विश्वास को मजबूत करते है। गोचर होन के कारण ये प्रतीक निष्ठावान लोगों को संगठित रखने में विश्वास से भी अधिक सहायक होते है। विश्वास के शब्दिक सूत्र अलग–अलग लोगों के लिए अलग–अलग अर्थ रख सकते है किन्तु दृश्य पावन पदार्थ प्रायः सभी के लिए समान से ही रहते हैं। साथ, विश्वासों को मानना इतना प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है जितना कि पवित्र पदार्थ के प्रति किया जाने वाला कार्य।

15.2.4 धर्म के प्रकाय : (Function of Religion)

दुर्खीम ने धर्म के कारणों को स्पष्ट करने के पश्चात् धर्म की प्रकार्यावादी व्याख्या प्रस्तुत की

है। दुर्खीम के अनुसार ''धर्म पवित्र वस्तुओं से सबंधित विश्वासों एवं अनुष्ठानों की व्यवस्था है।'' जब किसी समुदाय के लोग किसी अनुष्ठान को संपन्न करते हैं या उत्सवों को मनाते हैं (जैसे–भारत में होली या छठ का त्यौहार) तो उनमें सामूहिकता, भाईचारा एवं एकता की भावना विकसित होती है।

धार्मिक विश्वास या अनुष्ठान से जुड़े कुछ विशिष्ट नियम तथा आदर्श समाज को दिशा देते हैं तथा समाज की नैतिकता को निर्धारित करके उसे एक नैतिक समुदाय के रूप में आबद्ध करते हैं। चूँकि, धर्म सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है। इसलिए इसके पीछे निहित समूह की शक्ति सामाजिक नियंत्रक के रूप में कार्य करती है। धर्म द्वारा उत्पन्न विचार प्रक्रिया लोगों को उनकी परिस्थितियों के अनुरूप ढालने और जीने में मदद करती है साथ ही, धार्मिक आचरण करने वाले व्यक्ति में संसार का सामना करने की शक्ति दृढ़ होती है।

दुर्खीम ने धर्म के सामाजिक योगदान पर भी महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। प्रत्येक समाज में धर्म के अस्तित्व का पाया जाना और प्रारम्भ से लेकर आज तक बने रहना इस बात का प्रमाण है कि धर्म सामाजिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। धर्म से सम्बन्धित संस्कार और त्यौहार सामाजिक जीवन को न केवल सुगम बनाते हैं बल्कि उसे स्थायित्व भी प्रदान करते हैं। दुर्खीम ने धर्म तथा इससे सम्बन्धित संस्कार और त्योहार सामाजिक जीवन को न केवल सुगम बनाते हैं बल्कि उसे स्थायितव भी प्रदान करते हैं दुर्खीम ने धर्म तथा इससे सम्बन्धित विश्वासों, त्योहारों और संस्कारों के निम्नलिखित प्रमुख प्रकार्य बताए हैं–

1. अनुशासनात्मक एवं समाजीकरण संबंधी प्रकार्य :– संस्कार व्यक्ति पर आत्मानुशासन लादते हैं। संस्कारों को बार–बार करने पर वे व्यक्ति की आदत बन जाते हैं।

आदत मनुष्य का दूसरा स्वभाव है। यही कारण हे कि मनुष्य अपने धर्म के दाये के बाहर न सोच पाता है, न अनुभूति कर पाता है और न कोर्य कर पाता है। इस भाँति, सच्चे अनुशासन में बँध जाता है। इतना ही नहीं, वरन् जीवन के लिए उसकी आवश्यक तैयारी भी होती चली जाती है। इस प्रकार, व्यक्ति समाज के नैतिक आदर्शों के अनुरूप ढाल दिया जाता है। धार्मिक संस्कार क्योंकि औपचारिक के साथ–साथ कुछ सीमा तक निषेधात्मक तथा प्रावरोधी भी होते है, इसलिए ये संस्कार आवश्यक रूप से संन्यास अथवा तपस्या का रूप भी रखते हैं। इसी भाँति, धर्म सामाजिक जीवन में अनुशासन लाता है और व्यक्तियों को सामाजिक जीवन जीने की तैयारी करने में सहायता देता है। धार्मिक संस्कारों से जुड़े व्रत, अनेक निषेध, विशेष क्रियाएँ एवं कठोर नियम इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

2. संसक्तिकारी प्रकार्य :– धर्म के संस्कारों, समारोहों और त्योहारों के माध्यम से कोई समुदाय नियमकालिक स्वयं के ही अस्तित्व का पोषण करता है। ये वे साधन बन जाते है जिनके द्वारा लोग एक स्थान पर एकत्रित होते हैं, एक ही क्रिया में सहभागी हो जाते है और उस सामूहिक क्रिया के बीच में सामान्य संवेगों की अनुभूति करते है। इस प्रकार, एक धर्म को मानने वाले व्यक्ति एक–दूसरे के साथ जुड़ा महसूस करते है। यही नहीं, वे एक–दूसरे के साथ अपनत्व और भ्रातृत्व के बन्धन महसूस करते हैं। परिणामतः धर्म सामाजिक एकता को उत्पन्न करने में बहुमूल्य कारक बन जाता है। धर्म का यही कार्य संसक्तिकारी कार्य बन जाता है।

3. पुनर्जीवन प्रदान करने वाला प्रकार्य :– प्रत्येक समाज अपने स्थायित्व या निरन्तरता को तभी बनाए रख सकता है जब वह अपने सदस्यों को इतिहास में हुए महान

पुरूषों या घटनाओं की समय–समय पर याद दिलाता रहे। धार्मिक संस्कारों और त्योहारों की यह भूमिका है। इनके माध्यम से महापुरूषों के जीवन ओर उनकी घटनाओं का नियतकालिक रूप से पुनः अभिनय के द्वारा मानो सजीवन किया जाता है। अभिनय करने वाले और दर्शक सभी मानो उसी युग में पहुँच जाते हैं। वे वैसे ही संवेग उमड़ते महसूस करते हैं जैसे मौलिक रूप से घटित हुए होंगे। उदाहरण के लिए, आज भी हिन्दू समाज में दशहरे पर होने वाली रामलीला, प्राचीन घटनाओं को प्रस्तुत करती है। टी0वी0 पर दिखाया गया सीरियल 'रामायण' कुछ समय के लिए हमें राम के युग में ही ले जाता है। हम उसे पात्रों के साथ इतना तदात्म्य महसूस करते हैं कि उनकी पीड़ाओं को अपने पर झेलते हैं। इस भाँति, धर्म समाज के वर्तमान को उसके भूतकाल से जोड़ देता है। इससे एक निरन्तरता भी बनी रहती है और समाज अपनी मर्यादाओं और परम्पराओं को स्थायी बनाए रखता हैं यह स्थायित्व भी अजायबघर में रखी जड़ वस्तुओं की भाँति नहीं वरन् बेजबान जीवन सतय की भाँति सजग और अटल हैं दुर्खीम के सटीक शब्दों में ये संस्कार ''कुछ निश्चित विचारों एवं संवेगों को जगाने के लिए, वर्तमान को भूत से जोड़ने के लिए, अथवा व्यक्ति को समूह से जोड़ने के लिए कार्य करते है।''

4. उल्लासोत्पादक प्रकार्य :– धर्म का एक सबसे बड़ा काम यह भी है कि वह समाज के जीवन में उल्लास भरने का कार्य करता है। वाइन के अनुसार, ''धार्मिक क्रियाएँ व्यक्तियों के मन में कल्याण की अनुभूति जगाती है। सभी सामाजिक समूहों में विजयों–पराजयों, सुखों–दुखों के उतार–चढ़ाव होते हैं।'' इनके बीच धार्मिक त्योहार अथवा आयोजन लोगों के मन में उल्लास पेदा करते हैं और पुनः सामूहिक जीवन सुगमतापूर्वक

सामाजिक आदर्शों के अनुरूप चलने लगता है। उदाहरण के लिए, किसी के यहाँ मृत्यु होने पर अनितम संस्कार के सम्पादन हेतु लोग एकत्र होते हैं। इस अवसर पर सभी लोग संतप्त महसूस करते हैं और शोक की अभिव्यक्ति करते हैं। यह शोक में सामूहिक भागेदारी और अभिव्यक्ति पीड़ित व्यक्ति या व्यक्तियों का ेन केवल सान्त्वना प्रदान करता है बल्कि उन्हें इस दारूण दुःख को सहने में सक्षम भी बनाता है। इतना ही नहीं वरन् पीड़ित व्यक्ति महसूस करते हैं कि हम इन मुश्किलों के क्षणों में अकेले नहीं हैं। इतना ही नहीं वरन् पीड़ित व्यक्ति महसूस करते हैं कि हम इन मुश्किलों के क्षणों में अकेले नहीं हैं। यह अनुभूति उन्हें पुनः सामाजिक जीवन की गतिविधियों में लग जाने की प्रेरणा देती है। वास्तव में, धर्म का विशेष अवसरों पर उल्लास और दिलासा देने का कार्य, वह भी सामूहिक क्रिया के रूप में, सामाजिक दृष्टि से बहुत ही मूल्यवान है।

5. सामाजिक नियन्त्रण का प्रकार्य :– दुर्खीम ने बताया है कि समाज में सामाजिक नियन्त्रण के दो सबसे अधिक शक्तिशाली साधन होते हैं–एक, कानून तथा दूसरा, धर्म। धर्म केवल अनुशासन ही पैदा नहीं करता वरन् एक संगठित मठ होने के नाते वह अपने सदस्यों पर बाह्य नियन्त्रण भी लगाता है। यूरोप में तो चर्च के पादरी सामाजिक अनाचार जैसे परस्त्रीगमन अथवा परपुरूषागमन, तलाक आदि के मामलों पर बकायदा न्यायालय की भाँति आरोप सुनते थे और विवाद पर निर्णय देकर दण्ड सुनाते थे। आदिवासी समाजों में भी पुराहित इस सामाजिक नियन्त्रण के कार्य को करते है। 3

6. सौन्दर्य अनुभूति वाला प्रकार्य :– धर्म के संस्कारों के साथ नृत्य–कला, चित्रकला, संगीत कला, मूर्ति कला एवं स्थापत्य कला सदा से जुड़ी रही है। सच तो यह है

कि बहुत समय तक धर्म ही ने इन्हें जिन्दा रखा और प्रोत्साहन दियां यही कारण है कि सौन्र्यानुभूति की अभिव्यक्ति में प्राचीनकाल का धार्मिक स्वरूप ही मिलता है। 'पवत्रि' का तत्त्व जुड़ जाने से वस्तुओं एवं व्यवहारों में स्वभावतः शुचिता, सौन्दर्य और श्रृंगार की भावनाएँ पेदा होती है। दुर्खीम के ही शब्दों में, ''यह एक सुविर्दित तथ्य है कि खेलों ओर कला के प्रमुख स्वरूपों ने धर्म से ही जन्म लिया है और यह कि वे दीर्घकाल तक धार्मिक स्वरूप बनाए रहे हैं।''

7. मनोरंजनात्मक प्रकार्य :– दुर्खीम ने धर्म के एक और सामाजिक प्रकार्य की ओर भी दशारा किया है। वह है मनोरंज प्रदान करना। धार्मिक क्रियाओं में सामूहिक रूप से कुछ विशेष मुद्राएँ, अंग संचालन व अभिनय तथा लीलाएँ समाज के सदस्यों के लिए मनोरंजन का कार्य भी करती हैं। ऐसी क्रियाओं से उत्तेजनापूर्ण वातावरण बनता है और ऐसे उत्तेजनापूर्ण भावावेश के क्षण ही इन सामूहिक धार्मिक क्रियाओं को अन्य लौकिक अथवा सांसारिक क्रियाओं से भिन्न बना देते है, उनमें अलौकिकता का तत्व भर देती है तथा उन्हें स्मरणीय बना देती है। ये क्रियाएँ है। उसकी उबाऊ समरसत्ता हम में नही उमंग भर देती है। परन्तु दुर्खीम ने हमें यह बताया है कि बहुत से विद्वान धार्मिक क्रिया के साथ जुड़े प्रत्येक शारीरिक मुद्रा या अंग संचालन में अर्थ ढूँढने की कोशिश करते है। वास्तविकता ये है कि बहुत सी ऐसी प्रक्रियाएँ किसी लक्ष्य या उद्देश्य के लिए नहीं होती वरन् भक्तों की क्रिया करने की या उछल कूद करने की ही पूर्ति करती है।

8. चिन्तन संबंधी प्रकार्य :– दुर्खीम के अनुसार धर्म निश्चित रूप से ब्रह्माण्ड विश्व, प्राणी, जन्म और मृत्यु आदि के संबंध में एक व्यवस्थित चिन्तन भी है। इतना ही नहीं, वह

चिन्तन की प्रणालीया पद्धति भी है। इसलिए दुर्खीम धर्म और विज्ञान के बीच संबंध पर प्रकाश डालते हुए धर्म के चिन्तन संबंधी प्रकार्य की ओर इशारा करते हैं। धर्म अपने सदस्यों की चीजों की प्रकृति के संबंध में और मानव के बारे में एक निश्चित अर्थ प्रदान करता है। विशेषतः उन सभी घटनाओं को तो धर्म ही स्पष्ट करता है यह बात दूसरी है कि धर्म ही स्पष्ट करता है जिन पर आधुनिक विज्ञान भी सन्तोषप्रद प्रकाश नहीं डाल पता किया जाने वाला स्पष्टीकरण मूर्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध न किया जा सके। परन्तु धर्म की स्वाभाविक जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने में सफल हो जाता है और उसमें विश्वास करने वाले व्यक्तियों के लिए वही स्पष्टीकरण सत्य होता है। विज्ञान, धर्म द्वारा दिये गये वास्तविकता के स्पष्टीकरण को झुठला भी तो नहीं सकता। इसलिए धर्म के ये स्पष्टीकरण वास्तविकता के रूप में अपने अनुयायियों के बीच विद्यमान रहते हैं।

इस भाँति, दुर्खीम ने धर्म को एक सामाजिक तथ्य के रूप में देखा है और उसके वैज्ञानिक विश्लेषण को समाजशाास्त्रीय दृष्टि से प्रस्तुत किया है। दुर्खीम के लिए धर्म सामाजिक जीवन में सकारात्मक भूमिका निभाता है। वह समाज में एकता, निरन्तरता और स्थिरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

15.3 धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप : (Elementary Forms of Religious Life)

दुर्खीम ने धर्म की व्याख्या में दो अवधारणाओं को रखा है–पवित्र और पार्थिव। पवित्र का अर्थ केवल भगवान या आत्मा से नहीं है, बल्कि पत्थर, लकड़ी, जानवर, टुकड़े, आभूषण आदि भी पवित्र वस्तुएं हो सकती हैं। जब हम किसी वस्तु को पवित्र कहते हैं तो इसके पवित्र होने के कारण निश्चित रूप से वस्तु में अन्तर्भूत लक्षण नहीं होते। उदारणस्वरूप 'गाय का

दूध' लेते हैं। इसमें ऐसा कोई विशेष तत्व नहीं है जो उसे पवित्र बनाए। यह तो व्यक्तियों की इन वस्तुओं के प्रति सामान्य दृष्टिकोण नहीं रखते। वास्तव में इन वस्तुओं के प्रति लोगों की अभिव्यक्तियाँ विशेष अभिव्यक्तियाँ होती हैं।

इसी प्रकार जो वस्तुएँ पवित्र नहीं हैं, वे पार्थिव हैं। पवित्र न होने के बावजूद पार्थिव वस्तुओं की उपयोगिता अधिक है। कोई वस्तु पवित्र या पार्थिव तब बनती है जब हम उसे एक विशेष दृष्टिकोण से देखते हैं। पार्थिव की परिभाषा में दुर्खीम कहते हैं–''पार्थिव वस्तुएँ प्रमुख रूप से आर्थिक और उपयोगी है। ये वस्तुएँ पवित्र वस्तुओं की प्रतिबन्ध होती है।'' इस प्रकार हम पाते हैं कि अपने आप में कोई भी वस्तु पवित्र या अपवित्र नहीं है। समाज जिसे पवित्र कहता है, वह पवित्र है, समाज जिसे अपवित्र कहता है वह अपवित्र है। दुर्खीम के अनुसार, पवित्र और पार्थिव की अवधारणा एक समाज से दूसरे समाज में बदलती रहती है। यह सापेक्षिक है।

15.4 धर्म सम्बन्धी अन्य सिद्धान्त : (Other Religion Related Theories)

आत्मवाद (Animism) तथा प्रकृतिवाद (Naturism) टायलर ने धर्म की उत्पत्ति समझाने के लिए 'आत्मवाद' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। इसके अनुसार, ''आत्मा की धारणा ही आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के दर्शन का आधार है।'', ''आत्मा की धारणा रोज के जीवन से सम्बन्धित दो प्रकार के अनुभव के कारण विशेष रूप से उत्पन्न हुई। वे अनुभव (1) मृत्यृ और (2) स्वप्न थे। प्रथम अनुभव के आधार पर शरीर–आत्मा और दूसरे के आधार पर स्वतंत्र आत्मा की धारणा उत्पन्न हुई। आत्माएँ अमर तथा मनुष्य के नियन्त्रण के

बाहर हैं–इस विश्वास के कारण ही पितरों की पूजा आरम्भ हुई जो कि आगे चलकर धर्म के रूप में विकसित हुई।

'प्रकृतिवाद' के प्रतिपादक मैक्समूलर का यह विचार है कि प्रकृति के विभिन्न रूपों–तूफान, आँधी, बिजली का कड़कना, भूकम्प, सूर्य, चन्द्रमा आदि को देखकर आदिम मानव के मन में भय, आश्चर्य, आतंक आदि का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था ओर इन मानसिक भावनाओं के कारण वह प्रकृति से डरने लगा और इसलिए प्रकृति के प्रति उसके मन में श्रद्धा, शक्ति आदि उत्पन्न हुएद्ध जिसके आधार पर, आगे चलकर धर्म की उत्पत्ति हुई।

दुर्खीम के अनुसार, दोनों की सिद्धान्त आनुभाविकता से परे हैं। दुर्खीम कहते हैं कि टायलर ने आदिम मनुष्यों को अत्याधिक तर्कयुक्त, दार्शनिक के रूप में मान लिया है, जोकि सर्वथा गलत है। दूसरी बात, धर्म इतनी सरल घटना नहीं है कि इसकी उत्पत्ति, परछाई, स्वप्न प्रतिध्वनि आदि कुछ सीमित या वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर सम्भव है।

प्रकृतिवाद का खण्डन करते हुए दुर्खीम कहते हैं कि मैक्समूलर कदाचित् इस तथ्य को भूल जाते हैं कि धर्म एक सामाजिक संस्था, तथ्य या घटना है और सामाजिक घटना या संस्था की उत्पत्ति में कोई भी सामाजिक कारक न हो, यह असम्भव है। अतः धर्म के सामाजिक आधार की अवहेलना मैक्समूलर के सिद्धान्त की एक बहुत बड़ी दुर्बलता है। आदिम मनुष्यों के लिए प्राकृतिक और अलौकिक घटनाओं के सम्बन्ध में उचित ज्ञान है और नही वे अलौकिक घटनाओं को ठीक से समझते हैं। प्रत्येक धर्म का कोई तो वास्तविक आधार होता है और वह आधार, दुर्खीम के अनुसार, स्वयं 'समाज' ही है। ऐसे गोत्र जो अपने पूर्वजों के प्रतीक रूप पशु, पक्षी को अपने 'टोटम' की श्रेणी देखते हैं, वे अपने पूर्वजों के सम्मान के लिए इनका

मांस नहीं खाते ओर न ही इन्हें कोई हांनि नही पहुँचाते हैं, बल्कि धार्मिक संस्कार अवश्य करते हैं। वास्तव में टोटम किसी भी समूह के बहुत ही सीमित अर्थ को बताता है और इसलिए 'टोटम' गोत्र का एक अंग है, सम्पूर्ण गोत्र नहीं।

प्रत्येक टोटम का एक प्रतीक (Emblem) होता है। सभी गोत्रों में टोटम कई प्रतीकों में देखने को मिलता है, जैसे–लकड़ी के टुकड़े पर, पत्थर पर, टोटम की एक आकृति बना दी जाती है। उन सामान्य वस्तुओं को, जिन्हें टोटम के रूप में स्वीकार कर प्रतीक रूप में आकृति बना दी जाती है, ये आदिवासी चुरिंग (Churinga) कहते हैं। ये चुरिंग एक झण्डे के समान ही सम्पूर्ण आदिम समाज की प्रतिष्ठा का प्रतीक होते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब कोई गोत्र 'सर्प' को अपना टोटम मानता है तो एक तरफ जीवित सर्प को सम्मान देता ही है, वहीं दूसरी तरफ, सर्प की एक छवि दीवार, पत्थर या लकड़ी पर बना देता है। सर्प का यह दूसरा रूप प्रतीकात्मक होता है। टोटम के ये दोनों रूप सम्मान के पात्र होते हैं। सर्प का यही रूप उस गोत्र के लिए 'चुनिंग' होता है।

'टोटमवाद' की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते समय दुर्खीम टोटम को एक शक्ति–स्रोत के रूप में देखते हैं। अब प्रश्न यह है कि टोटम में यह शक्ति कहाँ से आती है? टोटम तो मात्र कोई पशु, पक्षी या पौधा है। दुर्खीम टोटम में शक्ति कुछ इस प्रकार मानते हैं कि यह सामूहिक विश्वासों और कर्मकाण्डों का प्रतीक है। टोटम की पूजा के दौरान व्यक्ति ऐसा अनुभव करता है कि समाज की सामूहिक शक्ति का संचार उसके शरीर में हो गया हो। इस प्रकार व्यक्ति टोटम के रूप में या माध्यम से समाज की पूजा करता है। चूँकि इतने बड़े समाज की पूजा वह एक साथ नहीं कर सकता, इसीलिए प्रतीक (टोटम) के रूप में वह समाज

की पूजा करता है।

दुर्खीम सामूहिक पूजा (Collective Worship) की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहते हैं कि इससे सामाजिक सुदृढ़ता बढ़ती है, लोग एकजुट होते हैं तो उनमें एकता की भावना आती है। इसीलिए दुर्खीम जब चर्च की व्याख्या करते हैं तो उनका कहना है कि चर्च में रविवार को धर्मावलम्बियों का प्रार्थना के लिए एकत्रित होना उन्हें एकता के सूत्र में बांधना है। इसी कारण धर्म एक नैतिक समुदाय के निर्माण में अपना निश्चित योगदान करता है।

धर्म को परिभाषित करते हुए दुर्खीम कहते हैं कि ''धर्म विश्वास और धार्मिक समस्याओं का एकीकृत रूप है जिसका सम्बन्ध पवित्र वस्तुओं से होता हैं धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूपों को दुर्खीम ने विशेष अर्थ में लिया है। वह इसे प्रारम्भिक इसलिए कहते हैं कि इसकी व्यापकता को उन्होंने आदिम समाजों यानि सरल समूहों में देखा है। दुर्खीम धर्म के इस अध्ययन में धर्म की सामाजिक अभिधारणा को रखतें हैं। संक्षेप में, इस रचना में दुर्खीम आस्ट्रेलिया के आदिम समाजों की आधार–सामग्री के संदर्भ में यह स्थापित करते हैं कि धर्म की उत्पत्ति समाज से है। उनके इस प्रयास को हम उनकी ही अवधारणा टोटमवादी (Totemism) से समझते हैं।

आस्ट्रेलिया के आदिम समाज के अध्ययन में दुर्खीम टोटमवाद का प्रतिपादन करते हैं। दुर्खीम मानते हैं कि धर्म के उद्विकास में टोटमवाद प्राथमिक है और इसी कारण यह सबसे अधिक सरल है। टोटमवाद को दुर्खीम दुनिया का प्रथम और मौलिक धर्म मानते हैं। दुर्खीम कहते हैं कि आस्ट्रेलिया में ही नहीं वरन् दुनिया भर के धर्मों में टोटमवाद का कोई न कोई रूप अवश्य देखने को मिलता है। इसीलिए धर्म के अध्ययन में कई धर्मों की व्याख्या करने के

बजाय एक धर्म का अध्ययन पर्याप्त है। टोटमवाद की व्याख्या के लिए दुर्खीम गोत्र और टोटे दोनों को एक साथ लेकर चलते हैं। गोत्र एक संवंशी समूह है। यह सामान्यतः सजातीय बन्धुओं (Kins) का समरक्तीय समूह होता है। यह एकपक्षीय होता है और इसके सदस्य एक ही पूर्वज की सन्तान होते हैं। यह पूर्वज मानव, पशु, पक्षी, पेड़, पौंधा कुछ भी हो सकते हैं। पूर्वज के इस प्रतीक रूप की मान्यता ही 'टोटेम' होता है। आस्ट्रेलिया का आदिम समाज कई गोत्रों में विभाजित है। प्रत्येक गोत्र का एक अपना टोटेम होता है। इस प्रकार प्रत्येक गोत्र एक स्वायत्त (Autonomous) समूह है। एक गोत्र दूसरे गोत्र के टोटेम को नहीं मानता लेकिन इसका सम्मान अवश्य करता है। इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं।

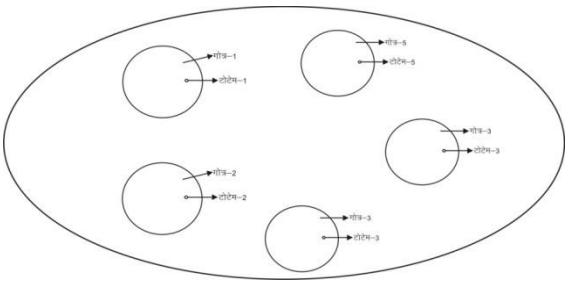

आस्ट्रेलिया का आदिम समाज

15.5 धर्म का सामाजिक सिद्धान्त :

(Social Theory of Religion)

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक 'द एलीमेन्ट्री फार्म्स ऑफ रिलीजिइश लाइफ' में धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति के कारण, प्रभाव आदि के विषय में अत्यधिक विस्तृत तथा गहन व्याख्या प्रस्तुत की है। धर्म सिद्धांत के द्वारा दुर्खीम ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि धर्म सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक तथ्य या सामाजिक घटना है और वह इस अर्थ में कि नैतिक रूप से

सामूहिक चेतना का प्रतीक ही धर्म है। इस सम्बन्ध में दुर्खीम का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि ''समाज की वास्तविक देवता है।''

दुर्खीम ने टायलर के आत्मवाद, मैक्समूलर के प्रकृतिवाद और फ्रेजर के धर्म की उत्पत्ति की आलोचना की। प्रत्येक धर्म का आधार दुर्खीम ने समाज को माना और कहा कि हर वर्ग का समाज एक महिमान्वित समाज है। दुर्खीम ने सामाजिक जीवन की समस्त घटनाओं को दो प्रमुख भागों में बाँटा हैः–

1. साधारण (Profane) या अपवित्र।
2. पवित्र (Sacred)

दुर्खीम के अनुसार समस्त धर्मो का सम्बन्ध पवित्रता से होता है लेकिन सभी पवित्र वस्तुओं का धर्म से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। पवित्र वस्तुऐं समाज की सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि होती है। इसी कारण व्यक्ति इनके अधीन और इनसे प्रभावित रहता है।

समाज के लोग जिसे पवित्र समझते हैं उन्हें अपवित्र या साधारण से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक विश्वासों, आचरणों, संस्कारों और उत्सवों को जन्म देते है। धर्म इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। दुर्खीम का धर्म सम्बन्धी सिद्धांत आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति के अध्ययन पर आधारित है। दुर्खीम के अनुसार टोटमवाद के कारण ही पवित्र और साधारण में भेद करने की भावना उत्पन्न हुई। इसलिए टोटमवाद को ही समस्त धर्मो का प्राथमिक स्तर माना जाता है।

टोटम सामुदायिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है और टोटम की उत्पत्ति उसी सामुदायिक रूप में समाज के प्रति अपने श्रद्धा भाव के कारण हुई। यही श्रद्धा भाव पवित्रता को जन्म देता

है। टोटम समूह के सभी सदस्य अपने को एक दूसरे का भाई बहन मानते हैं। अतः आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। दुर्खीम के मत में धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।

15.6 सारांश : (Summary)

यह इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके है कि दुर्खीम ने भी धर्म को समाज में सभी समाजशास्त्री की तरह ही माना है। दुर्खीम ने The Elementry Forms of Religious Life (1912) में में धर्म की प्रारम्भिक अवस्था के बारे मे विस्तार से चर्चा की है और बताया है कि धर्म की प्रारम्भिक अवस्था टोटम भी इन्होंने आस्ट्रेलिया की अरूण्ता जनजाति को इसके अध्ययन के लिए चुना है। धर्म के अपने सामाजिक सिद्धांत को प्रस्तुत करने से पहले दुर्खीम ने धर्म से सम्बन्धित अब तक मे प्रचलित सिद्धांतो का खण्डन किया है। दुर्खीम ने कहा है कि धर्म की उत्पत्ति समाज में हुई है न कि समाज से अलग है। वास्तव में ईश्वर एवं समाज एक है।

15.7 शब्दावली : (Glossary)

(1) पवित्र :– दुर्खीम के अनुसार वस्तुऐ इसलिए पवित्र है कि जिन वस्तुओं को समाज विशेष आदर से व सम्मान देता है तथा वस्तुओ के क्रम मे इतना उच्च स्थान प्रदान करता है। समाज के मिथक देतकवादे दृढ़िया विश्वास आदि।

(2) अपवित्र :– इनके विपरीत वे वस्तुऐ जो पवित्र नही है, लौकिक है। अर्थात वे वस्तुए जिनको समाज उपयोगीतावादी लक्षणो या आर्थिक लाभ या हानि की दृष्टि से देखता है।

15.8 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर : (Answer Questions of Practice)

29. The Elementary Forms of Riligious Life पुस्तक है?

(क) कार्ल मार्क्स (ख) स्पेसर
(ग) दुर्खीम (घ) पारसन्स

उत्तर – ग

30. पवित्र वस्तुऐ है?

(क) जिनको समाज आदर देता है।
(ख) जिनको आदर नही देता है।
(ग) दोनो
(घ) दोनो मे से कोई नही।

उत्तर – क

31. दुर्खीम के अनुसार धर्म की प्रारम्भिक अवस्था है?

(क) टोटम (ख) प्रतीक
(ग) दोनो (घ) इनमे से कोई नही

उत्तर – क

32. दुर्खीम ने किस जनजाति पर अध्ययन किया–

(क) सहरसिया (ख) अरूण्टा
(ग) जौनासार (घ) मील

उत्तर – ख

अरूण्टा जनजाति का सम्बन्ध किस देश से है?

(क) इंग्लैण्ड (ख) जर्मनी
(ग) आस्ट्रेलिया (घ) भारत

उत्तर – ग

33. दुर्खीम से पहले आत्मवाद किसका सिद्धांत है?

(क) टायलर (ख) मैक्समुलर
(ग) स्पेसर (घ) दुर्खीम

उत्तर – क

34. धर्म का प्रकृतिवाद का सिद्धांत है।

(क) मैक्समूलर (ख) टायलर

(ग) पासन्स (घ) मैक्स बेबर

उत्तर – क

35. दुर्खीम ने धार्मिक वस्तुओ में कितने भागों में बाँटा है?

(क) एक (ख) दो
(ग) तीन (घ) चार

उत्तर – ख

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. **ईमाइल दुर्खीम (1817)** : एलीमेन्ट्री ऑफ रिलिजियस लाइफ''
2. **लेविस ए0 कोजर (1956)** : मास्टर ऑफ सोशियोलोजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. **ओरो रेमो (1967)** : मेन करेंटस इन सोशियोलोजिकल थॉट्स वाल्यूम–2, पेंगुन बुक्स, लन्दन।

15.10 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. **हरिकृष्ण रावत (2011)** : सामाजिक चिंतक एवं सिद्धांतकार, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

15.11 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ दुर्खीम का धर्म का प्रारम्भिक स्तर क्या है?
- ✓ दुख्रीम ने आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति को किस तरह से समझाया है।
- ✓ दुर्खीम के अनुसार पवित्र एवं अपवित्र वस्तुऐं क्या है?
- ✓ दुर्खीम के अनुसार धर्म के कारणों को समझ पाओंगे?
- ✓ दुर्खीम ने धर्म के प्रकार्य को किस तरह से समझाया है।